सामाजिक मानवशास्त्र

(SOCIAL ANTHROPOLOGY)

भारतीय विश्वविद्यालयों के आनर्स एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमानुसार

लेखक
डॉ आर. ए. पी. सिंह

रिसर्च पब्लिकेशन्स
नयी दिल्ली • जयपुर

Published by Research Publications, Tripolia Bazar, Jaipur-2
Printed at Hema Printers, Jaipur.

प्रस्तावना

सामाजिक रचना, सस्कृति, प्रथाओ और प्रतीको को समझने तथा मानव समाज और उसकी समस्याओ के प्रति बढती हुई जिज्ञासाओ को शान्त करने की दृष्टि से **सामाजिक मानव-शास्त्र** का महत्त्व निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है। आदिम समाजो के रहस्यो को खोलने, उनके जीवन के विभिन्न पक्षो को उजागर करने और इस तरह सभ्य' समाज को अपने 'उपेक्षित' भाइयो के सम्पर्क म लाने की दिशा मे सामाजिक मानव शास्त्रियो ने अथक् परिश्रम किया है। यदि प्रशासन उनके निष्कर्षों और सुझावो पर ईमानदारी से अमल करे तो आदिम जातियो के सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाकर सामाजिक समानता की दिशा मे अधिक तीव्र गति से आगे बढा जा सकता है। पर यह सदैव ध्यान रखना होगा कि आदिम जातियो को आगे बढाने' की धुन मे हम कही उनकी 'मौलिकता' पर प्रहार न कर बैठें।

प्रस्तुत पुस्तक आदिम समाजो के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक सगठन पर सारगर्भित प्रभाव डालती है। निम्नलिखित विशेषताओं से सम्पन्न होने के कारण पुस्तक पाठको के लिए निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होगी—

1 पुस्तक पूरी तरह पाठ्यक्रमानुसार है और प्रत्येक टॉपिक का स्पष्ट विवेचन किया गया है।

2 विषय-सामग्री को प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिए आधिकारिक विद्वानो के अभिमत प्रस्तुत किए गए हैं, सामाजिक मानव-शास्त्र के सर्वमान्य तथ्यों की पृष्ठभूमि मे अध्ययन-सामग्री को सजोया गया है।

3 विश्व की विभिन्न आदिम जातियो के भरपूर उदाहरण दिए गए हैं। साथ ही पुस्तक भारतीय उदाहरणों का भण्डार है ताकि विद्यार्थियों को विषय के समझने मे कठिनाई न हो।

4 सामाजिक मानव-शास्त्र के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पहलुओं को स्पष्ट किया गया है। प्रारूपों (Models) का अध्ययन अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है क्योंकि इस विषय पर हिन्दी पुस्तकों में सामग्री का प्रायः अभाव है।

5 भाषा सरल और प्रवाहमय है। शब्दों की दुरूहता को यथासम्भव टालने का प्रयत्न किया गया है। कोई भ्रम न रहे, अतः आवश्यकतानुसार हिन्दी शब्दों का अंग्रेजी रूपान्तर भी दिया गया है।

6 नवीनतम शोधों को ध्यान में रखते हुए पुस्तक को 'अप टू-डेट' बनाने का प्रयत्न किया गया है।

7 प्रामाणिक ग्रन्थों का उल्लेख पाद-टिप्पणियों (Foot-notes) के रूप में दिया गया है ताकि विद्यार्थियों को यह सुविधा हो कि वे विषय के विस्तृत विवेचन के लिए उपयुक्त ग्रन्थों का चयन कर सकें। पुस्तक के प्रारम्भ में, इसीलिए सन्दर्भ-ग्रन्थों की विस्तृत सूची भी अलग से दी गयी है।

अन्त में, पुस्तक की त्रुटियां मेरी अपनी हैं, रचनात्मक सुझाव सहर्ष आमन्त्रित हैं। जिन विद्वानों की अमूल्य कृतियों से पुस्तक की रचना सम्भव हुई है उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। उनका उल्लेख पाद-टिप्पणियाँ देकर या अन्य रूप में किया गया है, पर यदि भूल से किन्हीं विद्वानों का नामोल्लेख न हो पाया हो तो इस अनजानी त्रुटि के लिए लेखक क्षमा-प्रार्थी है।

लेखक

अनुक्रमणिका

सन्दर्भ ग्रन्थ
(Reference Books)

1	*Benedict, R*	Patterns of Culture
2	*Bidney, D*	Theoretical Anthropology
3	*Boas, F*	Anthropology and Modern Life
4	*Beals and Hoijer*	An Introduction to Anthropology
5	*Bose, N K*	Cultural Anthropology
6	*Bohanan*	Social Anthropology
7	*Banton*	Relevance of Models in Social Anthropology
8	*Barkataki S*	Tribes of Assam
9	*Evans-Pritchard*	Social Anthropology.
10	*Elwin V.*	The Aboriginals
11	*Firth, R*	Human Types.
12	*Firth R.*	Elements of Social Organization.
13	*Ford Daryll*	Habitate, Economy and Society.
14	*Golenweiser*	Anthropology
15	*Ghurye, G S*	The Aborigines—So called and Their Future.
16	*Gluckman*	Conflicts and Politics in Africa.
17	*Gluckman*	Politics and Law and Ritual in Tribal Society
18	*Herskovits*	Man and His Works
19	*Herskovits*	Cultural Anthropology
20	*Hoebel, E A*	Man in the Primitive World
21	*Kroeber*	Anthropology
22	*Kluckhohn, C*	Mirror for Man
23	*Lowie, R*	The History of Ethnological Theory
24	*Linton, R*	The Study of Man
25	*Lowie, R*	Primitive Society.
26	*Lowie, R*	Social Organization
27	*Leach E. R*	Political System of Highland Burma
28	*Levi Strauss*	Structural Anthropology
29	*Malinowski*	A Scientific Theory of Culture
30	*Mazumdar, D. N*	Races and Cultures of India

31	*Mazumdar and Madan*	Social Anthropology.
32	*Morgan, L H*	Ancient Society
33	*Murdock, G P*	Social Structure
34	*Maine, H.*	Ancient Law
35	*Malinowski R*	Crime and Customary Savage Society
36	*Mazumdar, D N*	The Matrix of Indian Culture
37	*Mair Lucy*	An Introduction to Social Anthropology
38	*Nadel S F*	Anthropology and Modern Life
39	*Radcliffe Brown*	Structure and Function in Primitive Society
40	*Radcliffe Brown*	Methods in Social Anthropology
41	*Thurnwald R*	Economics in Primitive Communities
42	*Westermarck, E A*	A Short History of Marriage
43	इवान्स प्रिचार्ड	सामाजिक मानव विज्ञान
44	हर्स कोवित्स	सांस्कृतिक मानव शास्त्र
45	रिवर्स	सामाजिक सगठन
46	दुबे	मानव और सस्कृति
47	उप्रेती	भारतीय जनजातियाँ



1

सामाजिक मानवशास्त्र : अध्ययन पद्धतियाँ (विधियाँ) एवं प्रारूप

(Social Anthropology : Methods and Models of Study)

(अ) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक, (ब) विकासवादी, (स) तुलनात्मक, (द) प्रस्थिति भूमिका

[(A) Structural-Functional, (B) Evolutionary, (C) Comparative, (D) Status Role]

ईश्वर की अनुपम कृति है 'मानव'। मानव की उत्पत्ति एवं विकास का इतिहास अति प्राचीन है। वह उद्विकासीय प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों से गुजरता हुआ अपनी वर्तमान अवस्था तक पहुँचा है। संस्कृति (Culture) की अनुपम विशेषता के कारण ही सम्भवतः वह पशुओं से अलग हुआ एवं सम्पूर्ण जग एवं जीवन को जानने की चेष्टा-प्रचेष्टा करता रहा। उसके आश्चर्य एवं कौतूहल का प्रारम्भिक विषय प्रकृति एवं प्राकृतिक प्रघटनाएँ ही थीं। शनैः-शनैः प्रकृति के रहस्यों से परिचित होने के उपरान्त वह उनके अध्ययन अनुसन्धान में रुचि लेने लगा। इसी अभिलाषा के परिणामस्वरूप प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) का जन्म हुआ। जानने की निरन्तर उत्कट अभिलाषा, चेष्टा एवं प्रचेष्टा ने 'मानव' को 'मानव' का ही अध्ययन विषय बनाया। अनौपचारिक रूप से सम्भवतः मानवशास्त्र का शुभारम्भ इसी समय से हुआ।

"मानवशास्त्र को मनुष्य और उसकी सम्पूर्णता के अध्ययन का विज्ञान कहा जाता है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस रूप में मनुष्य का अध्ययन मानवशास्त्री कैसे करते हैं। इस प्रश्न के प्रत्युत्तर से पहले यह अनिवार्य

है कि हम यह जान लें कि मानवशास्त्र, जीव विज्ञान (Biology) जैसे प्राकृतिक विज्ञानो एव अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एव समाजशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानो (Social Sciences) एव इतिहास व दर्शनशास्त्र जैसे मानविकी विषयों (Humanities) से कैसे अलग है ?"

"उपर्युक्त विषयो मे से प्रत्येक विषय की थोडी बहुत विशेषताओ का *समावेश मानवशास्त्र मे मिल जाता है। मनुष्य के अध्ययन हेतु मानवशास्त्री भी* जीवशास्त्री की भाँति मनुष्य के शरीर रचना तन्त्र का अध्ययन करते हैं और मानव व्यवहारो के अध्ययनार्थ प्राकृतिक विज्ञानो के क्षेत्र से ग्रहण कर प्रकार्य (Function) तथा सरचना (Structure) जैसे सम्बोधो को प्रयुक्त करते हैं। सामाजिक विज्ञानो के साथ मानवशास्त्र की समता इस तथ्य से प्रकट होती है कि अन्य सामाजिक विज्ञानो की भाँति मानवशास्त्र भी मनुष्य के सामाजिक व्यवहार (एक व्यक्ति या समाज के सदस्य के रूप मे मनुष्य का व्यवहार) को इसके सस्थापक (समाज प्रतिमान्य) रूपो के सन्दर्भ मे समझने का प्रयास करता है। हमे ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति नही बल्कि स्थाई अनवरत एव सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण व्यवहार ही मानव शास्त्र की विषय-वस्तु है। दर्शनशास्त्रियो की भाँति ही मानवशास्त्री भी मानवीय स्वभाव की प्रकृति और मानवीय सस्कृति की प्रकृति को समझना चाहते हैं।"[1]

लेकिन इन सबसे यह भ्रम नही होना चाहिए कि मानवशास्त्र एव इन विज्ञानो मे कोई विभाजक रेखा नही खीची जा सकती है। मजूमदार एव मदान ने अपनी कृति 'एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रोपोलोजी' की भूमिका मे अन्य विज्ञानो की तुलना मे मानवशास्त्र की कुछ विशिष्टताओ का उल्लेख किया है, जो निम्नांकित हैं[2]—

1 प्राकृतिक एव सामाजिक विज्ञानो तथा दर्शनशास्त्र की भाँति मानवशास्त्र की कोई निश्चित सीमाबन्दी नही होती और न कोई अनन्य (या सीमित) अभिरुचि। इसका कारण यह है कि मानवशास्त्र अन्य विज्ञानो की भाँति मनुष्य या मानवीय क्रिया-कलापो के किसी विशिष्ट पक्ष मात्र का अध्ययन नही है (जैसे जीवशास्त्र उसकी शरीर सरचना का, अर्थशास्त्र उसकी आर्थिक क्रिया का दर्शन-शास्त्र उसके तर्क वितर्कों का) बल्कि मनुष्य और उसकी सामाजिक क्रियाओ की समग्रता का अध्ययन करता है। इस तरह मनुष्य के अध्ययन के प्रति मानवशास्त्र का दृष्टिकोण समग्रात्मक (Holistic) है। दूसरे शब्दो मे मानवशास्त्र मनुष्य, समाज और सस्कृति को परस्पर अन्तर क्रियारत गत्यात्मक सम्पूर्ण के रूप मे विश्लेषित करता है।

1 *D. N Majumdar & T N Madan* An Introduction to Social Anthropology (Hindi) See Introduction.
2 *D N Majumdar & T N Madan* Ibid, Introduction

2 मानवशास्त्र की अध्ययन प्रणाली सूक्ष्मदर्शी (Micro cosmic) एवं आगमनात्मक (Inductive) है। सूक्ष्मदर्शी विधि का अभिप्राय है किसी सूक्ष्म इकाई, वर्ग या राशि का अध्ययन कर बड़ी या वृहद् क्षेत्रीय इकाई को समझने का प्रयास करना। मानवशास्त्री मानव समाज को समझने के उद्देश्य से निरक्षर, नगरीय जीवन रहित आदिम समाजों या ग्रामीण समुदायों का अध्ययन करते हैं। ऐसी छोटी या सूक्ष्म इकाइयों को समझने के आधार पर ही बड़ी, वृहद् एवं जटिल इकाइयों को समझने की दिशा में आगे बढ़ा जाता है। मानवशास्त्री इन छोटी-छोटी इकाइयों (जैसे निरक्षर एवं नगरीय जीवन रहित समाज) का ज्ञान आगमनात्मक विधि द्वारा प्राप्त करते हैं।

3 उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट है कि मानवशास्त्र अन्य प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों तथा दर्शनशास्त्र से इस अर्थ से भिन्न है कि मानवशास्त्र प्रत्यक्ष अध्ययन की विधि से (न कि आलेखीय या इतर प्रमाणों के आधार पर) निरक्षर समाजों का अनुसन्धान करता है।

मानवशास्त्र की व्युत्पत्ति
(Origin of Anthropology)

मानवशास्त्र की व्युत्पत्ति के बारे में प्राप्त ज्ञान अस्पष्ट, अनिश्चित एवं अप्रामाणिक है। प्राप्त साहित्य के अनुसार ऐसा माना जाता है कि 'एन्थ्रोपोलोजिस्ट' (Anthropologist) नामक शब्द का प्रथम प्रयोग महान् यूनानी दार्शनिक अरस्तु (Aristotle) ने किया था। अरस्तु ने इस शब्द का प्रयोग 'गप्प' (Gossip) के सन्दर्भ मे किया। अरस्तु के मत मे एन्थ्रोपोलोजिस्ट एक ऐसा व्यक्ति है जो स्वयं के बारे मे डींगें हाँका करता है।[1] परन्तु बाद के यूनानी साहित्य मे इस शब्द का प्रचलन अधिक नहीं हो पाया। 16वीं शताब्दी मे लेटिन में भी इस शब्द का प्रयोग किया गया। परन्तु यह प्रयोग भी बहुत सीमित अर्थों में किया गया, जिसका सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक संरचना के अध्ययन तक सीमित था।

17वीं शताब्दी में अर्थात् 1655 मे किसी अज्ञात अंग्रेज लेखक ने पहली बार 'एन्थ्रोपोलोजी एब्सट्रेक्टेड' (Anthropology Abstracted) नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में मानवशास्त्र को मानव आत्मा एवं मानव शरीर के अध्ययन विषय के रूप मे परिभाषित किया गया है। 'एन्थ्रोपोलोजी एब्सट्रेक्टेड' नामक कृति का सन्दर्भ (Reference) हमें टी बेर्डिश द्वारा 1865 में लिखित 'The History of Anthropology' नामक कृति मे दिखाई देता है।[2]

18वीं शताब्दी मे प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक एमेनुएल कान्ट ने भी 'Anthropology' नामक एक पुस्तक 1789 मे प्रकाशित की। यह पुस्तक इस सन्दर्भ में

1 *D. N Majumdar & T. N Madan* Ibid, p 1
2 *T Berdish*. The History of Anthropology, p 356.

महत्त्वपूर्ण है कि इसम अत्यन्त विस्तार से पशु से मनुष्य की उत्पत्ति को प्रस्तावित किया गया है।

19वी शताब्दी के प्रारम्भ तक मानवशास्त्र का अर्थ अस्पष्ट, अनिश्चित एव मनगढ़न्त ही रहा। ब्रिटिश एनसाइक्लोपिडिया (British Encyclopaedia) जो 1822 मे प्रकाशित हुआ मे इस शब्द का समावेश किया गया, यद्यपि इसमे प्रस्तुत परिभाषा से भी मानवशास्त्र का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका। ब्रिटिश एनसाइक्लोपिडिया मे इसे मानव प्रकृति की चर्चा के रूप मे परिभाषित किया गया है। अग्रेजी भाषा मे 'Anthropology' शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दो 'Anthropos' एव 'Logos' से बना है। इन शब्दो का क्रमश आशय मनुष्य एव विज्ञान है। इस प्रकार मानवशास्त्र का व्युत्पत्तिय अर्थ (Etymological Meaning) 'मानव का विज्ञान' (Science of Man) हुआ। मजूमदार एव मदान लिखते हैं कि यह व्युत्पत्तिय अर्थ मानवशास्त्र के विषय क्षेत्र की सही परिभाषा है। इस सन्दर्भ मे क्लखोन (Kluckhohn) ने लिखा है कि "मनुष्य के विभिन्न पक्षो का अध्ययन करने वाले समस्त विज्ञानो मे मानवशास्त्र ही एकमात्र ऐसा विषय है जो मनुष्य के सम्पूर्ण अध्ययन (Total Study of Man) के सबसे अधिक निकट है।"[1] अर्थात् इस तथ्य को अभिव्यक्त करने मे कि मनुष्य के बारे मे सम्भावित रूप मे जितना जाना जा सकता है, उन सभी बातो का अध्ययन एक मानवशास्त्री करता है।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि मानवशास्त्र की अध्ययन रुचि भी बहुत ही व्यापक एव विस्तृत है। यह विज्ञान मनुष्य की भाषा, सामाजिक सरचना, विश्वास, परम्परा, धर्म, राजनीति और कलात्मक सृजन सभी को अपने मे समेट लेता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि मनुष्य के दो स्वरूप हैं एक शारीरिक (Biological) एव दूसरा सामाजिक सास्कृतिक (Social Cultural)। मानवशास्त्र इन दोनो स्वरूपो का अध्ययन करता है। यही मानव का समग्र रूप है।[3] यही कारण है कि अनेक मानवशास्त्रियो ने मानवशास्त्र को बिना बस्त का (निविभाग) विज्ञान भी कहा है। यह विस्तृत अध्ययन न काल की सीमा से बँधा हुआ है, और न स्थान की, और न किसी मानव समाज के साँस्कृतिक स्तर की सीमा स ही जैसा कि कुछ लोग गलती से मानते हैं।

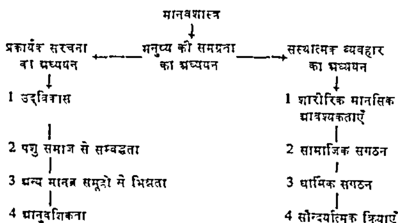
मानवशास्त्र का अर्थ एव परिभाषा
(Meaning and Definitions of Anthropology)

मानवशास्त्र की व्युत्पत्तिय एव शाब्दिक विवेचना के उपरान्त अब यह उपयुक्त होगा कि हम मानवशास्त्र के अर्थ एव परिभाषा से परिचित हो। मानव-

1 *A L Krober & G Kluckhohn* Culture A Critical Review of Concept and Definitions
2 *D N Majumdar & T N Madan* op cit, p 1
3 *Majumdar & Madan* Ibid, p 2

शास्त्र का विषय क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एव व्यापक है। मानवशास्त्र का सम्बन्ध प्रत्येक युग एव प्रत्येक समाज के मानव से है, क्योंकि मानवशास्त्र का अध्ययन विषय समग्र रूप मे 'मानव' के अध्ययन से है। मजूमदार एव मदान लिखते हैं कि मानवशास्त्र मनुष्य के वर्तमान का अध्ययन उसी तरह करता है जैसे उसके भूतकाल (Past) का और साथ ही उसके प्रव-मानव और मानव पूर्व की उत्पत्तियो का अध्ययन भी इसमे किया जाता है। पृथ्वी के किसी भी भाग मे निवास करने वाले मनुष्य का यह अध्ययन करता है। मनुष्य असभ्य है या सभ्य इस बात पर ध्यान दिए बिना मानवशास्त्र उसका अध्ययन करता है। अन्य शब्दो म, सस्कृति के समस्त स्तरो पर मनुष्य का अध्ययन मानवशास्त्र करता है। यहाँ यह नही मान लेना चाहिए कि मनुष्य के अध्ययन का अभिप्राय मानव शरीर सरचना, मानव उद्विकास, मानव शरीर वर्धन और आनुवशिकी का अध्ययन मात्र है। मनुष्य के अध्ययन मे वस्तुत उसकी भावना, विचार और क्रिया सरूपो का समावेश भी है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवशास्त्र मनुष्य की समग्रता का अध्ययन करता है। मजूमदार एव मदान ने इस प्रश्न को उठाया है कि मानवशास्त्र मनुष्य की समग्रता का अध्ययन कैसे करता है ? आपके अनुसार मनुष्य के दो प्रमुख पक्ष होते हैं—प्रथम, मनुष्य के शरीर की हड्डियो, मांस पेशियो एव तात्विक अगो की एक निश्चित व्यवस्था, जिसे प्रकार्यक सरचना भी कहा जा सकता है। द्वितीय, मनुष्य के कई तरह के कथ्य एव अकथ्य व्यवहार होते हैं, इन्हे मनुष्य के सस्थात्मक व्यवहार कहा जा सकता है। सक्षेप मे इस विवेचना को हम निम्नांकित रेखाचित्र के माध्यम से समझ सकते हैं[2]—



1 *Majumdar & Madan* Ibid, p 2
2 *D N Majumdar & T. N Madan* : Ibid, Introduction म वर्णित सामग्री के आधार पर निर्मित।

लूसी मेयर ने भी अपनी कृति 'एन इन्ट्रोडक्शन टू सोश्यल एन्थ्रोपोलोजी' में लिखा है कि मानवशास्त्र का अर्थ है मनुष्य के विषय में चर्चा। "...मानवशास्त्र को कभी-कभी ऐसा अध्ययन माना जाता है, जो मानव के विषय में सब कुछ बतलाता हो। ऐसा मत रखने वालों के लिए इसके अन्तर्गत वे सब विषय आते हैं, जो मध्य उन्नीसवीं शती के आस-पास प्रचलित थे। तब मानवशास्त्र पहले-पहल एक रूप ग्रहण कर रहा था और इसमें दैहिक मानवशास्त्र सामाजिक (या सांस्कृतिक) मानवशास्त्र, पुरातत्व एवं भाषा विज्ञान सभी शामिल थे।[1]

ए एल क्रोबर एवं जी क्लूखोन ने लिखा है कि "मनुष्यों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने वाले समस्त विज्ञानों में से मानवशास्त्र ही एक ऐसा विज्ञान है, जो मनुष्य के सम्पूर्ण अध्ययन के सबसे निकट है।"[2]

फ्रेंज बोआस ने लिखा है कि "मानवशास्त्र मानव का अध्ययन एक सामाजिक प्राणी (Social Being) के रूप में करता है।"[3]

मैकविल जे हर्षकोविट्ज ने अपनी कृति का नाम ही 'मेन एण्ड हिज वर्क्स' (Man and His Works) रखा। वे लिखते हैं कि "मानवशास्त्र मनुष्य के अस्तित्व के जैविक (Biolog cal) एवं सांस्कृतिक (Cultural) अतीत एवं वर्तमान (Past and Present) सब पहलुओं को अध्ययन में रखकर इनसे मिली विविध सामग्रियों से मनुष्य के अनुभव की समस्याओं का उन शास्त्रों से भिन्न जो कि मानव-जीवन के अधिक सीमित पहलुओं से सम्बन्धित हैं, एकीकृत रूप में अध्ययन करता है।"[4]

जेकब्स एवं स्टर्न ने 'जनरल एन्थ्रोपोलोजी' में मानवशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "मानवशास्त्र मनुष्य जाति के जन्म से लेकर वर्तमान तक का मानव के शारीरिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन है।"[5]

ए सी हड्डन (A C Haddon) ने 1934 में 'हिस्ट्री ऑफ एन्थ्रोपोलोजी' में 1876 में टापिनार्ड (Topinord) द्वारा लिखित पुस्तक 'L' Anthropology' में प्रस्तुत मानवशास्त्र की परिभाषा को उद्धृत करते हुए लिखा है कि "मानवशास्त्र प्राकृतिक इतिहास (Natural History) की एक शाखा है और यह मानव एवं मानव-जाति की प्रजातियों से सम्बन्धित है।"

1 *Lucy Mair* An Introduction to Social Anthropology (Hindi) p. 1.
2 *A L Krober & G Kluckhon* Culture, A Critical Review of Concept and Definitions
3 *F Boas* . Anthropology in Encyclopaedia of the Social Sciences, Vol II, p 73
4 *Macville J Herskovitz* Man and His Works.
5 *Jacobs and Stern* General Anthropology, p 1

ई ए होबल (E A Hoebel) ने 'मेन इन प्रिमिटिव वर्ल्ड' मे लिखा है कि "मानवशास्त्र मानव एव उसके सम्पूर्ण कार्यों का अध्ययन है। व्यापक अर्थों मे यह मनुष्य की प्रजातियो (Races) एव प्रथाओ (Customs) का अध्ययन है। इन प्रथाओ मे हम सामाजिक व्यवहार का अवलोकन करते हैं, और चूँकि मानवशास्त्र प्रथाओ का विज्ञान भी है, इसलिए यह एक सामाजिक विज्ञान होने के साथ-साथ एक प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) भी है।"

राल्फ बील्स ने भी मानवशास्त्र को 'एन इन्ट्रोडक्शन टू सोश्यल एन्थ्रोपोलोजी' मे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "मानवशास्त्र मनुष्य के शारीरिक और सांस्कृतिक विकास के नियमो तथा सिद्धान्तो का अनुसन्धान करने वाला विज्ञान है।"[1]

टर्नीहाई ने अपनी कृति 'जनरल एथ्रोपोलोजी' मे लिखा है कि "मानवशास्त्र शाब्दिक अर्थ मे मानव विज्ञान है। मानवशास्त्र सम्पूर्ण मानव का विवरणात्मक, तुलनात्मक एव सामान्यात्मक अध्ययन है। इसमे मानव शरीर-रचनाशास्त्र, शरीर शास्त्र और मनोविज्ञान के कारक एव वह संस्कृति सम्मिलित है जो उनकी आवश्यकताओ के प्रत्युत्तर मे प्रवाहित होती है, आते हैं।"[2]

टी. के पनिमैन का मानना है कि "मानवशास्त्र मानव का विज्ञान है। एक दृष्टिकोण से यह प्राकृतिक इतिहास की एक शाखा है जिसके अन्तर्गत जीव प्रकृति के क्षेत्र मे मानव की उत्पत्ति और स्थान का अध्ययन आता है। दूसरे दृष्टिकोण से, मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है।"[3]

डॉ एस. सी. दुबे ने अपनी कृति 'मानव और संस्कृति' मे लिखा है कि "प्राणिशास्त्र की शाखा के रूप मे मानवशास्त्र प्राचीन तथा आधुनिक मानव के विभिन्न समूहो की शारीरिक रचना एव प्रक्रियाओ की समानताओ तथा भिन्नताओ का विश्लेषण और वर्गीकरण करता है। दूसरी ओर एक सांस्कृतिक-सामाजिक अध्ययन के रूप मे वह इसी प्रकार विभिन्न संस्कृतियो की सरचना तथा प्रक्रियाओ का अध्ययन करता है।"[4]

उपर्युक्त पारिभाषिक विवेचनाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानवशास्त्र मूलतः मनुष्यो का अध्ययन है और भी स्पष्ट विधि से मानवशास्त्र के अर्थ को हम निम्नांकित बिन्दुओ मे रख सकते हैं—

(1) मानवशास्त्र मनुष्य का अध्ययन आदिकाल से लेकर उसके समकालीन काल तक उसके क्रमिक उद्विकास (Evolution) को ध्यान मे रखते हुए करता है।

(2) मानवशास्त्र विभिन्न मानवीय समूहो मे पाई जाने वाली समानता एवं विषमता का अध्ययन करता है।

(3) मानवशास्त्र मनुष्यो के प्राणिशास्त्रीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के नियमों व सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।

1 *Ralph Beals* : An Introduction to Social Anthropology, p 20.
2 *Turney-High* : General Anthropology, p 1
3 *T. K Penniman* : A Hundred Years of Anthropology, p. 13-14.
4 *Dr. S. C. Dubey* : Manav aur Sanskriti (Hindi) , p 2.

(4) मानवशास्त्र मनुष्यो एव उसके कार्यों के अध्ययन मे स्वयं को सलग्न करता है ।

(5) मानवशास्त्र मानव-समूह की सस्कृति की आन्तरिकता का वर्णन व विश्लेषण करता है ।

मानवशास्त्र की प्रकृति एवं विशेषताएँ
(Nature and Characteristics of Anthropology)

मानवशास्त्र की उपर्युक्त पारिभाषिक विवेचना मे हम यह स्पष्ट कर आए हैं कि मानवशास्त्र मनुष्यो के क्रमिक विकास का अध्ययन एव विश्लेषण करता है, अत इसकी प्रकृति एव विशेषताग्रो को लेकर विद्वानों मे विभिन्न धारणाएँ पाई जाती हैं । अनेक विद्वान मानवशास्त्र को एक प्राकृतिक विज्ञान की तरह से विवेचित करते है तो कुछ विद्वान इसे सामाजिक विज्ञानो की शृखला की एक महत्त्वपूर्ण कडी मानते हैं । इसका मूल कारण मानवशास्त्र की विषय वस्तु है । मानवशास्त्र की विषय वस्तु का एक प्रमुख भाग शारीरिक मानवशास्त्र का है जिसम इस बात की विवेचना की जाती है कि वह मनुष्य के उद्भव एव उद्विकास अर्थात् केवल प्राणी विकास की सरचना का वर्णन करे । प्राणिशास्त्रीय विशेषताग्रो के आधार पर विभिन्न मानव जातियो का तुलनात्मक अध्ययन करके उनका वर्गीकरण प्रस्तुत करना भी मानवशास्त्र का एक प्रमुख कार्य है । अत इसमे कोई सन्देह नहीं शारीरिक मानवशास्त्र प्रमुखत एक प्राकृतिक विज्ञान ही है । दूसरी ओर सांस्कृतिक एव सामाजिक मानवशास्त्र म मानवीय समाज के स्वरूप तथा इतिहास का वर्णन व विश्लेषण किया जाता है अत मानवशास्त्र की विषय वस्तु का यह भाग मानव के सामाजिक व सांस्कृतिक विकास का अध्ययन करता है । विभिन्न सस्कृतियो के विवेचनात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन के कारण मानवशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान कहा जाता है, परिणामस्वरूप इसकी प्रकृति म दृष्टिकोण की यह विभिन्नता पाई जाती है ।

ई ए होबल ने भी लिखा है कि 'मानवशास्त्र की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि प्राकृतिक विज्ञान के रूप मे वह एक साथ शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान दोनों ही है ।" टी के पन्निमैन ने एक कृति 'ए हण्ड्रेड इयर्स एथ्रोपोलोजी' मे लिखा है कि 'एक रूप मे मानवशास्त्र प्राकृतिक इतिहास की एक शाखा है एव इसके अन्तर्गत जीव प्रकृति के क्षेत्र मे मानव की उत्पत्ति और स्थिति का अध्ययन आता है । ... दूसरे रूप म मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है ।"

कुछ अन्य मानवशास्त्रियों के अनुसार मानवशास्त्र की स्थिति न तो मात्र विकास की है और न ही विज्ञान की, क्योकि अतीत को जाने बिना वर्तमान को समझना असम्भव है । वही वर्तमान म वैज्ञानिक अवलोकन के आधार एव वैज्ञानिक पद्धति के अभाव म निष्कर्षों को निकालना कठिन है अत दोनों के सम्मिश्रण से ही मनुष्यो एव उनकी सस्कृतियो का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है ।

मैलिनोस्की, रेडक्लिफ ब्राउन जैसे अन्य मानवशास्त्रियों का विचार है कि मानवशास्त्र का अध्ययन केवल मात्र उन समाजो एव मनुष्यो के अध्ययन पर ही सीमित होना चाहिए जिनको कि प्रत्यक्ष रूप से अवलोकित किया जा सकता है अत

इन विद्वानो के अनुसार प्राचीन इतिहास, समाज या घटनाओ का अध्ययन करना अथवा प्रमाणहीन बातो को स्वीकार करना मानवशास्त्र के लिए उचित नही है ।

फोर्टेस एव नेडेल आदि मानवशास्त्रियो ने इसे पूर्ण रूप से एक प्राकृतिक विज्ञान माना है एव इनका कहना है कि मानवशास्त्र क्योकि मानव समाजो का अध्ययन करने मे प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियो का ही प्रयोग करता है अत यह पूरी तरह से प्राकृतिक विज्ञान है । इसके विपरीत क्रोबर, इवान्स प्रीटचार्ट, बिडने आदि अनेक अन्य मानवशास्त्री हैं जिनका मानना है कि मानव जीवन का केवल प्राकृतिक या शारीरिक स्तर ही नही होता बल्कि उसका एक सामाजिक स्तर भी होता है एव मानवशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान न होकर एक सामाजिक विज्ञान होना चाहिए ।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि मानवशास्त्र एक विज्ञान है, परन्तु जैसा कि इसकी प्रकृति को लेकर यह विवाद स्पष्ट है कि कुछ लोग मानवशास्त्र को एक प्राकृतिक विज्ञान मानते हैं जबकि अनेक अन्य ऐसे लोग भी हैं जो मानवशास्त्र को एक सामाजिक विज्ञान के रूप मे निरूपित करते हैं । मानवशास्त्र की प्रकृति का यह विवाद वस्तुत तब समाप्त हो जाता है जब हम इसकी विषय-वस्तु को देखते हैं, क्योकि जब मानवशास्त्र शारीरिक मानवशास्त्र रूपी शाखा के रूप मे कार्य करता है तो वह नि सन्देह एक प्राकृतिक विज्ञान हो जाता है । दूसरी ओर जब वह एक सामाजिक मानवशास्त्र के रूप मे या सांस्कृतिक मानवशास्त्र के रूप मे काम करता है तब वह एक सामाजिक मानवशास्त्र के रूप मे देखा जा सकता है ।

इस प्रकार मानवशास्त्र एक विज्ञान अवश्य है । मानवशास्त्र का मूल कार्य मनुष्य का वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से अवलोकन, वर्णन व निरूपण करना है । सक्षेप मे मानवशास्त्र की पद्धति यथार्थवादी मानववादी होना चाहिए । मानवशास्त्र की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हो सकती हैं[1]—

(1) समग्र मनुष्यों का अध्ययन (Study of Whole Man)
(2) तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study)
(3) आदिम या अशिक्षित समाजों का अध्ययन (Study of Primitive Society)
(4) ग्रामीण समुदायों का अध्ययन (Study of Rural Communities)
(5) व्यावहारिक उपयोगिता (Practical Utility)

मानवशास्त्र की प्रमुख शाखाएँ
(Main Branches of Anthropology)

जब हम मानवशास्त्र को मनुष्य के शारीरिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक विकास का विज्ञान कहते है तो स्पष्ट है कि मानवशास्त्र की अनेक शाखाएँ हैं । सामान्यत मानवशास्त्र को चार प्रमुख शाखाओ मे बाँटा जाता है—

(1) शारीरिक या प्राकृतिक मानवशास्त्र या मनुष्य के उद्‌विकास एव शरीरवर्धन का अध्ययन ।

1 डॉ शम्भू लाल दोषी ; उच्च सामाजिक मानव विज्ञान, पृष्ठ 8–10.

(2) प्रागैतिहासिक और सांस्कृतिक मानवशाला या मनुष्य के कार्यों का अध्ययन।

(3) नृजति-विज्ञान या मनुष्य का प्रजातीय और सांस्कृतिक वर्गीकरण।

(4) व्यावहारिक मानवशास्त्र अर्थात् प्रजातीय एव औद्योगिक सम्बन्धो को व्यवस्थित करने तथा उपनिवेशन प्रशासन, विकासशील देशो के विकास कार्यक्रम आदि के सन्दर्भ मे शारीरिक और सांस्कृतिक मानवशास्त्र की जानकारियो का व्यावहारिक उपयोग करना।

ई. ए. होबल (E A. Hoebel) के अनुसार मानवशास्त्र की तीन प्रमुख शाखाएँ एव अनेक उपशाखाएँ हैं, जो निम्न हैं—

(1) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)
 (क) मानव-मिति (Anthropometre)
 (ख) मानव-प्रणिशास्त्र (Human-Biology)

(2) पुरातत्त्वशास्त्र (Archaeology)

(3) सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)
 (क) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)
 (ख) भाषा-विज्ञान (Linguistics)
 (ग) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

बील्स एव हाइजर (Beals and Higer) ने मानवशास्त्र की शाखाओ को तीन श्रेणियो मे रखा है जो निम्नलिखित हैं—

(1) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)
 (अ) मानव उत्पत्तिशास्त्र (Study of Human Genetics)

(2) सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)
 (अ) पुरातत्त्वशास्त्र (Archaeology)
 (ब) प्रजाति शास्त्र (Ethnology)
 (स) भाषा विज्ञान (Linguistics)

(3) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

राल्फ पिडिंगटन (Ralph Piddington) ने मानवशास्त्र की शाखाओ को चार प्रमुख वर्गों मे रखा है, जो निम्नलिखित है—

1 शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)
2 प्रागैतिहासिक पुरातत्त्वशास्त्र (Pre-historic Archaeology)
3 सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)
4. सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

यहाँ हम इनकी संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

(1) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)—शारीरिक मानवशास्त्र, मानवशास्त्र की वह शाखा है जिसमे हम मानव-जाति के उद्भव एव विकास, उनकी शारीरिक, प्रजातीय विशेषताओ तथा उनसे सम्बन्धित समस्त विषयो का अध्ययन करते हैं। दूसरे शब्दो मे शारीरिक मानवशास्त्र मे मानव के उद्विकास का इतिहास, मनुष्य एव पशुओ का अन्तर, मानव की प्रजातीय विशेषताएँ एवं विभेद, वंशानुसंक्रमण (Heredity), उत्परिवर्तन (Mutation), मानवीय शारीरिक विभिन्नताएँ एव कारक आदि का अध्ययन किया जाता है।

(2) प्रागैतिहासिक पुरातत्वशास्त्र (Pre historic Archaeology)—प्रागैतिहासिक पुरातत्व मानवशास्त्र की वह शाखा है जिसमे मानव तथा उसकी सस्कृति के उदभव, उत्थान तथा पतन, एव भौगोलिक विवरण आदि का अध्ययन किया जाता है। प्राथमिक रूप से इस शाखा का सम्बन्ध प्राचीन सस्कृतियो तथा वर्तमान सम्यता के भूतकाल के स्तरो से सम्बन्धित है। यह भूतकालीन सस्कृतियो के स्वरूपो तथा समय के दौरान उनकी उत्पत्ति एव विकास का अध्ययन है। सरल शब्दो मे पुरातत्वशास्त्र के द्वारा प्राचीन सस्कृतियो तथा आधुनिक सम्यताओ की भूतकालीन अवस्थाओ का अध्ययन किया जाता है।

(3) सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)—सांस्कृतिक मानवशास्त्र, मानवशास्त्र की वह शाखा मानी जाती है, जिसका सम्बन्ध मानव सस्कृतियो की उत्पत्ति तथा इतिहास, उनका उदविकास एव विकास एव प्रत्येक स्थान तथा काल मे मानव सस्कृतियो की सरचना एव कार्यों का अध्ययन करना है। सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक मानवशास्त्र का उद्देश्य अपनी विशिष्ट अध्ययन प्रणाली के द्वारा मानव-जाति को विभिन्न समूहों की सस्कृति का अध्ययन करना ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सांस्कृतिक मानवशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एव विस्तृत है, क्योकि इसमे समाज व्यवस्था, कला, साहित्य, विश्वास आदि का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाता है। सांस्कृतिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत विस्तृत क्रियाओ के समावेश के कारण इसकी तीन उपशाखाएँ भी है, जिन्हे क्रमश पुरातत्वशास्त्र, प्रजातिशास्त्र एव भाषा-विज्ञान कहा जाता है।

(4) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)—मोट तौर पर सामाजिक मानवशास्त्र एवं सांस्कृतिक मानवशास्त्र मे अन्तर नही किया जा सकता परन्तु फिर भी सामाजिक मानवशास्त्र की सीमाओ का निर्धारण किया जा सकता है। सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन मूलत सामाजिक सरचना (Social Structure) का अध्ययन है। सामाजिक सरचना मे हम सस्थागत सामाजिक व्यवहार, परिवार, नातेदारी, वश, गोत्र, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सगठन न्याय-व्यवस्था आदि को रख सकते हैं। हमे ध्यान रखना चाहिए कि इन सब का अध्ययन यह उन समकालीन या ऐतिहासिक समाजो मे करता है, जहाँ इस प्रकार के अध्ययन के लिए आवश्यक पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। अनेक मानवशास्त्री इसे सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक उप-शाखा के रूप मे देखते हैं परन्तु मूलत: अब यह एक अत्यन्त प्रतिपादित शाखा है।

हर्षकोविट्ज (Herskovitz) ने मेन एण्ड हिज वर्क्स (Man and His Works) मे मानवशास्त्र की शाखाओ एव उनके विषय-क्षेत्र की विस्तृत विवेचना की है। उनकी विवेचना को सक्षेप मे अग्रांकित चार्ट मे रखा जा सकता है।[1]

1 D N Majumdar & T. N Madan Ibid, p 5

मानवशास्त्र के विषय-क्षेत्र की रूपरेखा
(Synopsis of the Subject-matter of Anthropology)

मानवशास्त्र
या
मनुष्य और उसके कार्यों का विज्ञान

(1) मनुष्य का अध्ययन (शारीरिक नृतत्त्व)
- (1) मानव उद्विकास का अध्ययन,
- (2) मानव वैभिन्य का अध्ययन,
- (3) मानव जैविकी का अध्ययन,
- (4) सामान्य और रोगात्मक अनुवांशिक लक्षणों के वंशानुक्रम का अध्ययन (मानव अनुवांशिकी)।

(2) मनुष्य के कार्यों का अध्ययन
- (अ) प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व
  - (1) प्रागैतिहासिक भौतिक संस्कृति
  - (2) भौतिक संस्कृति के अध्ययन से समाज के उद्विकास का व्युत्पत्तिकरण
- (ब) सांस्कृतिक मानवशास्त्र समकालीन आदिम मनुष्य की सम्पूर्ण जीवन पद्धति, उसकी विचार भावना और क्रिया पद्धतियों का अध्ययन।

(3) पृथ्वी पर मनुष्य के प्रजातीय और सांस्कृतिक वितरण का अध्ययन-नृजाति विज्ञान
- (अ) प्रजातियों और संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन,
- (ब) अतीत में प्रजातियों का प्रवजन और संस्कृतियों का प्रसार,
- (स) प्रजातियों और संस्कृतियों का वर्तमान वितरण।

(4) भाषाशास्त्र और प्रतीक-विज्ञान
  (1) भाषा और कला जैसे प्रतीको से होने वाले सम्प्रेषण का तुलनात्मक अध्ययन ।

(5) विचार और कला
  (1) आदिम तर्क,
  (2) धर्म, जादू, मिथक और विज्ञान,
  (3) ज्ञान,
  (4) कलाएँ, मौखिक साहित्य, सगीत, नृतत्व और प्रतिमाकार एव रेखाकार कलाएँ ।

(6) आर्थिक मानवशास्त्र
  (1) भौतिक सस्कृति का अध्ययन,
  (2) माल के उत्पादन, वितरण और उपयोग का अध्ययन ।

(7) सामाजिक मानवशास्त्र
  (1) सामाजिक जीवन के विभिन्न प्रकारो के विकास का अध्ययन ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवशास्त्र मनुष्य और उसके लगभग समस्त पक्षो का अध्ययन है । सक्षेप मे पुनः मजूमदार एव मदान के शब्दो मे—सारांशतः मानवशास्त्र अब न तो स्पष्ट अध्ययन है और न बिना बस्ते (निर्विभाग) वाले अध्ययन की तरह अनिश्चित ही वरन् मानवशास्त्र मनुष्य के शारीरिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षो का सुपरिभाषित (सीमित अर्थ मे) अध्ययन है । मानवशास्त्र निठल्लो का धन्धा भी नही है । ऐसा अध्ययन भी यह नही है जिसका आधुनिक विश्व से कोई वास्ता ही न हो । हमारे जीवन मे इसका वस्तुत तात्त्विक स्थान है । न यह आकर्षक वनवासियो (जगलियो) और तथाकथित हास्यास्पद रीति-रिवाजो मात्र का अध्ययन हैं और न अतीत की पण्डिताऊ लदाई, टूटे-फूटे बर्तन, शिलीभूत खोपडियो और हड्डियो मात्र का अध्ययन है । मानवशास्त्र यह सब तो है ही, साथ ही कुछ और भी है। इन सभी के सन्दर्भ मे मानवशास्त्र का एक उद्देश्य है। इवांस प्रिट्चार्ड के शब्दो मे यह उद्देश्य है किसी भी काल (भूत या वर्तमान) मे कही भी रहे या आज रहने वाले विचित्र प्राणी मनुष्य को समझना। आधुनिक

जीवन मे मानवशास्त्र के प्रत्यक्ष महत्त्व को दर्शाते हुए क्लूखोन नृतत्त्व की तुलना उस दर्पण से करते है जिसमे देखकर मनुष्य, आदिम या सभ्य के लेबल के बगैर, अपने अनन्त शारीरिक और सांस्कृतिक वैविध्य को समझ सके और उसकी दाद दे सके।"[1]

सामाजिक मानवशास्त्र
(Social Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र 'समाज' (Society) एव 'सामाजिक संरचना' (Social Structure) के अध्ययन से सम्बन्धित है। समाज से हमारा आशय विभिन्न प्रकार के सस्थागत व्यवहारो के द्वारा बन्धे लोगो से है। मनुष्यो का व्यवहार विभिन्न सस्थागत सम्बन्धो से बधा होता है। ये सस्थागत सम्बन्ध एव व्यवस्थाएँ ही सामाजिक मानवशास्त्र की विषय-वस्तु है। वस्तुत जब हम सामाजिक सम्बन्धो की बात करते हैं तो हमारा आशय उन व्यवहारो से होता है, जो हमारे लिए परिचित हैं और जो किसी भी समाज के विशिष्ट लक्षण है। सामाजिक मानवशास्त्री जब सामाजिक सम्बन्धो की बात करते हैं तो इससे उनका आशय लोगो के व्यवहार के आधार से है।

सामाजिक मानवशास्त्र को सामान्यत मानवशास्त्र की वह शाखा माना जाता है जो मानवीय समाजो के सामाजिक (Social) पक्ष से सम्बन्धित है एव सामाजिक सरचना (जिसमे हम सस्थागत सामाजिक व्यवहार, विवाह परिवार, नातेदारी, वश, गौत्र, सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक सगठन तथा न्याय व्यवस्था आदि को रखते हैं) के अध्ययन का विज्ञान है।

सामाजिक मानवशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र को परिभाषित करना आसान नही है। इसकी परिभाषा के आधार को लेकर समाजशास्त्रियो मे पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसे समाजशास्त्र की एक शाखा मानते हैं,[2] तो कुछ लोग इसे सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा मानते हैं।[3] किन्तु फिर भी सामाजिक मानवशास्त्र मे मानव के सामाजिक स्वरूप पर विशेष महत्त्व दिया जाता है।

लेवी स्ट्रॉस ने सामाजिक एव सांस्कृतिक मानवशास्त्र का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "मानव को दो प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है— उपकरण-निर्माणकारी प्राणी (Tool-making Animal) के रूप मे अथवा सामाजिक प्राणी (*Social Animal*) के रूप म। *यदि आप मानव को प्रथम* अर्थात् उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप मे विवेचना कर रहे हैं तो आप

1 *D. N. Majumdar & T N Madan* Ibid, p 5.
2 *Lucy Mair* An Introduction to Social Anthropology, p. 1.
3 *E. E Evans Pritchard*: Social Anthropology, p 11.

उपकरण से प्रारम्भ करते हैं, और उपकरण के रूप मे मानते हुए उन सस्थाओ (Institutions) तक पहुँचते हैं जिसके कारण सामाजिक सम्बन्ध सम्भव होते हैं। यह सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology) है, लेकिन यदि आप मनुष्य को एक सामाजिक सम्बन्ध (Social Relations) से प्रारम्भ करते है और उस विधि के रूप मे जिसके द्वारा सामाजिक सम्बन्ध स्थिर रहता है, उपकरण तथा सस्कृति तक पहुँचते हैं। यही सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology) है। इन दोनो मे भेद केवल मात्र दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य (Perspective) का है और सामाजिक मानवशास्त्र तथा सांस्कृतिक मानवशास्त्र की विधि-व्यवस्था मे कोई गम्भीर अन्तर नही है।"[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह सुगमतापूर्वक जाना जा सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्र मे मानव को एक सामाजिक प्राणी मानकर उसके सामाजिक सगठन, सामाजिक सस्थाओ एव सामाजिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

लूसी मेयर ने 'एन इन्ट्रोडक्शन टू सोश्यल एन्थ्रोपोलोजी' मे सामाजिक मानवशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र का अधिक सम्बन्ध ऐसे समाजो से है, जो इस देश से अथवा दूसरे औद्योगिक देशो से भिन्न है, जिन्हे (भूगोल की उपेक्षा करके) पश्चिमी कहा जाता है। इसका (सामाजिक मानवशास्त्र) ध्यान सदा ऐसे समाजो पर केन्द्रित रहा है, जो आदिम कहे जाते है, अथवा विस्तारपूर्वक कहने की सुविधा हो तो हम यह कह सकते हैं कि ऐसे समाज जिनकी प्रविधि सरल हैं, अर्थात् ऐसे लोग, जो हमारे यहाँ प्रचलित उपकरणो के बिना ही कार्य चलाते है, जिनके यहाँ रडार एव यन्त्रचालित परिवहन तो दूर रहा, मुद्रा और लेखन कला का भी अभाव है। उनका काम-धाम इन चीजो के बिना ही चलता है। इस कारण उनका जीवन यापन हमसे बहुत भिन्न है।"[2]

ई ई इवान्स प्रिट्चार्ड भी इसे समाजशास्त्र की एक शाखा मानते हैं। वे स्वय सोश्यल एन्थ्रोपोलोजी नामक अपने ग्रन्थ मे लिखते हैं कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्रीय अध्ययनो की एक शाखा मानी जा सकती है—वह शाखा जो कि मुख्यत अपने को आदिम समाजो के अध्ययन मे लगाती है।"[3] इस उपर्युक्त परिभाषा मे हम देखते हैं कि ई. ई इवान्स प्रिट्चार्ड सामाजिक मानवशास्त्र को केवल आदिम समाजो के अध्ययन तक ही सीमित मानते हैं, क्योकि आदिम समाजो का अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है। आगे

1 *Levi Strauss* . Social Structure in Anthropology Today, 1953, p 1.
2 *Lucy Mair* op cit, p 2.
3 *E F Evans Pritchard* · Social Anthropology, 1954, p 11.

एक अन्य स्थान पर प्रिट्चार्ड ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है कि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार, सामान्यत संस्थागत स्वरूपो मे जैसे परिवार, नातेदारी व्यवस्था (Kinship System), राजनीतिक संगठन (Political Organisation), वैधानिक विधियाँ (Legal Proceduras), धार्मिक विश्वास (Religious Cults), इत्यादि और इन संस्थाओ मे पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन है। यह इन सबका अध्ययन उन समकालीन या ऐतिहासिक समाजो मे करता है जहाँ इस प्रकार के अध्ययन के लिए आवश्यक पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त हो सकें।

एस. एफ. नडेल ने 'द फाउन्डेशन ऑफ सोशल ऐन्थ्रोपोलोजी' मे सामाजिक मानवशास्त्र को परिभाषित किया है। एस एफ नडेल के शब्दो मे, "सामाजिक मानवशास्त्र, इतिहास-विहीन (Without History) समाजो का और 'अपरिचित' (Exotic) प्रकृति की संस्कृतियो का अध्ययन है।"[1] इस प्रकार इन्होने भी सामाजिक मानवशास्त्र को ऐसे समाजों के अध्ययन तक ही सीमित रखा है जिनके बारे मे न ही प्रमाण मिलते है और न ही उनकी कोई ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। इसी के साथ इस तथ्य पर भी जोर दिया है कि सामाजिक मानवशास्त्र ऐसी संस्कृतियो का अध्ययन है जिनके आवरण मे ढके लोग, सभ्य समाजो के लिए अपरिचित जैसे हैं। आगे और भी स्पष्ट करते हुए नडेल (Nadel) ने कहा है कि इस विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य आदिम मनुष्यो को, उनके द्वारा निर्मित संस्कृति को और उस सामाजिक व्यवस्था को, जिसमे वे रहते और कार्य करते हैं, समझना है।

ई ए. होबल (E A. Hoebel) ने 'मेन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड' मे लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार और सामाजिक समूहो के संगठन (अथवा समाज रचना) के अध्ययन पर अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है।"[2]

बोहानन (Bohanan) ने मानवशास्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "एक ओर जहाँ यह विज्ञान मनुष्यो के बारे मे ज्ञान एकत्र करता है, और उसका वर्गीकरण एव विश्लेषण करता है, वही दूसरी ओर अर्वाचीन संसार के विषय मे हमारे जो बुनियादी विचार है, उनके विश्लेषण मे हमे सूक्ष्म दृष्टि प्रदान करता है।"

प्रो एम. एन श्रीनिवास (Prof M N Srinivas) ने अपने एक लेख मे मानवशास्त्र को परिभाषित किया है। प्रो. एम. एन. श्रीनिवास (M. N Srinivas) ने सामाजिक मानवशास्त्र को मानव समाजो का तुलनात्मक अध्ययन कहा है। उन्ही के शब्दो मे, "सामाजिक मानवशास्त्र मानव समाजो का तुलनात्मक

1 *S F Nadel* · The Foundation of Social Anthropology, 1953, p 6.
2 *E A Hoebel* Man in the Primitive World, p. 3.

अध्ययन है, आदर्श रूप में उसके अन्तर्गत आदिम, सभ्य एव ऐतिहासिक सभी समाज आते हैं अर्थात् इस भाँति सामाजिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न समाजो का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है ।"[1]

ए आर रेडक्लिफ ब्राउन (A R Redcliffe' Brown) ने सामाजिक मानवशास्त्र को परिभाषित करते हुए कहा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्र की वह शाखा है जो कि आदिम समाजो का अध्ययन करती है ।"[2] दूसरे शब्दो मे, इनका आशय है कि सामाजिक मानवशास्त्र ऐसी ही सामाजिक व्यवस्थाओ का अध्ययन है जिनका सम्पर्क विशेष रूप मे आदिम समाजो से होता है । एक अन्य लेख मे इन्होने सामाजिक मानवशास्त्र को दूसरी तरह परिभाषित किया था, जिसमे ब्राउन ने स्पष्ट किया था कि सामाजिक मानवशास्त्र विविध प्रकार के समाजो की क्रमबद्ध तुलना द्वारा मानव समाज की प्रकृति के सम्बन्ध मे खोज है ।

डॉ एस सी दुबे (Dr. S C Dubey) ने सामाजिक मानवशास्त्र को एक ऐसा विज्ञान कहा है, जो मनुष्य के व्यवहार का विभिन्न सामाजिक स्थितियो मे अध्ययन करता है ।

डॉ. मजूमदार एवं मदान (Dr. Majumdar & T. N Madan) लिखते हैं कि "सामाजिक जीवन के विविध प्रकारो तथा सामाजिक जीवन के विकास का अध्ययन ही सामाजिक मानवशास्त्र है ।"

सामाजिक मानवशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र की कुछ आधारभूत विशेषताओ का उल्लेख किया जा सकता है जो निम्नांकित है—

(1) सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध मुख्यतः आदिम समाजो के अध्ययन से है ।

(2) सामाजिक मानवशास्त्र सस्थागत सामाजिक सम्बन्धो और उन व्यवस्थाओ का अध्ययन करता है, जिनमे ये सम्बन्ध सगठित होते हैं ।

(3) सामाजिक मानवशास्त्र मूलत सामाजिक सरचनाओ का अध्ययन करता है । सामाजिक सरचना मे विवाह, परिवार, नातेदारी, वश, गोत्र, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था एव विधि व्यवस्था आदि को सम्मिलित किया जाता है ।

(4) सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध मानवीय व्यवहार की विविधता और उसमे पाई जाने वाली एकता का भी अध्ययन व निरूपण करना है ।

1 *M N Srinivas* · Anthropology in Sociological Bulletin, Vol. 1 No. 1 (1952) p 28

2 *A R Redcliffe Brown* ; American Anthropologist, Vol. 5, No 3, 1949.

सामाजिक मानवशास्त्र की विषय-वस्तु
(Subject matter of Social Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र के पारिभाषिक विश्लेषण के उपरान्त अब हम सामाजिक मानवशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject-matter) पर प्रकाश डालेंगे।

उपरोक्त विद्वानो ने जिन शब्दो मे सामाजिक मानवशास्त्र को परिभाषित किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन विषय तथा क्षेत्र के बारे मे काफी विवादग्रस्त विचार हैं। रेडक्लिफ ब्राउन (Redcliffe Brown) सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को आदिकालीन समाज एव मनुष्यो तक ही सीमित रखते हैं। इनके मतानुसार सामाजिक मानवशास्त्र उन समाजो अथवा सामाजिक व्यवस्थाओ का अध्ययन है जिनकी समग्र रूप मे तुलना की जा सके। *अर्थात् सामाजिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत सीमित समाजो या सामाजिक व्यवस्थाओ* को अपने अध्ययन मे सम्मिलित कर सामाजिक जीवन की उसकी समग्रता मे देखने और तुलना करने का यत्न किया जाता है। दूसरी ओर इवान्स प्रिट्चार्ड (Evans Pritchard) सामाजिक व्यवस्थाओ पर जोर देकर नही, बल्कि सामाजिक व्यवहार एव सामाजिक सस्थाओ को सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत मानते हैं। एक अन्य मानवशास्त्री पिडिंगटन सामाजिक मानवशास्त्र को समकालीन आदिम समाजो की सस्कृतियो (Study of Cultures of Contemporary Primitive Communities) का अध्ययन मानते हैं। प्रमुख मानवशास्त्री नडेल (Nadel) *ने तो पहले दो विद्वानो से मतभेद स्पष्ट करते हुए जोर देकर कहा है कि सामाजिक* व्यवस्थाएँ ही सामाजिक मानवशास्त्र का तर्क पूर्ण अध्ययन विषय है। लूसी मेयर (Lucy Mair) ने तो यहाँ तक कहा है कि आजकल अधिकतर सामाजिक मानवशास्त्री अपने विषय को समाजशास्त्र की एक शाखा के रूप मे मानते हैं। इसस ऐसा आभास होना है कि हम सैद्धान्तिक समाजशास्त्रियो की भाँति अनेक प्रकार के मानव समाजो मे सामान्य नियम ढूँढते हैं। भारतीय समाजशास्त्रियो मे प्रो. एस सी दुबे (S C Dubey) के सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन विषय-क्षेत्र मे सामाजिक तथा राजकीय सगठन, न्याय व्यवस्था आदि आते हैं। विभिन्न विचारो को दृष्टि मे रखकर यथार्थता को समझना आवश्यक है, जिसके लिए यह जानना चाहिए कि सामाजिक मानवशास्त्र वास्तव मे 'क्या अध्ययन करता है' और 'क्या अध्ययन नही करता है।'

सामाजिक मानवशास्त्र क्या अध्ययन करता है ?

इसके अन्तर्गत हम निम्नांकित बिन्दुओ को रख सकते हैं—

1 *सामाजिक मानवशास्त्र म सर्वप्रथम आदिकालीन समाजो का अध्ययन* शामिल है। आदिकालीन समाजो की सरचना, परम्पराओ, विश्वासो और प्रथाओ आदि का अध्ययन किया जाता है। साथ ही उन समाजो के सदस्या के व्यवहार की

उन प्रक्रियाओ का विश्लेषण किया जाता है जिनके फलस्वरूप विशेष प्रकार की सामाजिक घटनाएँ पैदा होती हैं ।

2 सामाजिक मानवशास्त्र का आदिकालीन समाजो का यह अध्ययन केवल एकपक्षीय नही होता, यह तुलनात्मक विश्लेषण पर आधारित होता है । सामाजिक मानवशास्त्री मानव समाजो की प्राचीन और अर्वाचीन सरचनाओ का अध्ययन करके यह तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं ।

3 सामाजिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत मानवो के उन व्यवहारो का अध्ययन होता है जिनका विकास प्राय विशेष परिस्थितियो के कारण होता है । इसके अतिरिक्त विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावो का अध्ययन भी इस शास्त्र मे किया जाता है । सामाजिक मानवशास्त्री यह देखने का प्रयास करता है कि समाज की सस्कृति किस प्रकार विकसित होती है, किस तरह उसका प्रसारण होता है और किस रूप मे वह अन्य सस्कृति को प्रभावित करती है पर इसका आशय यह नही है कि सामाजिक मानवशास्त्र को हम सस्कृतियो का अध्ययन मान लें । मूल रूप मे इसमे समाजो का अध्ययन है, सस्कृतियो का नही, पर चूँकि समाज व सस्कृति परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, अत समाज के अध्ययन के सिलसिले मे कुछ सांस्कृतिक प्रभावो का अध्ययन भी होता है ।

इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत उन सस्थागत सामाजिक सम्बन्धो, व्यवहारो, व्यवस्थाओ, मूल्यो आदि का अध्ययन सम्मिलित है जिन्हे वास्तविक अवलोकन द्वारा ज्ञात किया जा सकता है । इस शास्त्र का क्षेत्र वस्तुत अत्यन्त व्यापक है । यह मानव समाजो की समस्याओं का अध्ययन करता है और सभ्यता के स्तर से दूर समाजो की प्रक्रियाओ का अध्ययन इतिहास के रूप मे करता है । सामाजिक मानवशास्त्री यह देखता है कि किसी समाज मे मानव व्यवहार के मौलिक प्रतिमान क्या हैं और परिवर्तित परिस्थितियो मे व्यवहार के प्रतिमान किस तरह स्थिर रहते हैं । वह यह भी देखता है कि मानव समूह की क्रियाओ को तथा व्यक्ति की क्रियाओ को कौन नियन्त्रित करता है ? निष्कर्ष यही है कि सामाजिक मानवशास्त्र का केन्द्रीय विषय व्यक्ति और समाजो की क्रियाएँ हैं । इसका क्षेत्र व्यक्ति और समाज की पारिवारिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी क्रियाओ और व्यवस्थाओं तक व्यापक है । यह शास्त्र सभी मानव समाजो का अध्ययन करता है, तथापि आदिम समाजो के अध्ययन मे विशेष प्रयत्नशील रहता है क्योकि आदिम समाजो के सामाजिक जीवन, सामाजिक सम्बन्धो और सस्थाओ का विश्लेषण बडे महत्त्व का है । शनै -शनै आदिम समाज और सस्कृतियाँ लुप्त होती जा रही हैं, अत यदि उनका अध्ययन न किया गया तो मनुष्य आवश्यक अमूल्य ज्ञान से वचित रह जाएगा । उल्लेखनीय है कि सामाजिक मानवशास्त्र ऐसी सामाजिक सस्थाओ, सम्बन्धो, व्यवस्थाओ आदि का ही अध्ययन करता है जो वास्तविक तथ्यो पर आधारित खोज होते हैं ।

सामाजिक मानवशास्त्र क्या अध्ययन नही करता है ?

सामाजिक मानवशास्त्र का विषय-क्षेत्र यद्यपि अत्यन्त व्यापक है तथापि असीमित नही है। समाज व सस्कृति से सम्बन्धित अनेक बातें इसके अध्ययन क्षेत्र मे सम्मिलित नही होती। प्राय सामाजिक मानवशास्त्री इन बातो का अध्ययन नहीं करते—

1 सामाजिक मानवशास्त्री किसी सम्पूर्ण सस्कृति को लेकर नही चलते क्योकि यह कार्य सांस्कृतिक मानवशास्त्र का है। वे केवल संस्थागत सामाजिक व्यवहारो, सामाजिक सस्थाओ, सामाजिक सगठनो और व्यवस्थाओ आदि के अध्ययन तक अपने को सीमित रखते है। कारण स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा है, अन सांस्कृतिक मानवशास्त्र के सभी अध्ययन विषयो को अपने क्षेत्र मे नही समेट सकती।

2 सम्पूर्ण सस्कृति का अध्ययन न करने के कारण ही सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण (Whole) समाज का अध्ययन नहीं करता। इसके अन्तर्गत समाज के कुछ पहलुओ को ही चुना जाता है। यह सम्भव नही है कि सामाजिक मानवशास्त्री अथवा अन्य कोई वैज्ञानिक या समाजशास्त्री ससार के सम्पूर्ण भाग का अथवा सम्पूर्ण प्रकृति का अवलोकन करे या अध्ययन करे। इवान्स प्रिट्चार्ड ने इसीलिए लिखा है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत केवल कुछ सस्थागत व्यवहारो अथवा सस्थाओ (जैसे—परिवार, नातेदारी, धार्मिक विश्वास, राजनीतिक सगठन आदि) को लिया जाता है। इसी विचार की पुष्टि मे श्री बीटी (Beattie) ने लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र की विषय-सामग्री के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज अथवा समाजो से अधिक यथार्थत उन सस्थागत सामाजिक सम्बन्धो और व्यवस्थाओ को लिया जाता है जिनमे व सम्बन्ध व्यवस्थित रह सकें।"

3 सामाजिक मानवशास्त्री अपने को देश और काल की सीमा मे बाँध कर नही चलते। उन्होंने सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो और प्रत्येक देश और काल के समाजो का वर्णन और विश्लेषण किया है और आज भी वे ऐसा ही कर रहे है। प्राय आदिम समाजो के अध्ययन मे वे इसलिए अधिक सक्रिय रहते हैं क्योकि प्रथम तो ये समाज छोटे और सरल होते हैं जिनका आसानी से और सुसगठित तरीके से अध्ययन सम्भव होता है, तथा दूसरे, इनके अध्ययन से प्राप्त ज्ञान आधुनिक जटिल समाजो के अध्ययन मे सहयोगी सिद्ध होता है।

4 सामाजिक मानवशास्त्री विभिन्न समाजो की प्रक्रियाओ, जनसख्या, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, पारिवारिक व्यवस्थाओ आदि का अध्ययन समग्र रूप मे नही वरन् उनके अशो के रूप मे करते हैं।

ई ई इवान्स प्रिट्चार्ड (E E Evans Pritchard) ने सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का स्पष्टीकरण करते हुए जिन लक्षणो का वर्णन किया है उनसे 'सामाजिक मानवशास्त्र के विषय क्षेत्र' को जानने मे मदद मिलती है, जिनका उल्लेख इस प्रकार है—

(1) यद्यपि सामाजिक मानवशास्त्री सभी प्रकार के मानव समाजो का अध्ययन करता है, किन्तु प्रमुख रूपो मे आदिम समाजो के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान देता है। जैसे कि आदिम समाजो मे लोगो की भाषा, कानूनी व्यवस्था, धर्म, सामाजिक तथा राजनीतिक सस्थाएं।

(2) सामाजिक मानवशास्त्र किसी भी सामाजिक सस्था, सम्बन्ध एव व्यवस्था के विषय मे अध्ययन करता है जो कि उपलब्ध तथ्यो पर आधारित होती है।

(3) सामाजिक मानवशास्त्र सस्थागत सामाजिक व्यवहारो व सम्बन्धो तथा सस्थाओ का विज्ञान है जिसके अन्तर्गत समाज की जनसख्या आर्थिक स्थिति तथा वैधानिक एव राजनीतिक सस्थाएँ परिवार तथा नातेदारी की व्यवस्था, धर्म आदि का अध्ययन सामाजिक व्यवस्थाओ के एक मुख्य अग के रूप मे किया जाता है।

(4) सामाजिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत समाजो का अध्ययन होता है, न कि सस्कृतियो का। समाज की सम्पूर्ण सामाजिक सरचना मे विभिन्न ऐसी व्यवस्थाएं पाई जाती हैं जिनको नातेदारी व्यवस्था आर्थिक व्यवस्था तथा धार्मिक एव राजनीतिक व्यवस्था के नाम से जाना जाता है। इन्ही के अन्तर्गत अन्य सामाजिक क्रियाएँ जैसे विवाह, सरकार, धर्म आदि भी आते हैं।

उपर्युक्त विवरण मे सामाजिक मानवशास्त्र के प्रमुख लक्षणो का वर्णन करते हुए इवान्स प्रिट्चार्ड ने 'आदिम समाजो' के अध्ययन पर जोर दिया है। आदिम समाज (Primitive) किसे कहा जा सकता है और उसका अध्ययन हम क्यो करते हैं इसके लिए राल्फ पिडिंगटन (Ralph Piddington) के शब्दो मे ऐस समाजो की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख इस प्रकार किया है—

(1) आदिम समाजो मे प्राय लेखन या लिपि का अभाव रहकर व्यापक निरक्षरता पाई जाती है।

(2) ऐसे समाजो के सगठन का प्रमुख आधार गोत्र, ग्राम या जनजाति होता है न कि सभ्य समाजो की तरह राज्य, राष्ट्र या साम्राज्य।

(3) इस प्रकार के समाजो मे औद्योगिकी विकास निम्नतम पाया जाता है।

(4) आदिम समाजो में परस्पर सामाजिक सम्बन्धो का आधार रक्त-सम्बन्ध तथा स्थान होता है, जो कि सभ्य समाज की तुलना मे अधिक गठित पाया जाता है।

(5) आदिम समाजो मे आर्थिक विशेषीकरण तथा सामाजिक समूहो का अभाव पाया जाता है जो सभ्य समाजो मे नही होता।

संक्षेप मे जे एच० एम बीटी के अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन विषय-सम्पूर्ण समाज या समाजो से अधिक यथार्थ रूप म संस्थागत सामाजिक सम्बन्ध तथा वे व्यवस्थाएँ है जिनमे ये सम्बन्ध व्यवस्थित रह सकें।[1] इसके आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र के विषय क्षेत्र मे इन विषयो को सम्मिलित किया जाता है—(1) ऐसे संस्थागत सामाजिक सम्बन्ध घटनाएँ एव व्यवहार जो घटित होकर वास्तविक रूप म पाए जाते हैं, (2) ऐसे समाज के लोग इनको किन रूपो मे समझते हैं (3) इन सबसे सम्बन्धित जो सामाजिक, वैधानिक एव नैतिक प्रचलित रहते हैं। इस भांति सामाजिक मानवशास्त्र मे संस्थागत सामाजिक व्यवहारो, सामाजिक सम्बन्धो तथा सामाजिक व्यवस्थाओ एव मूल्यो के अध्ययन को महत्त्व दिया जाता है। एस एफ० नडेल के शब्दो म सामाजिक मानवशास्त्री प्राय अवलोकन (Observation) पर अधिक जोर देते है न कि (Extraction) पर, गहन विश्लेषण पर अधिक बल देते हैं, न कि विस्तृत खोजो पर (Wide Range Surveys) जिसमे उन तथ्यो का संग्रह सम्भव हो सके जो कि समाजशास्त्रीय अनुसन्धान से छूट जाते हैं और इतिहास के पृष्ठो मे लिखने से रह जाते हैं।[2]

हम आदिम समाजों का अध्ययन क्यों करते हैं ?
(Why do We Study Primitive Societies ?)

सामाजिक मानवशास्त्री आदिम समाजो का अध्ययन क्यों करते हैं ? जब हम इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करते हैं तो साथ मे यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि यदि सामाजिक मानवशास्त्री उतना ही गम्भीर अध्ययन एव परिश्रम सभ्य एव विकासशील समाजो की समस्याओ का विश्लेषण करने मे करें जितना कि वे आदिम समाजो मे करते हैं, तो अधिक लाभकारी परिणाम सामने आ सकते है। इस सम्बन्ध मे यह सोचना कि सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन आदिम समाजो तक ही सीमित है, गलत है। सामाजिक मानवशास्त्री आदिम समाजो का अध्ययन एक प्रकार की ऐतिहासिक घटना (Historical Accident) मात्र ही है। 18वी शताब्दी मे औद्योगिक क्रांति के समय यूरोप के लोगो ने अफ्रीका तथा एशिया के अनेक क्षेत्रो मे प्रवेश किया। पर्यटक, मिशनरी, व्यापारी इत्यादि ने उनके जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किए। इस तरह प्राच्य देशो तथा विश्व के अन्य सुदूर क्षेत्रो के सम्बन्ध मे यूरोप मे सत्य, अर्धसत्य और असत्य मिली-जुली सामग्री को एकत्रित किया गया। वैज्ञानिक अध्ययन के रूप से सामाजिक मानवशास्त्र ने यथार्थ को अपना लक्ष्य मानते हुए सामाजिक तथा सांस्कृतिक सत्य के निरूपण के लिए उसने अपनी विशिष्ट-प्रणाली विकसित की।

सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने स्पष्ट किया है कि आदिम समाजो की घटनाओ को समझना पहले-पहल कठिन होता है। यह परेशानी उनकी विचित्रता के कारण होती है। वर्तमान दृष्टिकोण से ऐसी घटनाओ को देखने पर हमे आश्चर्य

1 *J H M Beattie* British Journal of Sociology 1949, p 46
2 *S F Nadel* op cit, p 7

न हो ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा आदिम समाजों के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण कारण इन समाजों का अनोखापन है, जिसके प्रति लालसा जाग्रत होना स्वाभाविक ही है अर्थात् जिज्ञासा ही मानव को अज्ञात के प्रति आकर्षित कर प्रेरणा देती रही है। अतः एस एफ नडेल ने जोर देकर कहा है कि आजकल ऐसे आदिम समाजों के अनोखेपन या अपरिचितता (Strangeness of Primitive Society) पर नहीं अपितु तुलनात्मक अध्ययन द्वारा आदिम समाजों और हमारे सभ्य समाजों में समानता को ढूंढने पर अधिक जोर दिया जाता है। वास्तव में प्रायः यह निरूपण करने की इच्छा की, कुछ भी हो, किस प्रकार मनुष्य सर्वत्र समान है, स्पष्टतः प्रकट होती है।

अनेक मानवशास्त्रियों ने कुछ अन्य तर्क भी प्रस्तुत किए हैं जिनके आधार पर सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा आदिम समाजों का अध्ययन क्यों किया जाता है का उत्तर और भी विस्तार से समझा जा सकता है—

ई ई इवान्स प्रिट्चार्ड (E E Evans Pritchard) के शब्दों में आदिम समाजों के अध्ययन का महत्त्व उनके आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) के कारण है। आदिम समाजों में जीवन के अनेक तरीकों, मूल्यों तथा जीवन के ऐसे विश्वासों का आभास होता है जो हमारी दृष्टि में आराम एवं सम्पन्नता की न्यूनतम आवश्यकता से भी कम हैं। वे मानव-जीवन के साक्षात प्रतिबिम्ब हैं तथा उनमें मानव के सजीव रूप की अधिक स्पष्ट तथा स्वाभाविक स्वरूप की झलक मिलती है। क्लूखोन (Kluckhon) के अनुसार आदिम समाजों का अध्ययन हमारे लिए अपने सभ्य समाजों को समझने के लिए एक सरल मार्ग प्रस्तुत करता है, क्योंकि आदिम समाज बहुत सादे, सरल एवं छोटे होते हैं इसलिए उनके आधार पर किए गए अध्ययनों के सहारे अधिक विकसित समाजों का अध्ययन सरल हो जाता है।

आदिम समाजों के अध्ययन पर जोर देने का एक कारण यह भी है कि सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने से उनमें परिवर्तन आ रहे हैं जिससे आदिम समाजों का 'अपनापन' समाप्त होता जा रहा है। इसी के लिए इवान्स प्रिट्चार्ड ने स्पष्ट कहा है कि ये लुप्त होती हुई (Vanishing Social System) सामाजिक व्यवस्थाएँ अपूर्व संरचनात्मक विभिन्नताओं (Unique Structural Variations) को प्रस्तुत करती हैं जिनका कि अध्ययन मानव-समाज की प्रकृति को समझने में हमें काफी मदद करता है, क्योंकि संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन में समाजों की संख्या उतने महत्त्व की नहीं होती जितनी कि उनकी विभिन्नताओं की सीमाएँ।

डी एन. मजूमदार एवं टी एन मदान ने अपनी पूर्वोक्त कृति में इस प्रश्न की विस्तार से विवेचना की है कि 'हम आदिम समाजों का अध्ययन क्यों करते हैं।" डॉ. मजूमदार एवं मदान लिखते हैं—

"यदि यह कहा गया है कि मानवशास्त्र काल, स्थान और सांस्कृतिक स्तर का भेद किए बिना मनुष्य का अध्ययन करता है, यह तब पूछा जा सकता है कि

सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा मात्र आदिम समाज का अध्ययन ही क्यों किया जाता रहा है ?" मजूमदार का मानना है कि इस प्रकार के अध्ययनों के मूल में दो कारण उत्तरदायी हैं वे हैं—

1 ऐतिहासिक संयोग एवं बाद में,
2 जानबूझकर किए गए प्रयासों के द्वारा आदिम समाजों के अध्ययन को प्राथमिकता ।

मजूमदार का विचार है कि यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा विश्व के विभिन्न भागों की खोज के युग का आरम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी में हो गया था । इसी दौर में उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकी महाद्वीप की खोज हुई और अफ्रीका तथा सुदूर-पूर्व के कई भागों को भी खोज निकाला गया । अफ्रीकी नीग्रो श्रमिक पद्धति पर प्रधानत आधारित अमेरिकी बागान मालिकों ने यूरोप में भारी उद्योगों के विकास में कारगर योग दिया । अट्ठारहवीं शताब्दी तक आते-आते यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) का प्रवर्तन हो चुका था । बड़े पैमाने पर उत्पादन की क्षमता के लिए यह आवश्यक था कि कच्चा माल (Raw Material) और बाजार (Market) उपलब्ध हो । इस आवश्यकता पूर्ति हेतु ही यूरोपीय व्यापार को दूरवर्ती एवं व्यापक क्षेत्रों तक पहुँचना पड़ा । व्यापारियों की इन क्रियाओं का राजनीतिक क्रिया ने अनुगमन किया । भारत इसका श्रेष्ठ उदाहरण है ताकि माल की प्राप्ति एवं उत्पादित माल की खपत की समुचित व्यवस्था की जा सके । ये ही वे दिन थे जब इकाई मिशनरी धर्म परिवर्तन की क्रियाओं को व्यापक एवं प्रभावकारी बनाने में संलग्न थे तब व्यापारिक एवं राजनीतिक क्रिया से ये भी कैसे पीछे रह पाते ? दूसरे शब्दों में इन मिशनरियों ने भी अविलम्ब उक्त क्रियाओं का अनुगमन किया, और कहीं-कहीं तो ये इनसे भी पहले ही पहुँच गए । इन सभी क्रियाओं की सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि इन नए क्षेत्रों एवं यहाँ के लोगों की जीवन-पद्धति को किस हद तक समझा जा सका है । इसीलिए इन लोगों के रीति-रिवाजों और व्यवहारों के अध्ययन का प्रयास किया गया और इसी रूप में आदिम समाजों (Primitive Societies) के अध्ययन में रुचि रखने वाले पहले विद्यार्थी आगे आए ।[1]

इस प्रकार शोधार्थियों व्यापारियों एवं अन्य यात्रियों आदि के द्वारा खोजे गए इस प्रकार के आदिम या जनजातीय समाजों के अध्ययन का और राजनीतिक दार्शनिकों (Political Philosophers) का भी ध्यान गया । इस प्रकार के अध्ययनों में प्राथमिकता से अध्ययन करने वाले रूसो थे ।

डार्विन द्वारा लिखित ओरिजन ऑफ स्पिसीज (Origin of Species) पुस्तक जो 1859 में प्रकाशित हुई, इसे मानवशास्त्र तथा साथ ही सभी उद्विकासीय अध्ययनों का जन्म-वर्ष माना जा सकता है । डार्विन के ही समकालीन प्रमुख ब्रिटिश समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) थे । स्पेन्सर अपने स्वतन्त्र

1 *Majumdar & Madan*: op cit, p 22

अध्ययनो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुचे कि मानव के शारीरिक पक्षों की तरह ही उसके सामाजिक जीवन का भी उद्‌विकास (Evolution) होना है। उन्नीसवी शताब्दी के अनेक मानवशास्त्रियो ने आदिम समाजो का अध्ययन इस आशय से किया कि उन्हे मानवीनय सस्थाओ की उत्पत्तियो के सम्बन्ध म प्रमाण मिल सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमे उद्‌विकास (Evolution) का प्रभाव शनै शनै हो गया। इसी तरह, मानव की काल्पनिक प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी पूर्व प्रचलित अभिरुचि का आकर्षण भी समाप्त हो गया। अब मानवशास्त्री जानबूझकर आदिम समाजो (Tribal Societies) का अध्ययन करने लगे। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से परिभाषित करने पर मानवशास्त्र केवल आदिम समाजो के अध्ययन तक ही सीमित नही रहता। किन्तु यथार्थत कुछ नवीनतम शोध प्रवृत्तियो को छोड, मानवशास्त्री आदिम समाजो के अध्ययन में ही इतने सलग्न रहे हैं कि कुछ समीक्षको ने उन्हें बर्बरवादी भी कहा है। आदिम समाजो म मानवशास्त्र की इस अनन्य अभिरुचि के पीछे कुछ कारण भी रहे हैं। वैसे, अपनी विषयवस्तु के बारे मे मानवशास्त्री ने, एक वैज्ञानिक की तरह कभी कोई अपमान महसूस नही किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिम समाजो के अध्ययन का आकर्षण खीच लाया। अनेक मानवशास्त्रियो ने अनेक कारणो से आदिम समाजो का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणो से प्रारम्भ किया।

मजूमदार एव मदान कहते हैं कि समाजो के मानवशास्त्रीय अध्ययन के पीछे रहे कारणो को अवधारणात्मक एव अध्ययन प्रणालीय नामक दो भागो मे बाँटा जा सकता है। यदि कोई मानव-समाज का अध्ययन करना चाहे या इसके बारे मे कतिपय सामान्यीकरण (Generalization) स्थापित करना चाहे तो ऐसा वह तब तक भली प्रकार नही कर सकता जब तक कि सभी प्रकार के समाजो का अध्ययन वह न करे। मानव-समाज के अध्ययन मे लगे हुए किसी भी विज्ञान की अवधारणा जब तक परिपूर्णरूपेण प्रतिनिधि नही होते तब तक उन्हे हम स्वीकार नही कर लेते। क्लूखोन स्वय लिखने हैं कि आदिम समाजो का अध्ययन हमे स्वय को समझने मे सक्षम बनाता है।

इस प्रकार क्लूखोन की उक्ति का आशय यही है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि किसी भी विशाल इकाई के अन्तर्गत विद्यमान उप-प्रकारो का अध्ययन भी किया जाए ताकि उपयुक्त व्याख्यात्मक अवधारणा रची जा सके। इसी सन्दर्भ मे इवान्स प्रिट्चार्ड (Evans Pritchard) आदिम समाज के अध्ययन को अपने आप मे महत्वपूर्ण एव मूल्यवान मानते हैं।

कई बार ऐसा होता है कि एक ही व्यापक यथार्थ के दो भिन्न भिन्न पक्षो मे से एक सरल होता है दूसरा जटिल। एसी स्थिति मे, सरल प्रकार के अध्ययन के आधार पर ऐसे कुछ अध्ययन प्रणालीय उपकरण रचे जा सकते हैं जिनका उपयोग

जटिल प्रकार के अध्ययन हेतु किया जा सके। आदिम समाज की सरलता की कुछ विशेषताएँ होती हैं। इनम से प्रमुख हैं—सीमित भूक्षेत्र, कम जनसंख्या, प्रजातीय एव सांस्कृतिक सम्यता, अपेक्षाकृत कम जटिल सामाजिक समूह, सामान्य प्रौद्योगिकी अन्त क्रिया एव अन्त सप्रेषण धीमी गति, यथास्थितिवाद, नवाचार का अभाव, आदि। इसीलिए, आदिम के अध्ययन हेतु विधियाँ एव उपकरणो की रचना एव इनका उपयोग अधिक सुविधाजनक होना है। थोडे-बहुत सशोधनो के साथ इन्हीं को जटिल नगरीय समाज ने अध्ययन हेतु भी प्रयुक्त किया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि इस प्रकार प्रयत्न से कोई सरल से जटिल (Simple to Complex) मे परिवर्तन के सम्बन्ध मे पूर्वानुमान लगाने की चेष्टा भी कर सकता है। इस प्रकार आदिम समाज के अध्ययन के आधार पर, मानव समाज की प्रकृति के बारे म पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना भी सम्भव है। इसी उद्देश्य से भी आदिम समाज का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार के उपागम को रेमड फर्थ (Raymond Firth) सूक्ष्मदर्शी (Microsmic) अध्ययन कहते हैं, अर्थात् सूक्ष्मतत्व के अध्ययन द्वारा वृहतत्त्व (Macrocosm) का अध्ययन करना।

यही पर हमे इस बात का भी उल्लेख करना चाहिए कि मानवशास्त्रियो को इस प्रकार के आदिम समाजों के अध्ययन मे मूलतः किस प्रकार के सकटो का समाना करना पडता है। मानवशास्त्रियो का प्रमुख रूप से एक सकट यह है कि सामा यत यह देखा गया है कि आदिम समाज विलुप्त होते जा रहे हैं। इसके पीछे दो कारण रहे हैं अर्थात् आदिम लोगो एव आधुनिक लोगो के बीच के पारिस्परिक सम्पर्क का प्रभाव अधिकांशत विनाशकारी ही रहा है। आधुनिक मनुष्य ने आदिम मनुष्य के जीवन मे सांस्कृतिक, सामाजिक आर्थिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी, अनेक समस्याओ को जन्म दिया है। मजूमदार एव मदान ने इस समस्या के लिए टोडा (Toda) जनजाति का एक उदाहरण दिया है। आपके अनुसार—1820 म अग्रेज अधिकारियो के इस निर्णय के साथ कि वे दक्षिण भारत मे अपनी गर्मियाँ नीलगिरि पर्वत स्थलो मे बिताएँगे, इस क्षेत्र मे रहने वाले टोडाओ के बुरे दिन आ गए। इन अग्रज अधिकारियो के सम्पर्क के फलस्वरूप बाहरी सभ्यता की टोडाओ को मिलने वाली पहली सौगात थी रतिरोग। इसका टोडाओ पर इतना जबर्दस्त विनाशक प्रभाव पडा कि टोडा आज समाप्तप्राय हो चुके हैं।

आसाम की नागा जाति के कतिपय कबीलो के सामाजिक एव धार्मिक जीवन मे ईसाई मिशनरियो के हस्तक्षेप के फलस्वरूप भी कुछ समस्याएँ पैदा हुई हैं। सरल समाजो की एक विशेषता इनकी अन्तरग अन्तर-निर्भरता होती है। इसका आशय यह है कि जीवन का कोई भी पक्ष यदि बाह्य प्रभाव से आक्रांत होता है तो समूची जीवन-पद्धति चरमरा जाती है, और कभी कभी टूट-फूट भी जाती है। इमस पैदा होने वाली निराशा के फलस्वरूप ही प्रायः तथाकथित नाडी टूटने (जीवन लीला समाप्ति) की स्थिति पैदा हो जाती है। आस्ट्रेलिया, भारत, अफ्रीका एव अमेरिका मे, कही कही, प्रत्यक्ष विद्वेष के फलस्वरूप बहुत बडी संख्या मे आदिम लोगो का विनाश भी हुआ

है। दुर्भाग्य से, ऐसा उन्मूलन भूतकाल की ही बात नहीं है, आज भी अफ्रीका, मलाया एवं अन्यत्र इस खुले विद्वेष का बोलबाला है।

आदिम समाजों के लुप्त होने का जो दूसरा एवं अधिक शान्त तरीका रहा है, वह है ग्रामीण एवं नगरीय जीवन के साथ इनके सात्मीकरण (Assimilation) का। ग्रामीण एवं नगरीय समाजों के साथ आदिम समाजों के सात्मीकरण (Assimilation) से इन समाजों में गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। मानवशास्त्र के पारम्परिक विषयवस्तु के विलोपन की इस चुनौती को देखते हुए ही कई मानवशास्त्री ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए हैं।

समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र
(Sociology and Social Anthropology)

समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र दोनों ही पारस्परिक रूप से एक दूसरे से इतने अधिक अन्तर्सम्बन्धित हैं कि अनेक बार इन दोनों के मध्य किसी तरह का अन्तर स्थापित करना कठिन हो जाता है। क्योंकि दोनों ही सामाजिक विज्ञान हैं एवं दोनों का ही प्रमुख उद्देश्य मानव समाज का अध्ययन करके उनसे सम्बन्धित सामाजिक निर्णयों का प्रतिपादन करना है। समाजशास्त्र जहाँ स्वयं को सामाजिक सम्बन्धों अथवा मोटे रूप में समाज के अध्ययन से सम्बन्धित करता है वहीं सामाजिक मानवशास्त्र आदि मानव, उसके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि व्यवस्थाओं एवं इनके संगठन आदि के अध्ययन से सम्बन्धित है। किम्बॉल यंग ने 'रॉयल एन्थ्रोपोलोजी इंस्टीट्यूट' की एक कमेटी से कहा था कि "समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र दोनों ही मानव का समूहों में व्यवहार का अध्ययन करते हैं।"[1]

डॉ एस सी दुबे प्रमुख भारतीय मानवशास्त्री हैं और आपने लिखा है कि "समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के वैधानिक क्षेत्र से सम्बन्धित प्राचीन वाद-विवाद को पुनर्जीवित करना बेकार है अतः मैं यह अनुभव करता हूँ कि हमारे लिए भारतीय सामाजिक पद्धतियों के क्रमबद्ध अध्ययन के प्रयत्न का अब समय आ गया है तथा वह सामाजिक संरचना अर्थात् सामाजिक स्वरूपों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं के विस्तृत अंग होने के कारण यह वास्तविक रूप में समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र दोनों के ही अध्ययन क्षेत्र में आते हैं।"[2]

डॉ जी एस घुर्ये ने भी इन दोनों विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों पर अध्ययन किया है। आपका कहना है कि समाजशास्त्र का सामान्य रूप में मानव-

1 A Committee of Royal Anthropological Institute of Great Britain & Ireland Notes and Querries on Anthropology, p 36 and *Kimball Young* Introductory Sociology p 18

2 *S C Dubey* Methods and Problems of Social Anthropology in India in 'The Anthropologist' 1955

शास्त्रीय दृष्टिकोण के सिंहावलोकन मे हम यह देखते हैं कि इस प्रकार समाजशास्त्र इसके उपयुक्त अध्ययन के द्वारा मानवशास्त्री द्वारा प्राप्त तथ्यो का प्रयोग स्पष्टतया विस्तृत तथा मुख्य क्षेत्र के अवलोकन के लिए करता है। डॉ. घुर्ये का मानना है कि भारतीय समाजशास्त्री अध्ययनो के लिए मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण नितान्त आवश्यक है। स्वय घुर्ये लिखते हैं कि समाजशास्त्र के बिना मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण अन्य समाज के समाजशास्त्रो से अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1]

डॉ श्रीवास्तव लिखते है कि 'एक बडी सीमा तक सामाजिक मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र इस स्तर पर अविभेद्य पाए गए तथा 20वी शताब्दी के प्रारम्भ तक वे साथ-साथ चलते रहे थे। दुर्खीम के मानवशास्त्रीय विचार पर प्रभाव ने न केवल मानवशास्त्र में कर्मवाद की धारणा को प्रदर्शित किया, वरन् मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन जैसे प्रसिद्ध मानवशास्त्री भी दुर्खीम द्वारा अत्यधिक प्रभावित थे। आज तक भी ब्रिटेन के सरचनात्मक मानवशास्त्री दुर्खीम के समाजशास्त्रीय विचारो से अत्यधिक कृतज्ञ हैं।"[2]

डॉ श्रीनिवास समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के अन्तर को मिटा देना चाहते हैं क्योकि उनके अनुसार ऐसा करना समाजशास्त्र के लिए अधिक लाभदायक होगा। वे लिखते हैं कि "हम निश्चित रूप से समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र के बीच के अन्तर को दूर कर उन दोनो को तुलनात्मक समाजशास्त्र के अन्तर्गत सम्मिलित कर सकते है। सामाजिक मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र का सगठन वांछनीय है और समाजशास्त्र के लिए यह लाभदायक सिद्ध होगा।'[3]

इस प्रकार, सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र दो जुडवा बहिनें हैं, दोनो एक दूसरे के लिए उपयोगी एव लाभदायक रहे हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने 'डिस्क्रिप्टिव सोश्योलोजी' नामक अपनी पुस्तक मे और हॉब्हाउस, ह्वीलर तथा जिन्सबर्ग ने अपनी पुस्तक 'द मेटीरियल काल्चर एण्ड द सोश्यल इन्सटीट्यूशन ऑफ द सिम्पलर पीपुल' मे मानवशास्त्रीय तथ्यो का भरपूर प्रयोग कर लाभ उठाया है। यद्यपि समाजशास्त्र और सामाजिक मानव शास्त्र मे अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है फिर भी ये दोनो ही अलग-अलग विषय हैं। वास्तव मे देखा जाए तो समाज शास्त्र और मानवशास्त्र के बीच के अन्तर को सामाजिक मानव शास्त्र ही पाटता है।

1 *G S. Ghurye* Anthropological Approach to the Study of Sociology in Science and Culture Vol VII (1940–42) p 477–479
2 *Dr S K Srivastava* Towards Integrated Approach in Social Sciences in Journal of Social Sciences, Vol I No 1, Jan 1958, p 17
3 *Dr M N Srinivas* 'Social Anthropology and Sociology' in Sociological Bulletin Vol I, No 1, 1952 p 36

विश्व मे समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। ब्रिटेन मे सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा के रूप मे देखा जाता है, जबकि अमेरिका मे सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र अध्ययन के दो विशिष्ट क्षेत्र हैं। यूरोप मे एक दूसरे ही प्रकार का दृष्टिकोण है। वहाँ मानवशास्त्र शब्द सामान्यतया भौतिक मानवशास्त्र के सीमित अर्थ मे ही प्रयुक्त होता था।[1] जबकि ब्रिटिश और अमेरिकी विद्वान इसे सामाजिक और सांस्कृतिक मानवशास्त्र कहते हैं। इसे व्यापक रूप से नृजाति विज्ञान कहा जाता था। ब्रिटेन मे समाजशास्त्र और मानवशास्त्र मे निकटता का एक प्रमुख कारण यह है कि वहाँ रेडक्लिफ ब्राउन एवं इमाइल दुर्खीम के विचारों का प्रभुत्व है।

रेडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक मानवशास्त्र की विषय वस्तु के रूप मे सामाजिक संरचना को अपना आधारभूत क्षेत्र माना था एवं संस्कृति तथा सामाजिक जीवन का उल्लेख किया था। रेडक्लिफ ब्राउन का अनुसरण करते हुए ब्रिटिश मानवशास्त्री सामाजिक संरचना को अपना आधारभूत क्षेत्र मानते थे जबकि अमेरिकी मानवशास्त्री संस्कृति के अध्ययन पक्ष मे थे। संस्कृति का सामाजिक व्यवस्था से एक विशेषता के रूप मे अध्ययन किया जाता था। समकालीन ब्रिटिश मानवशास्त्र मे संरचना मे अधिकतर संस्कृति का स्थान ग्रहण करता है।

सामाजिक मानवशास्त्र से सामान्यतः आदिम समाजो एवं लोगो के अध्ययन मे ही रुचि रखी जाती है, यद्यपि वे इस बात का दावा करते हैं कि उनके अध्ययन की विषय-वस्तु समस्त मानव संस्कृतियों एवं समाजो का अध्ययन है। सामाजिक मानवशास्त्र वस्तुतः आदिम समाजो मे पाए जाने वाले लोगों के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करता है तथा इन लोगो की विभिन्न व्यवस्थाओ जैसे आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था, कानूनी व्यवस्था आदि का अध्ययन करता है। यद्यपि अमेरिका एवं अधिक उन्नत समाजो मे मानवशास्त्रियों ने आदिम समाजो के अलावा अन्य समाजो के अध्ययन भी किए हैं। वर्तमान मे तो अनेक स्थानो पर सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा ग्रामीण समुदायो (Rural Communities) के अध्ययन की प्रवृत्ति का भी पर्याप्त विकास हुआ है।

इवान्स प्रिट्चार्ड ने अपनी प्रमुख कृति 'सोश्यल एन्थ्रोपोलोजी' मे लिखा है कि "सैद्धान्तिक रूप में सामाजिक मानवशास्त्र सभी मानवसमाजो का अध्ययन है न कि केवल आदिम समाजों का। यद्यपि व्यवहार मे और सुविधा की दृष्टि से अभी तक उसने अपना ध्यान अधिकांशतः आदिम समाजो और उनकी संस्थाओ के अध्ययन की ओर केन्द्रित रखा है। जबकि सामाजिक मानवशास्त्र आदिम समाजो मे विभिन्न प्रकार की संस्थाओ और उनके बीच पाए जाने वाले सम्बन्धो का अध्ययन करता तब साथ ही वह सदैव ऐसे अध्ययन से प्राप्त सामग्री की तुलना अपने समाज

1 मान्द्रे बेतेइ : तुलनात्मक समाजशास्त्र पर निबन्ध, पृष्ठ 3.

म पाई जाने वाली सस्थाओ के सम्बन्ध मे उपलब्ध सामग्री से करता है। इस दृष्टि से सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनो की उस शाखा के रूप मे माना जा सकता है जो प्रमुखत अपने को आदिम समाजो के अध्ययन मे लगाती है। जब लोग समाजशास्त्र के बारे मे बोलत है तो साधारणत उनके मस्तिष्क म सभ्य समाजो म विशिष्ट समस्याओ के अध्ययन होत हैं। यदि समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग हम इस अर्थ मे करें, तब सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र मे केवल क्षेत्र का अन्तर है। लेकिन वास्तविकता यह है कि इन दोनो मे पद्धति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण अन्तर भी पाए जाते है। इतना अवश्य है कि सामाजिक मानवशास्त्र के द्वारा विशेषत आदिम समाजो का अध्ययन किया जाता है जबकि समाजशास्त्र के द्वारा आधुनिक जटिल सभ्य समाजो का। सामाजिक मानवशास्त्र मे समाजो का उनकी सम्पूर्णता मे अध्ययन किया जाता है। समाजिक मानवशास्त्री आदिम लोगो की अर्थ व्यवस्था का उनके परिवार और नातेदारी सगठनो का, उनकी प्रौद्योगिकी तथा कलाओ का सामाजिक व्यवस्थाओ के भागो के रूप मे अध्ययन करता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री पृथक् पृथक् समस्याओ का जैसे विवाह-विच्छेद, वेश्यावृत्ति, अपराध, श्रमिक असतोष आदि का अध्ययन करता है।"

इस प्रकार मानवशास्त्र समाजशास्त्र के काफी हद तक नजदीक आ जाता है। यदि हम मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धो को देखने का प्रयास करे तो हमे पता चलेगा कि यह सम्ब ध आरम्भ से ही काफी घनिष्ठ रहा है। इनमे अन्तर मूलत उस समय उभर कर आया जब मानवशास्त्र मे प्रकार्यात्मक उपागम (Functional Approach) के आधार पर अध्ययन किए जाने लगे जब कि समाजशास्त्र ने ऐतिहासिक उपागम (Historical Approach) के आधार पर अध्ययन किया जिनका सम्बन्ध प्रमुखत सामाजिक विकास की समस्याओ से रहा है। वर्तमान म अनेक विद्वान आनुभविक अध्ययनो के आधार पर एव उसमे प्रयुक्त पद्धतियो के आधार पर इन दोनो विज्ञानो के मध्य एक अन्तर रेखा स्पष्ट करते हैं। यह अन्तर मूलत दोनो के अध्ययन के उद्देश्यो से सम्बद्ध है। सामाजिक मानवशास्त्रियों के लिए यह क्षेत्रीय कार्य मूलत अनिवार्य रहे हैं तथा वे स्वय को छोटे समाजो के अध्ययन मे लगाए रखते हैं। अत इन सबको देखते हुए ऐसे समाजो क अध्ययन के लिए जिन पद्धतियो का प्रयोग किया गया उनमे इन समाजो को समग्र रूप मे देखने की पद्धतियाँ प्रमुख थी। यह अध्ययन वस्तुत अधिक वैज्ञानिक एव वस्तुनिष्ठ थे क्योकि अध्ययन करने वाले मानवशास्त्री प्रमुखत दूसरे समाजो के थे।

वर्तमान मे यह स्थिति काफी सीमा तक परिवर्तित हो गई है। अब अनेक आदिम समाज पाश्चात्य विचार एव नवीन प्रौद्योगिकी के परिणाम स्वरूप परिवर्तित हो रहे हैं। जनजातीय समाज भी अब पहले जैसे नहीं हैं। जनजातीय समाज अनेक सामाजिक एव राजनीतिक परिवर्तनो से गुजर रहे परिणामस्वरूप सामाजिक

मानवशास्त्री को स्वय को इन समाजो की ऐसी समस्याओ के अध्ययन मे लगाना पडता है जिनका सामना समाजशास्त्री को अपने स्वय के समाज का या एक ही सभ्यता से सम्बन्धित समाजो का अध्ययन करते समय करना पडता है।

समाजशास्त्र एव सामाजिक मानवशास्त्र दोनो ही शब्दावली (Terminology) पद्धति, (Method), उपागम (Approach) आदि की दृष्टि से एक-दूसरे से काफी सीमा तक अलग अलग हैं। इन दोनो विज्ञानो मे प्रमुख्त निम्नांकित अन्तर देखा जाता है—

(1) समाजशास्त्र एव सामाजिक मानवशास्त्र दोनो ही विषय सामग्री की दृष्टि से अलग-अलग हैं। समाजशास्त्र का सम्बन्ध वर्तमान समाजो के अध्ययन से अधिक है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र की रुचि आदिम समाजो के अध्ययन मे अधिक है। क्लूखोन लिखते हैं कि "समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण व्यावहारिक एव वर्तमान की ओर झुका है जबकि मानव शास्त्रीय दृष्टिकोण शुद्ध ज्ञान और भूत की ओर है।"

(2) समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र मे पद्धति शास्त्रीय (Methodological) दृष्टिकोण से भी काफी अन्तर पाया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र में प्रमुखतः सहभागिक अवलोकन पद्धति का प्रयोग किया जाता है। मानवशास्त्री को आदिम समुदाय का अध्ययन करना होता है, वह उसमे जाकर बस जाता है, साल दो साल उसी समुदाय के लोगो का गहन अध्ययन करता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री को निर्देशन की समस्या का सामना करना पडता है, उसे अनुसूची या प्रश्नावली आदि बनाकर सूचनाएँ एकत्रित करनी पडती हैं तथा प्रलेखो एव साँख्यिकीय पद्धति का सहारा लेना पडता है।

(3) समाजशास्त्र सामाजिक दर्शन (Social Philosophy) एव सामाजिक नियोजन (Social Planning) दोनो ही से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। अर्थात् समाजशास्त्र न केवल इस बात का पता लगाने का प्रयत्न करता है कि संस्थाएँ कैसे कार्य करती हैं वरन् यह भी बतलाता है कि उन्हे कैसे कार्य करना चाहिए तथा भविष्य की योजना के लिए भी सुझाव देता है। इसके विपरीत सामाजिक मानवशास्त्र इस प्रकार के विचारो से स्वय को दूर रखता है।

(4) समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओ (Social Problems) का अध्ययन भी करता है और उनके समाधान के लिए आवश्यक सुझाव भी देता है। लेकिन सामाजिक मानवशास्त्र न तो समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करता है और न ही किसी प्रकार के सुझाव देता है।

(5) समाजशास्त्र समाज का सर्वांगीण अध्ययन नहीं करता वरन् यह विशेष समाजकी विशिष्ट समस्याओ जैसे विवाह विच्छेद, गन्दी बस्ती, टूटते परिवार, श्रमिक हडताल आदि का अध्ययन करता है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र मानव-समाज का सम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करता है। वह एक समाज की आर्थिक व्यवस्था,

राजनीतिक एव विधि सम्बन्धी समस्याओ, पारिवारिक सगठन, धर्म, कला, अविष्कार, उद्योग-धन्धो आदि पहलुओ का एक साथ अध्ययन करता है।

(6) समाजशास्त्र अध्ययन सामग्री के उतना निकट नही हो पाता जितना कि सामाजिक मानव-शास्त्र क्योकि सामाजिक मानवशास्त्र कठोर क्षेत्रीय कार्य मे विश्वास रखता है। एक लघु समुदाय के अध्ययन मे भी वह बहुत लम्बी अवधि तक क्षेत्रीय कार्य करता है। अध्ययन की लम्बी अवधि अनुसधानकर्ता मे अन्तरदृष्टि पैदा करती है जिसको समाजशास्त्र मे बहुत कम देखा जाता है।

भारत मे समाज शास्त्र एवं सामाजिक मानव शास्त्र
(Sociology and Social Anthropology in India)

भारत मे समाजशास्त्र एव सामाजिक मानवशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धो को किस दृष्टि से देखा जाए ? , मे यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत मे समाजशास्त्र एव सामाजिक मानवशास्त्र विशेषकर ब्रिटेन से लाए गए ब्रिटिश विद्वानो न जो भारत म रहन थे व जो भारत मे भ्रमण के लिए आए थे उन्होन ही इन विषयों को ऊपर उठाने मे सहायता की। आगे चलकर विदेशो मे, मुख्यतः ब्रिटेन और सयुक्तराज्य अमेरिका मे, प्रशिक्षित भरतीय विद्वानो ने भारत मे समाज और सस्कृति के अध्ययनो को विकसत करने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। जबकि इन विद्वानो ने भारतीय सस्कृति और समाज विषयक हमारे ज्ञान मे यथेष्ठ वृद्धि की थी, उनके सामान्य सिद्धान्त 'अनुकूल' कुछ अपवादो को छोडकर, अधिकत्तर ब्रिटेन और अमेरिका के विद्वानो के ही थे।[1]

आन्द्रे बेतेइ ने 'तुलनात्मक समाजशास्त्र पर निबन्ध' नामक कृति मे भारत मे समाजशास्त्र एव मानवशास्त्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। आप लिखते हैं कि "शैक्षिक विषयो के रूप में, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र, भारत मे प्राय आरम्भ से ही अलग अलग माने जाते थे। भारतीय विश्वविद्यालयो मे आज से पचास वर्ष से कुछ अधिक समय से इन्हे पृथक्-पृथक् विषयो के रूप मे पढाया जाने लगा था। बम्बई विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्र के अध्यापन से प्रारम्भ किया और कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मानवशास्त्र से। दो दशको से भी अधिक काल तक ये दोनों विश्वविद्यालय इन विषयो के अध्यापन तथा शोध-कार्य के प्राथमिक केन्द्र बने रहे। आगे चलकर, जब नए विभाग खुलने लगे, पूर्वी क्षेत्र मे विश्वविद्यालयों ने मानव शास्त्र को चुना और पश्चिमी क्षेत्र मे स्थित विश्वविद्यालयो ने सामान्यत समाजशास्त्र को। अनेक नए विश्वविद्यालयों मे अब इन विषयो के अध्यापन के लिए पृथक् पृथक् विभाग हैं, यद्यपि कलकत्ता मे केवल मानवशास्त्र का विभाग है और बम्बई मे केवल समाजशास्त्र का विभाग है।"

1 आन्द्रे बेतेइ : पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 15-16.

`मानवशास्त्र सामान्यत' विज्ञान सकायो मे पढाया जाता है, जबकि समाज शास्त्र कला (या समाजशास्त्रो के) सकायो मे पढाया जाता है। यह प्रभेद शोध कार्य की सस्थाओ तथा समूहो क सगठन क क्षेत्र मे भी ले जाया गया है। भारतीय विज्ञान काग्रस मे पुरातत्त्व विज्ञान और मानवशास्त्र के विभाग हैं, परन्तु समाज विज्ञान का कोई भी पृथक् विभाग नही है। अग्रेजो के जमान से ही 'भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण' जैसा विभाग बना हुआ है। इसी प्रकार पुरातत्त्व विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, प्राणि विज्ञान, भू विज्ञान के क्षेत्रो मे भी सगठन है। परन्तु समाजशास्त्रीय शोध-कार्य के लिए इस प्रकार का कोई भी सगठन नही है।

मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के मध्य जो विभाजन अर्द्धशताब्दी परन्तु पूर्व प्रस्तावित किया गया था वह आज भी औपचारिक सगठन मे प्रत्यक्ष प्रकट हो रहा है। यह विभाजन उस जमाने मे ब्रिटेन म भी दोनो विषयो के बीच मौजूद था। मानवशास्त्री जनजातियो मे रीति रिवाजो का अध्ययन करने वाले थे और समाजशास्त्री भारतीय समाज के उन्नत वर्गों का अध्ययन करने वाले थे। यह कोई इत्तफाक नही था कि डब्ल्यू एच आर रिवर्स कलकत्ता मे मानवशास्त्र विभाग के पहले अध्यक्ष नियुक्त किए गए थे, और बम्बई मे समाजशास्त्र का विभाग, शहरी समाजशास्त्री पैट्रिक जीडस द्वारा प्रारम्भ किया गया था। मानव समाज के कोई भी दो अध्येता, अपने वास्तविक काय मे इतने विलग नही थे जितने कि रिवर्स और जीड्स।

परन्तु औपचारिक सगठन का स्वरूप जो भी हो मानव सभ्यता और सस्कृति के अध्ययन के वास्तविक विकास ने, भारत मे, पश्चिमी देशो से एकदम ही' पृथक् मार्ग का अनुसरण किया। हमने देख लिया है कि फ्रांस मे किस तरह, आन्ने सोशियोलोजिक द्वारा समाज तथा सस्कृति के सभी अध्ययनो की एकता के प्रयत्नो के बावजूद, मानव-जातिशास्त्र और समाजशास्त्र के मध्य विभाजन ने अपने को प्रभावपूर्ण सिद्ध किया था। दूसरी ओर, भारत मे, समाज मानवशास्त्रियो और समाजशास्त्रियो ने, औपचारिक शैक्षिक सरचना या सेटअप मे इन्हे पृथक् करने के बावजूद निरन्तर अपनी भूमिकाओ का परस्पर आदान प्रदान किया है।

जब हम भारत मे समाजशास्त्रियो और समाज-मानवशास्त्रियो द्वारा किए हुए कार्य का परीक्षण करते हैं तब इन दो विषयो को विभाजित करने वाली अस्पष्ट और मनमानी रेखा एकदम सामने आ जाती है। वे विद्वान, जिन्होने भारतीय समाज और सस्कृति को हृदयगम करने मे सर्वाधिक योगदान किया है, सही अर्थों मे वे ही हैं जिन्होने भारतीय समाज के आदिम और उन्नत विभागो मे उपखण्डी करण की निरन्तर उपेक्षा की है। समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के मध्य विभेद का यथार्थ कारण यही उपखण्डीकरण है। जहाँ एक बार यह हटा दिया गया, वही यह अन्तर नही ठहर पाएगा।

यह एक मनोरजक तथ्य है कि जी एस घुर्ये जिनको सम्भवतः एक भारतीय विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र के प्रोफेसर के रूप मे कार्य करने का सुदीर्घतम

ग्रौर सफल ग्रनुभव प्राप्त है, स्वय एक मानवशास्त्री डब्ल्यू एच आर रिवर्स द्वारा प्रशिक्षित किए गए थे। घुर्ये की रुचियो का क्षेत्र तथा उनके बीच निरन्तरता उनके प्रबन्धो के सकलन 'एन्थ्रोपो-सोशियोलोजिकल पेपर्स' मे झलकती है।

घुर्ये ने समकालीन भारतीय समाज के सभी वर्गो के अध्ययन को न केवल सचालित एव प्रोत्साहित ही किया है, उन्होने पारस्परिक भारतीय सभ्यता की आधारभूत विशिष्टताओ का परीक्षण करने की भी चेष्टा की है। 'जातियो' के विभिन्न 'अवतरणो' पर लिखी गई उनकी पुस्तक मे ऐसे अध्ययनो का सकलन है, जो ब्रिटेन और अमेरिका मे मानवशास्त्रियो, समाजशास्त्रियो एव इतिहासकारो द्वारा सामान्यत पृथक् पृथक रूप से हाथ मे लिए जाते हैं। इस अर्थ मे; घुर्ये की पुस्तक आने सोशियालोजिक के नमूने मे सटीक बैठती है, केवल इस अन्तर के साथ कि फ्रांसीसी समाजशास्त्री सारे ससार के समाजो का अध्ययन कर रहे हैं जबकि घुर्ये ने अपने अध्ययनो को प्रमुखत एकमात्र मे नहीं—भारत तक सीमित रखा था।

एम एन के बोस के, जिनका कलकत्ता के मानवशास्त्रियो मे वही महत्वपूर्ण स्थान है जो बम्बई के समाजशास्त्रियो मे घुर्ये का है, कार्यों मे भी इसी सम्मिश्रण को पाते हैं। जनजातियो मे बोस की स्थाई अभिरुचि थी, और यही अभिरुचि पहले उनका कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानवशास्त्रीय विभाग की ओर खीच ले गई थी। इसी अभिरुचि का उन्होने आगे चलकर एन्थ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया के निदेशक और परिगणित जातियो और परिगणित जनजातियो के आयुक्त के रूप मे काफी विकास किया। परन्तु भारत के जनजातीय लोगो के अध्ययन के लिए किसी पृथक् शास्त्र की जरूरत नही है, यह मानकर उन्होन उपमहाद्वीप के जनजातीय और अजनजातीय लोगो के बीच की आवश्यक समानताओ और निरन्तरताओ पर जोर दिया और चूँकि वे वैज्ञानिक विधियो की एकता पर जबर्दस्त विश्वास करते थे इसलिए उन्होन एक ही विधि को भारतीय समाज के सभी 'खण्डो'—आदिम वर्गो और उन्नत वर्गों के अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया।

समकालीन भारतीय समाज के जो विश्लेषण बोस ने प्रस्तुत किए व क्षेत्रीय कार्यों के महत्वपूर्ण समूहो पर आधारित थे। उनका विश्वास था कि मानवशास्त्र एक क्षेत्र विज्ञान है, और उन्होने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन के लिए प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण पर बुनियादी जोर दिया था। उनका क्षेत्र कार्य, समकालीन ब्रिटिश और अमेरिकन मानवशास्त्रियो के क्षेत्र कार्य से जरा भिन्न है। उन्होने 'गहन' क्षेत्र कार्य की तुलना मे, विस्तृत क्षेत्र कार्य को वरीयता दी, और उनकी धारणा थी कि उस भारतीय समाज वैज्ञानिक की जरूरतो को पूरा करने के लिए यह अधिक उपयुक्त है, जो अपने ही समाज के भिन्न भिन्न खण्डो का अध्ययन कर रहा हो। इसने बोस को अपने क्षेत्र कार्य को एक ऐसे व्यापक क्षेत्र मे फैलाने मे मदद

दी, जिसके एक छोर पर उडीसा की जुग्राङ जनजाति का ग्रन्वेषण है ग्रौर दूसरे छोर पर कलकत्ता महानगर का विस्तृत सर्वेक्षण ।

बोस के ग्रध्ययन की बनावट, उनकी पुस्तक हिन्दू समाजेर गारान से पूर्णता के साथ झलकती है । इसमे मानव-जाति-विज्ञान, समाजशास्त्र ग्रौर भारत-विद्या के परिप्रेक्ष्यो का सम्मिश्रण उद्घाटित होता है । बोस की यह पक्की राय थी कि भारतीय समाज के किसी भी एक ग्रग को पूर्णत समझने के लिए, उसके ग्रौर सम्पूर्ण समाज के सम्बन्धो को देख लेना चाहिए । इसलिए, पहाडो से जनजातियो का ग्रध्ययन मैदानी क्षेत्रो की जातियो के ग्रध्ययन को ग्रपने मे शामिल करता है, ठीक वैसे ही जैसे कि गाँवो मे जातियो का ग्रध्ययन नगरो के 'वर्गों' के ग्रध्ययन की ग्रोर ले जाता है ।

दृष्टिकोणो की यही एकता ग्रगली पीढी के भारतीय विद्वानो—विशेषत' एम एल श्रीनिवास, एस सी· दुबे ग्रौर रामकृष्ण मुखर्जी—के ग्रध्ययनो ग्रौर काम मे भी देखी जा सकती है । श्रीनिवास ने, पहले घुर्ये ग्रौर फिर रेडक्लिफ ब्राउन का शिष्य होने के नाते समाज-मानवशास्त्र ग्रौर समाजशास्त्र की एकता पर निरन्तर जोर दिया है । दुबे ग्रौर मुखर्जी दोनो मानव-विज्ञान के विभागो मे प्रशिक्षित हुए, परन्तु उन दोनो ने ग्रपने ग्रापको उन समस्याग्रो मे लगा दिया, जिन्हे पश्चिम मे समाजशास्त्रीय समस्याएँ कहा जाता है । दुबे ने ग्रधिकारतन्त्र, सचार ग्रौर ग्राम सामाजिक परिवर्तन का ग्रध्ययन किया है । मुखर्जी ने, भारतीय समाज के विभिन्न पहलुग्रो के ग्रध्ययन के लिए, परिष्कृत, परिमाणवाचक तकनीको का प्रयोग किया है । इसके पूर्व उन्होने ब्रिटेन मे सामाजिक गतिशीलता के ग्रध्ययन मे भी योगदान दिया था ।[1]

टी बी बाटोमोर ने भारत के सन्दर्भ मे समाजशास्त्र एव मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीय समाज न तो ग्रादि समाजो के समान पूरी तरह से पिछडा हुग्रा है ग्रौर न ही ग्रौद्योगिक समाजो के समान पूर्णतः विकसित । ऐसे समाजो मे जिसका कि भारत एक ज्वलन्त उदाहरण है, समाजशास्त्र एव मानवशास्त्र के मध्य ग्रधिक ग्रन्तर कोई ग्रर्थ नही रखता है । भारत मे समाजशास्त्रीय ग्रनुसधान चाहे वे जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित हो, ग्राम समुदायो से ग्रथवा ग्रौद्योगीकरण की प्रक्रिया तथा उसके प्रभावो से सम्बन्धित हो, समाजशास्त्रियो एव मानवशास्त्रियो द्वारा किए जाते हैं तथा किए भी जाने चाहिए । वास्तव मे भारत मे इन दोनो विज्ञानो के बीच परम्परागत विभाजन को समाप्त करने हेतु वास्तविक ग्रवसर है । यह सही है कि समाजशास्त्रियो का मौजूदा प्रशिक्षण जो कि ग्रधिकांश पश्चिमी देशो मे प्राप्त किया जाता है, उपर्युक्त प्रवृत्ति के विरुद्ध है । इसका कारण यह है कि पाश्चात्य देशो मे दोनो विज्ञानों

1 मान्टे बेतेइ : पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 16–19.

मे विभाजन आज भी पाया जाता है। लेकिन भारत मे जैसे जैसे सामाजिक विज्ञानों का विकास और विदेशी शैक्षणिक स्रोतो पर निर्भरता कम होती जा रही है उसके साथ दोनो विज्ञानो की पद्धतियो और अवधारणाओ मे वास्तविक एकीकरण (समन्वय) के अवसर बढते जा रहे हैं।[1]

आन्द्रे बेतेइ ने लिखा है कि 'हम चाहे समाज-मानवशास्त्र और समाजशास्त्र को एक ही विषय मानें, अथवा एक ही विषय की दो शाखाएँ मानें या दो पृथक् विषय समझें, यह सब अन्तत इस बात पर निर्भर करता है कि हम मानव समाज और मानव संस्कृति की विविधताओ पर क्या सोचते है। यदि हमे यह लगता है कि उनकी समानताएँ उनकी विषमताओ की तुलना मे अधिक मौलिक है तो हम समाजशास्त्र और समाज मानवशास्त्र की एकता को स्वीकार करने के लिए अधिक राजी होगे। यदि इसके विपरीत हम यह सोचते है कि उनकी विषमताएँ, उनकी समताओ की तुलना मे अधिक मौलिक है तो हम इन दो विषयो (शास्त्रो) के मध्य के अन्तर को स्वीकार करने के लिए अधिक तैयार होगें।'[2]

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ
(Methods of Social Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह ऐसे सर्वव्यापक नियमो की खोज करना है जो मनुष्य के सामाजिक व्यवहार मे नियमितता का बनाए रखत हैं। सामाजिक मानवशास्त्र इस दृष्टि से एक प्रकार का तुलनात्मक समाजशास्त्र (Comparative Sociology) है, एव मानवशास्त्र की सभी शाखाएँ मानव के विभिन्न पहलुओ के अध्ययन से सम्बन्धित हैं, अत सामाजिक मानवशास्त्र भी प्रयोग सिद्ध एव मौलिक प्रविधियो का प्रतिपादन करता है, जिनकी सहायता से निर्भर योग्य व प्रमाणिक ज्ञान को प्राप्त किया जा सके एव सामाजिक यथाथ के बारे मे वास्तविक ज्ञान प्राप्त हा सके तथा भविष्यवाणी की जा सके। किसी भी विषयवस्तु के बारे म वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना नि सन्देह प्रारम्भ स ही प्रमुख समस्या रहा है क्योकि किसी वैज्ञानिक आधार के बिना सवमान्य वास्तविक ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता। श्री पाँयकर ने लिखा है– 'सब लोग आपसे कहग कि आप सही हैं, यह प्रमाणित करने का प्रयत्न कीजिए, मैं आपसे यह कहूँगा कि आप गलत हैं यही प्रमाणित करने का आप प्रयास करें।' वस्तुत जिन विधियों से एक विज्ञान इन वास्तविक तथ्यो को सग्रहित करता है, उनका वर्गीकरण करता है और उससे सामान्य निष्कर्ष निकालता है तथा वैज्ञानिक नियमो का प्रतिपादन करता है उस हम विज्ञान की पद्धति (Method of Science) कहते हैं।

सामाजिक मानवशास्त्र मे प्रारम्भ से ही आदिम समाज एव अशिक्षित तथा पिछडे हुए जन समूहो का अध्ययन किया गया है। 18वी एव 19वी शताब्दी मे सामाजिक मानवशास्त्र मे तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method) का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। इस समय के प्रमुख मानवशास्त्रियो ने तुलनात्मक एव एतिहासिक विधियो द्वारा धर्म, परिवार, नातेदारी एव अन्य सामाजिक सस्थान के क्रमिक विकास का अध्ययन किया है।

1 *T B Bottomore* Sociology A Guide to Problems and Literature, p 58
2 आन्द्रे बेतेइ. पूव उद्धृत, पृष्ठ 23

18वी शताब्दी मे ही डार्विन के उद्विकास (Evolution) की अवधारणा के प्रति विकासवादियो ने उद्विकासवादी पद्धति (Evolutionary Method) को प्रस्तुत किया जिसके द्वारा सामाजिक सस्थाओ के उद्भव एव उनके क्रमिक विकास को जाना जा सकता है।

बाद में रेडक्लिफ ब्राउन ने ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) का विरोध किया। उनका कहना था कि सामाजिक मानवशास्त्री जिस ऐतिहासिक रीति से अपने अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं वह वास्तव मे इतिहास नही है, अपितु इतिहास के नाम पर केवल अनुमान मात्र है, एवं बाद मे ब्राउन तथा उनके समर्थको ने ऐतिहासिक पद्धति के स्थान पर प्रकार्यात्मक पद्धति (Functional Method) को सामाजिक मानवशास्त्र के लिए अधिक उपयोगी माना। प्रकार्यात्मक पद्धति के समर्थको म प्रमुखत रेडक्लिफ ब्राउन, मैलिनोस्की आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बाद म आगे जाकर ब्राउन ने भी 1914 मे अपने विभिन्न भाषणो मे प्रकार्यवादी पद्धति के साथ-साथ सामाजिक सरचना' (Social Structure) शब्द का प्रयोग भी किया जो 1940 के बाद मानवशास्त्र मे काफी अधिक लोकप्रिय हो गई।

सामाजिक मानवशास्त्र का सबसे प्रमुख उद्देश्य सामान्य सिद्धान्तो का निर्माण करना है। अतः आगे जाकर जब विज्ञान का प्रभुत्व होन लगा तो आनुभाविक पद्धतियो का प्रयोग विभिन्न सामाजिक विज्ञानो मे किया गया। अत. सामाजिक मानवशास्त्र ने भी विभिन्न प्रकार के क्षेत्रीय अध्ययनो के द्वारा विषय सामग्री एकत्रित की है। इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र मे विभिन्न सामाजिक पद्धतियो का समय-समय पर प्रभुत्व रहा है। उनमे से कुछ प्रमुख पद्धतियाँ निम्नांकित हैं—

(1) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)
(2) प्रकार्यात्मक पद्धति (Functional Method)
(3) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)
(4) क्षेत्रीय कार्य पद्धति (Field Study Method)

यहाँ हम इनका सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

(1) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)

किसी भी विज्ञान मे अध्ययन पद्धति का मूल आशय अध्ययन के तर्क (Logic) से है, अर्थात् जब हम अध्ययन पद्धति का उल्लेख करते हैं तो हमारा आशय यह होता है कि किसी विशिष्ट समस्या के अध्ययन के लिए कौन-सी पद्धति का प्रयोग किया है। जब तर्क के अनुसार एक या अनेक पद्धतियो को हम उस समस्या के अध्ययन के लिए स्वीकृत करते हैं तब हम यह निर्धारित करते हैं कि इस प्रकार के अध्ययन के लिए कौन-सी पद्धति सबसे अधिक उपयोगी है और उसी के आधार पर हम किसी विशिष्ट पद्धति का चयन करते हैं।

एक स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञान के रूप मे मानवशास्त्र का विकास 19वी शताब्दी के मध्य हुआ। इससे पहले मानवशास्त्र को प्रमुखत इतिहास (History) का एक अग माना जाता था लेकिन वर्तमान मे मानवशास्त्र इतिहास से बहुत कुछ अधिक है।

इतिहास कपोल-कल्पित या यथार्थ मे घटित विचित्र या अजीबो-गरीब घटनाओ का सग्रह मात्र नही है। इसी तरह यह तारीखो, सवतो एव स्थानो के नामो तथा राजा-रानी एवं सेनापतियो के कारनामो से भरा हुआ एक सग्रह मात्र भी नही है। अपितु आधुनिक इतिहास वस्तुत किसी घटित होने वाली घटनाओ के पुर्ननिमाण का अध्ययन है। इतिहास आज 'वह क्या था ?' का ही अध्ययन एवं विवेचन नही करता है अपितु 'कैसे हुआ ?' इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। ए एल क्रोबर ने लिखा है कि "ऐतिहासिक व्याख्या की तुलना उस सीमेन्ट से कर सकते है जो कि मानव इतिहास के पृथक् तथा अर्थहीन तथ्यो मे घटनाओ को एक अर्थपूर्ण प्रतिमान मे सयुक्त करता है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से ऐतिहासिक पद्धति की कुछ कमियाँ स्पष्ट हैं। रेडक्लिफ ब्राउन न इस पद्धति की तीन विशेष कमियो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

(1) ऐतिहासिक पद्धति मे उपकल्पनात्मक पुनर्निर्माण (Hypothetical Reconstruction) वास्तविक निष्कर्ष का रूप धारण नही कर पाया। वह अन्त तक केवल उपकल्पना (Hypothesis) ही रहता है क्योकि हमारे लिए यह सम्भव नही होता कि हम इसकी परीक्षा या पुन परीक्षा करें।

(2) इसीलिए इस पद्धति की यथार्थता अनुमान (Assumption) पर आधारित होती है।

(3) परिणामस्वरूप इस पद्धति से हम किसी भी चीज की वास्तविक व्याख्या नही कर पाते। ऐतिहासिक पद्धति द्वारा हम किसी समाज, सस्था या सस्कृति की वास्तविक प्रकृति का पता नहीं लगा सकते, साथ ही उसके विकास के नियमो का भी ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। केवल हमे उसके क्रमिक विकास का पता चल पाता है और बहुत कुछ अनुमान पर आधारित निष्कर्षों को ही निकालना पडता है।

विद्वानो का मत है कि ऐतिहासिक पद्धति केवल हमे विभिन्न युगो से गुजरते हुए मानव-जीवन के प्रवाह को समझने मे सहायक सिद्ध होती है, इसके अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टि से सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र मे इसका कोई अन्य महत्त्व नही है। यह केवल उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को तैयार कर देती है जिससे सामाजिक मानवशास्त्रियो का कार्य आगे बढता है। यह पद्धति अवैज्ञानिक है, कल्पना से

1 *A L Krober* The Nature of Culture, p 79

प्रारम्भ होती है और कल्पना जगत में हमें छोड़ देती हैं—विज्ञान की कसौटी पर ऐतिहासिक तथ्यों की जाँच असम्भव है। ऐतिहासिक पद्धति सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में जो भी उपयोगिता रखती है वह भी बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि हम इस पद्धति का निष्पक्ष होकर प्रयोग करें और जिस इतिहास का निर्माण करें वह ठोस तथ्यों पर आधारित हो। पुरातत्व वैज्ञानिक हमें अनेक ऐसे तथ्य उपलब्ध करा रहे हैं जिनसे हम मानव और उसकी संस्कृति के भूतकाल को भी ठोस तथ्यों के आधार पर स्वीकार कर सकते हैं।

(2) प्रकार्यात्मक पद्धति (Functional Method)

अगर यह कहा जाए कि प्रकार्यात्मक पद्धति का बीजारोपण विकासवाद और ऐतिहासिक पद्धति के विरोध में हुआ है तो कोई असगत बात नहीं होगी। ऐतिहासिक पद्धति एक तरफ अवैज्ञानिक मानी जाती है तो दूसरी तरफ आदिम समाज के अध्ययन के लिए अर्थहीन भी। कारण यह है कि आदिम संस्कृति और समाज के क्रमिक विकास में हमारी रुचि होने के बावजूद भी हमारा परम लक्ष्य यह है कि हम आदिम समाज के वर्तमान जीवन एवं संस्कृति को वैज्ञानिक ढंग से जानें। इस लक्ष्य को पूरा तभी किया जा सकता है जब हम वर्तमान में उसका अवलोकन और विश्लेषण करके कुछ सामान्य नियम एवं प्रतिमान तैयार करें। गत वर्षों में जिस प्रकार से मानवशास्त्र का विकास हुआ है उससे तो यही ज्ञात होता है कि हमारी रुचि आदिम समाज की सामयिक समस्याओं में अधिक है।

प्रकार्यवाद की नींव डालने में तथा उसे एक पद्धति के रूप में अपनाकर कार्य करने में अनेक प्रसिद्ध समाजशास्त्री एवं मानवशास्त्री हैं जैसे—स्पेन्सर, दुर्खीम, इवान्स प्रिचार्ड, रेडक्लिफ ब्राउन, मैलिनोवास्की आदि। आधुनिक समाजशास्त्रियों में मर्टन का नाम भी इस पद्धति के साथ जुड़ा हुआ है। हम यहाँ प्रकार्यवाद की विवेचना न करके केवल इसे एक पद्धति के रूप में संक्षेप में ही रखेंगे। प्रकार्यवाद पर आगे पृथक् से विस्तार के साथ चर्चा की गई है।

सामाजिक मानवशास्त्र की अध्ययन पद्धतियों में प्रकार्यात्मक पद्धति का विशेष महत्व इस बात में है कि इसमें इस शास्त्र की अध्ययन पद्धतियों के बारे में पहले से चली आ रही अस्पष्टता और अनिश्चितता को बड़ी सीमा तक दूर करके इस बात पर बल दिया है कि संस्कृति के विभिन्न तत्वों को हम एक दूसरे से पृथक् नहीं मानना चाहिए क्योंकि ये सभी तत्व आन्तरिक रूप में परस्पर जुड़े हुए हैं और इन सभी के योग से किसी संस्कृति का निर्माण होता है। यदि हम किसी समाज अथवा संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहते हैं तो उपयुक्त है कि सभी सांस्कृतिक तत्वों का एकरूप अध्ययन करें, अलग अलग तत्वों का अलग-अलग अध्ययन नहीं। एक वाक्य में, प्रकार्यात्मक पद्धति सम्पूर्ण संस्कृति (Total Culture) के अध्ययन पर बल देती है, इसके विभिन्न पक्षों पर अलग अलग अध्ययन का नहीं।

प्रकार्यात्मक पद्धति कुछ निश्चित मान्यताओ पर आधारित है और इस पद्धति का मुख्य आधार यह है कि सांस्कृतिक तत्त्वो का केवलमात्र एक स्वरूप ही नही होता बल्कि प्रत्येक तत्त्व का कुछ न कुछ कार्य (Function) भी होता है और इन कार्यों के विश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा हम किसी समाज, सस्था या सस्कृति के बारे मे सही निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं तथा अन्त मे कुछ सामान्य नियमो की रचना कर सकते हैं। प्रकार्यात्मक पद्धति जिन विभिन्न मान्यताओ, आधारो के सिद्धान्तो को लेकर चलती है, *उनमे निम्नलिखित तीन मुख्य है*—

(1) प्रथम आधार यह है कि सस्कृति एव सामाजिक व्यवस्था के सभी पक्ष आपस मे एकीकृत हैं और उनके आपसी सम्बन्ध से एक स्वरूप का निर्माण होता है–सस्कृति पक्ष मे हम कह सकते हैं कि सस्कृति का प्रतिमान (Culture Pattern) होता है और सामाजिक पक्ष मे हम कह सकते हैं कि समाज की रचना होती है। अत प्रतिमान और सामाजिक रचना का निर्माण विभिन्न अगो को मिलाकर होता है। मानव-सस्कृति अलग-अलग गुणो और तत्त्वो (Traits and Elements) का सकलनमात्र नही है बल्कि सभी सांस्कृतिक तत्त्वो मे परस्पर अन्त.सम्बन्ध होता है—इनमे एक प्रकार की सावयवी एकता पाई जाती है।

(2) इस पद्धति का दूसरा आधार यह है कि सस्कृति प्रतिमान और सामाजिक सरचना के सभी अग सम्पूर्ण प्रतिमान और रचना की क्रियाशीलता के लिए कुछ न कुछ कार्य करते हैं। इसलिए उनका महत्त्व है। हर तत्त्व के कार्य अलग-अलग बँटे है लेकिन यह कार्य विभाजन तत्त्वो को पृथकताओं की सीमा मे नही बाँटता क्योकि सभी तत्त्व अपने कार्यों के समुचित निष्पादन के लिए एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। तत्त्वो की यह अन्योन्याश्रितता ही उनकी एकता का मुख्य आधार है। सांस्कृतिक तत्त्वो के कार्यों के फलस्वरूप ही सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था गतिशील रहती है और उसमे स्थिरता भी बनी रहती है। सारांशतः, 'एक सब के लिए और सब एक के लिए' का सिद्धान्त व्याप्त रहता है।

(3) इस पद्धति का तीसरा आधार है यह कि मानव समाजो और सस्कृतियो मे नाना विभिन्नताएँ होने पर भी कुछ न कुछ सामान्य या सार्वभौम मानवीय आवश्यकताओ के दर्शन होते हैं। दूसरे शब्दो मे, यह पद्धति मानव-समाज के एक सामान्य सिद्धान्त (General Theory) पर आधारित है। यह पद्धति मानती है कि सामान्य अथवा सार्वभौम आवश्यकताओ के फलस्वरूप ही हर समाज और सस्कृति मे एक सामान्य प्रवाह देखने को मिलता है और इसलिए आवश्यक है कि हम मानवीय क्रियाओ के प्रत्येक पहलू का अध्ययन यह मान कर करें कि उस पहलू का सम्बन्ध दूसरे पहलुओ से है। एक सामाजिक मानवशास्त्री का अध्ययन 'सम्पूर्ण रूप मे सस्कृति' (Culture as a Whole) का होना चाहिए।

प्रकार्यात्मक पद्धति के इन तीनो आधारो अथवा सिद्धान्तो का सामूहिक बल इसी बात पर है कि प्रत्येक सस्कृति मे अलग-अलग तत्त्व या गुण होते हैं किन्तु ये सभी एक दूसरे से आन्तरिक सम्बन्ध के कारण जुडे हुए हैं, उनमे प्रत्येक के कार्य

अलग अलग होने पर भी एक अन्योन्याश्रितता पाई जाती है अर्थात् एक सस्कृति के सभी तत्त्वो मे प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (Functional Relation) देखने को मिलता है। अत एक सामाजिक मानवशास्त्री का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह इस प्रकार्यात्मक सम्बन्ध को ढूँढे और उसका विश्लेपण तथा निरूपण करे। धर्म, विवाह, जादू आदि तत्त्वो को वह अलग अलग लेकर न चले बल्कि सभी का अध्ययन करते हुए, सभी के अन्त सम्बन्धो को पढते हुए, सभी के प्रकार्यात्मक सम्बन्धो के प्रति जागरूक रहते हुए सामान्य निष्कर्षो पर पहुँचने की चेष्टा करे। यदि हम एक परिवार का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमे उसके कार्यो को देखना होगा और इसी तरह धर्म, आर्थिक पक्ष, राजनीतिक पक्ष, भाषा, कला आदि का अध्ययन भी उनके कार्यों की भूमिका के आधार पर करना होगा। समाज की जीवधारी अवधारणा और सस्कृति का उपयोगितावादी सिद्धान्त इसी प्रकार्यवादी विचारधारा पर आधारित है।

प्रकार्यात्मक पद्धति के एक प्रमुख अध्येता मैलिनोवास्की ने प्रकार्यात्मक पद्धति के अन्तर्गत इस बात पर बल दिया है कि सर्वप्रथम हमे उन मानवीय आवश्यकताओ को खोजना चाहिए जिनकी पूर्ति उसके शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक अस्तित्व के लिए आवश्यक है और तत्पश्चात् हमारा प्रयत्न उन साधनो को खोजने का होना चाहिए जिनके माध्यम से इन मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव होती है। इस विचार के मूल मे मैलिनावास्की का यह विश्वास निहित है कि शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक आवश्यकताओ की पूर्ति के जो विभिन्न साधन हैं उन्ही से एक सस्कृति का निर्माण होता है अर्थात् इन साधनो का सयुक्त रूप ही सस्कृति है जिसका कि अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्री को करना चाहिए। प्रकार्यात्मक पद्धति के दूसरे प्रमुख प्रतिपादक रेडक्लिफ ब्राउन का मत है कि, "यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सस्कृति एक सगठित व्यवस्था (An integrated system) है जिसके प्रत्येक तत्त्व को अपनी विशिष्ट भूमिका निभानी पडती है। यह विश्व विभिन्न समाजो और सस्कृतियो का घर है, किन्तु इन समाजो और सस्कृतियो म एक सामान्य प्रवाह ढूँढा जा सकता है क्योकि सभी सस्कृतियाँ कुछ न कुछ सामान्य 'कार्य-नियमो' (Laws of function) द्वारा नियन्त्रित होती हैं। सामाजिक मानवशास्त्री का प्रयास यह होना चाहिए कि इन सामान्य कार्यनियमो की खोज की जाए।"

निष्कर्ष रूप मे प्रकार्यात्मक पद्धति किसी सस्कृति या सस्था या समाज के विभिन्न पक्षो मे पाए जाने वाले कारणात्मक सम्बन्धो को खोजती है और ज्ञात करती है कि इन विभिन्न पक्षो का उस सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था मे क्या कार्य है। यह पद्धति पता लगाती है कि इनमे पारस्परिक निर्भरता का क्या स्वरूप है और कौनसे सामान्य कार्य-नियम सब सस्कृतियो मे व्याप्त हैं। प्रकार्यवादी पद्धति आज काफी लोकप्रिय हो चुकी है, लेकिन इसमे प्रयोग के प्रसार के साथ साथ इस पद्धति की अस्पष्टता, अधूरेपन और गतिहीनता सबन्धी दोष भी हमारे सामने आ

चुके है। आज प्रकार्य और कुकार्य दोनो की बात की जाती है। यह कहना अनि शयोक्तिपूर्ण नही होगा कि इस पद्धति का कुछ इतना अधिक अन्धानुकरण हुआ है कि यह अन्तर करना ही एक कठिन कार्य हो गया है कि प्रकार्यवादी पद्धति का प्रयोग कहाँ हुआ है और कहाँ नही।

(3) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)

तुलनात्मक अध्ययन करना वैज्ञानिक पद्धति का एक मूल तत्त्व है। विज्ञान मे तुलना करके निष्कर्ष पर पहुँचना विचार का प्रश्न न होकर एक अनिवार्यता है। अगर हम तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग को समाज-विज्ञानो मे देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि यह पद्धति बहुत ही प्रचलित रही है। मानव और उसकी सस्कृति के अध्ययन मे विकासवादियो ने तुलनात्मक पद्धति का ही तो प्रयोग कालक्रम की दृष्टि से किया है। अगस्त कॉम्टे ने सम्यता (विकास का बौद्धिक चरण) को तीन चरणो मे विभाजित किया है। उसका आधार तुलना ही है। चाहे हम काल की दृष्टि से तुलना करें या वतमान की विभिन्न सस्कृतियो, सामाजिक प्रारूपो या सस्थाओ की एक-दूसरे की विशेषता से तुलना करें–ये सब तुलनात्मक पद्धति के अन्तर्गत ही आते हैं।

दुर्खीम ने तुलनात्मक पद्धति को बहुत ही महत्त्वपूर्ण बतलाया है।[1] उनके द्वारा खास कर जो आत्म-हत्या का अध्ययन किया गया है उससे इस पद्धति का महत्त्व स्पष्ट होता है।[2] विज्ञान मे प्रयोग सम्भव है इसलिए तुलना भी सम्भव है, लेकिन समाज के अध्ययन मे प्रयोग करना सरल नही है इसलिए हम प्रयोग न करके किसी अमुक घटना से सम्बन्धित कारण–परिणाम की तुलना तो कर ही सकते है। रेडक्लिफ ब्राउन, फिर्थ, ए रिचार्ड्स आदि ने कुछ तुलनात्मक अध्ययनो को प्रस्तुत किया है। डॉ नेडल द्वारा प्रस्तुत न्यूबा पर्वत (Nuba Mountains) का अध्ययन अब तक के तुलनात्मक अध्ययनो मे सम्भवतया सबसे अच्छा है।

तुलनात्मक पद्धति मे कुछ मानवशास्त्री सॉस्कृतिक तत्त्वो (Cultural Traits) को एक-एक इकाई मान लेते हैं और तत्पश्चात् विभिन्न समाजो की इन इकाइयो म तुलना करके सामान्य निष्कर्ष निकालते है। विसलर (Wissler) आदि कुछ अन्य सामाजिक मानवशास्त्री सॉस्कृतिक तत्त्वो की अपेक्षा सॉस्कृतिक क्षेत्रो (Cultural Areas) को तुलनात्मक अध्ययन की इकाइयाँ मानते हैं और तव इन इकाइयो की तुलना के आधार पर सामान्य परिणामो पर पहुँचते हैं। फ्रान्ज बोआस (Franz Boas) जैसे मानवशास्त्रियो का विचार है कि सम्पूर्ण विश्व को विभिन्न सॉस्कृतिक क्षेत्रो मे बॉट लिया जाना चाहिए और तब एक एक सॉस्कृतिक क्षेत्र का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। इस तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकाले जाने चाहिए ताकि हम सामाजिक और सॉस्कृतिक विकास, प्रसार या परिवर्तन के आधारभूत कारणों का पता लगा सकें। तुलनात्मक पद्धति के

1 *Durkheim* The Rules of Sociological Method.
2 *Durkheim* . Suicide.

लक्ष्य को इंगित करते हुए रेडक्लिफ ब्राउन ने कहा है कि "तुलनात्मक समाजशास्त्र या सामाजिक मानवशास्त्र में तुलना का उद्देश्य भिन्न है, उद्देश्य यह है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न प्रारूपो की खोज करके उसके आधार पर मानवीय आभासो के सिद्धान्त का अध्ययन करें।"[1] इस कथन से तुलनात्मक पद्धति का व्यापक उद्देश्य हमारे समक्ष परिलक्षित हो जाता है। इस पद्धति का प्रथम उद्देश्य किसी समाज विशेष का अध्ययन या सांस्कृति का अध्ययन करना है और दूसरा प्रमुख उद्देश्य उन अलग-अलग समाजो की विशेषताओ की परस्पर तुलना करके एक सामान्य नियम या रूपरेखा तैयार करती है जिससे कि मानव और सस्कृति जो विकास के विविध चरणो पर हैं, उनके सामान्य एव समरूप विशेषताओ या लक्षणो को जाना जा सके।

तुलनात्मक पद्धति की दो प्रमुख कठिनाइयाँ हैं। प्रथम समस्या है तुलना करने के लिए समानान्तर इकाइयो का चुनाव करना। दूसरी समस्या है, जिसे प्रश्न के रूप मे रखा जा सकता है—क्या जटिल सम्पूर्ण मे से किसी अमुक इकाई को अलग करके सार्थक रूप से तुलना सम्भव है क्योकि मूल मान्यता तो यह है कि सस्कृति और समाज के सभी पक्ष आपस मे सम्बन्धित है तो उन्हे अलग करके अर्थपूर्ण ढग से कैसे तो तुलना की जा सकती है और कैसे निष्कर्ष निकाला जा सकता है?

ये उपरोक्त कठिनाइयाँ तो अपनी जगह पर महत्वपूर्ण है ही, लेकिन सवाल यह है कि कौनसी ऐसी पद्धति है जिसमे दोष न हो। सारा भार शोधकर्ता के माथे पर है कि वह किस प्रकार से प्रवीणता के साथ समग्र की परिभाषा करता है और किस प्रकार से समरूप इकाइयो का चुनाव करता है तथा समग्र विशेष के सन्दर्भ सहित सार्थक तुलना हमारे सामने प्रस्तुत करता है। तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग मे प्रायः जिन सावधानियो पर बहुत अधिक ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है, वे ये है—

1 जिन समाजो और सस्कृतियो को अध्ययन के लिए चुना जाए उनसे सम्बन्धित तथ्यो को पूरी जागरूकता के साथ एकत्र किया जाए।

2 सभी एकत्रित तथ्यो को उचित ढग से जमाया जाए और प्रस्तुत समानताओ तथा असमानताओ को सुव्यवस्थित तरीके से अलग-अलग छाँट लिया जाए।

3 समानताओ और विभिन्नताओ का वैज्ञानिक ढग से विश्लेषण करके विभिन्न समाजों, संस्थाओ और सस्कृतियो के बारे मे सामान्य नियमो को खोजा जाए।

4 इस सम्पूर्ण प्रक्रिया मे पूर्णतया निष्पक्ष रख अपनाया जाए। अपने

1 *Redcliffe Brown :* op cit , pp. 91-108

दार्शनिक अथवा उद्वेगात्मक और पक्षपातपूर्ण विचारो को पास भी न फटकने दिया जाए।

5 सम्पूर्ण तुलनात्मक प्रक्रिया को पूरी तरह वैज्ञानिक ढंग से निभाया जाए।

ये सभी आवश्यक सावधानियाँ बरतने पर तुलनात्मक पद्धति के आधार पर/ खोजे जाने वाले सामान्य नियम सन्तोषजनक हो सकते है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र की व्यापकता को ध्यान म रखते हुए तुलनात्मक अध्ययन विस्तार से सुनियोजित रूप प होना चाहिए और बहुत अधिक विकसित तुलनात्मक प्रविधि प्रयोग मे लानी चाहिए।

4. क्षेत्रीय-कार्य पद्धति (Field Study Method)

सामाजिक मानवशास्त्र हो अथवा कोई अन्य शास्त्र, ज्ञान का मौलिक स्रोत वास्तविक जगत ही है। समाज-विज्ञानो का सम्बन्ध तो समाज के वास्तविक जीवन से ही है। समाज के सम्बन्ध मे हमारे पास जो ज्ञान-भण्डार है, उसे काल-क्रम मे देखा जाए, तो हम पाएँगे कि उनका सग्रह समाज के प्रेक्षण पर ही आधारित है। समाज मे बिखरे हुए तथ्यो को सग्रहित करना, उनकी तुलना करना और फिर उन निष्कर्षों के आधार पर सैद्धान्तीकरण करना, ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया रही है।

समाज मानवशास्त्र मे जो ज्ञान और सिद्धान्त प्रारम्भ मे स्थापित हुए, अगर उन्हे अन्तिम मान लिया जाए, तो इसका अर्थ यही होगा कि उस क्षेत्र मे ज्ञान जैसी कोई खोजने योग्य वस्तु नही है। एक बार जो सिद्धान्त बनता है, उसका भी आधार तथ्य ही होता है और पुन नए तथ्यो को खोजकर, पुराने सिद्धान्तो मे परिवर्तन लाया जाता है। सिद्धान्त और तथ्य मे परस्पर लाभपूर्ण सम्बन्ध है। इस प्रकार यह तर्क के आधार पर प्रमाणित होता है कि सामाजिक मानवशास्त्र मे क्षेत्रीय काय (Field Studies) का अत्यधिक महत्त्व है, अगर यह भी कह दिया जाए कि सामाजिक मानवशास्त्र क्षेत्रीय कार्यों का ही प्रतिफल है तो कोई असगत बात न होगी।

सिद्धान्तो का निर्माण तथ्य सग्रह करने से होता है, पुन पुराने सिद्धान्तो मे परिवर्तन या परिमार्जन तथ्य सग्रह करने से ही सम्भव है। सामाजिक मानवशास्त्र मे निरन्तर क्षेत्रीय कार्य क्यो आवश्यक है इसके लिए निम्नलिखित बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं—

1 सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध आदिम समाज और सस्कृति से है।

2 आदिम समाज के सम्बन्ध मे जो कुछ भी ज्ञान एव सिद्धान्त प्राचीन-कालीन प्रेक्षको एव अध्येताओ ने प्रस्तुत किए हैं वे पूर्ण एव सन्तुलित नही माने जा सकते।

3. आदिम समाज के सम्बन्ध में अभी भी विशद् वैज्ञानिक कार्य प्रशिक्षित मानव समाजशास्त्रियो द्वारा किया जाना आवश्यक है।

4. प्रारम्भ मे आदिम समाज के सम्बन्ध मे जो लेखन-कार्य मिशनरियों के द्वारा, प्रशासकों के द्वारा किए गए हैं उनमे अनिरजना है तथा अनेको भ्रान्तियाँ भी पैदा हो गई हैं। उन भ्रान्तियो को दूर करना आवश्यक है।

5 आदिम समाज और उनकी सस्कृति मे परिवर्तन हो रहे है तो उस परिवेश मे उनका अध्ययन आवश्यक है। पहले का एकान्त मे निवास करने वाला लघु समाज आज सक्रमण काल से गुजर रहा है, अत उनका अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है।

क्षेत्रीय कार्य करने के लिए आवश्यक शर्ते
(Essentials of Field Studies)

1 क्षेत्रीय अध्ययनकर्त्ता को अपने विषय का उच्च-स्तरीय सैद्धान्तिक ज्ञान रहना चाहिए।

2 अध्ययनकर्त्ता को अपने विषय मे प्रयुक्त होने वाली सभी पद्धतियो एव साधनो का ज्ञान होना चाहिए।

3 अध्ययनकर्त्ता को उस समुदाय की भाषा का भी ज्ञान होना चाहिए जिसका कि वह अध्ययन कर रहा है।

4. सैद्धान्तिक एव तकनीकी ज्ञान के अतिरिक्त सबसे आवश्यक शर्त यह है कि अध्ययनकर्त्ता मे एक विशेष प्रकार का झुकाव, अभिरुचि एव अनुभूति हो जिससे कि वह आदिम समाज मे अपना लम्बा समय बिता कर उनकी जिन्दगी के सम्बन्ध मे कुछ महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तीकरण कर सके। सूखा तथ्य निरर्थक है, जब तक कि अध्ययनकर्त्ता उन तथ्यो को जान नही लेता है। यह तभी सम्भव है, जबकि उसके व्यक्तित्व मे अमुक आदिम समाज की अनुभूतियो का समावेश हो चुका हो।

इवान्स प्रिट्चार्ड महोदय ने सामाजिक मानवशास्त्र मे क्षेत्रीय कार्य का क्या महत्त्व है, इस पर विस्तार एव रोचक ढग से अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।[1] हमने ऊपर जनजाति की चर्चा की है। उनमे सक्षेप मे उनके विचार भी आ गए हैं। क्षेत्रीय कार्य का महत्त्व केवल तथ्य सग्रहित करने मे नही है बल्कि उन तथ्यो को सैद्धान्तिक दृष्टि से भी प्रमाणित करना है। प्रारम्भ मे और आज भी अनेक ऐसे तथाकथित मानवशास्त्री हैं जिन्होने क्षेत्र मे जाकर शायद ही अध्ययन किए हो। मात्र चेम्बर की आराम-कुर्सियो पर बैठ कर और कोरे तथ्यो का अवलोकन करके कितना अर्थ ढूँढा जा सकता है? इसलिए भी यह आवश्यक है कि क्षेत्र मे जाकर तथ्य का वास्तविक प्रेक्षण करें। प्रिट्चार्ड महोदय के शब्दो मे, "यदि सामाजिक मानव विज्ञान के अध्ययन को कुछ प्रगति करनी है तो सामाजिक मानव-विज्ञान-वेत्ताओ को स्वय अपने पर्यवेक्षण करने होंगे।"[2] यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि मार्गन द्वारा किए गए इरोक्यूज लोगो के अध्ययन को छोडकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक एक भी मानव विज्ञान वेत्ता ने क्षेत्रीय अध्ययन नही किया। यह तो और भी महत्त्वपूर्ण बात है कि उन लोगों को यह कभी सूझा ही नही कि मानव-विज्ञान सम्बन्धी विषयो के लेखक को कम से कम एक बार उन लोगो के जीवन की एक झाँकी, चाहे वह कितनी ही हल्की क्यो न हो, ले लेनी चाहिए जिनके सम्बन्ध म

1–2 इवान्स प्रिट्चार्ड : op cit., pp. 64, 87.

लिखने-लिखते वह अपना जीवन बिताए दे रहा है। विलियम जैम्स का कहना है कि जब उन्होंने सर जैम्स फ्रेजर से उन आदिम लोगों के सम्बन्ध मे पूछा जिनका उन्हे ज्ञान प्राप्त हो तो फ्रेजर चिल्ला उठा—' भगवान् ! रक्षा करो।"

स्पष्ट है कि तथाकथित मानवशास्त्री भी वास्तविक क्षेत्रीय कार्य से दूर रहे हैं और यह स्थिति इस विज्ञान के सन्तुलित विकास के लिए घातक रही है। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि वर्तमान मे सामाजिक मानवशास्त्री भी क्षेत्रीय कार्य नही कर रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि वर्तमान सदी म प्रशिक्षित समाज मानवशास्त्रियो की सख्या भी बहुत बढ गई है और ससार के कोने-कोने मे अमेरिका, इग्लैण्ड आदि देशो के समाज मानवशास्त्री क्षेत्रीय कार्य मे निरन्तर लगे हुए हैं। यहा यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतवर्ष म भी अनेक अध्ययन हो चुके हैं और अनेक अध्ययन किए जा रहे हैं लेकिन वास्तव मे जिस प्रकार की गहनता और धैर्य हम पाश्चात्य देशो के विद्वानो के अध्ययनो मे देखने को मिलता है, अभी हमे उस दिशा मे बहुत कुछ प्राप्त करना बाकी है।

अब हम कुछ ऐसे पक्षो के सम्बन्ध म चर्चा करेंगे जिनका सम्बन्ध समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति की रूपरेखा सम्बन्धी अभिमुखता से है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि आदिम समाज का अध्ययन किस प्रारूप (Model) के अन्तर्गत किया जाता है।

सामाजिक मानवशास्त्र मे प्रारूप
(Models in Social Anthropology)

समकालीन समाज वैज्ञानिको ने पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से काफी विकास किया है एव उन्होने प्रारूप (Model) की अवधारणा को विकसित किया है। प्रारूप वैज्ञानिक अध्ययन की एक प्रविधि है। बहुत सामान्य शब्दो मे किसी सामाजिक प्रघटना से सम्बन्धित जब कुछ अभिधारणाओ को व्यवस्थित करके एक सरचना म व्यक्त किया जाता है तो यह प्रारूप बन जाता है। सामान्यत प्रारूप की प्रकृति सामान्य होती है और एक प्रारूप जिन विशिष्ट प्रघटनाओ को लेकर बनाया जाता है उस उसी प्रकार की प्रघटनाओ पर लागू किया जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक समाजो मे प्रारूप का प्रयोग बहुतायत से होने लगा है एव यह सामाजिक विज्ञानो की अध्ययन विधियो म अत्यन्त लोकप्रिय स्थान प्राप्त कर चुका है। प्रारूप सामान्यत गणितशास्त्र के आधार पर बनाए जाते हैं।

सामाजिक मानवशास्त्र म विभिन्न सामाजिक मानवशास्त्रियो ने प्रारूप निर्माण का कार्य किया है। लीच न नातेदारी के अध्ययन के लिए एक प्रारूप बनाया था। लेवी स्ट्राउस ने नातेदारी एव विवाह म भेंट के विनिमय (Exchange) पर प्रारूप निर्माण किया। प्रारूप निर्माण वस्तुतः आसान नही है अपितु इसमे बहुत उच्च कोटि का अमूर्तिकरण करना होता है। इसी के परिणामस्वरूप प्रारूप सामाजिक मानवशास्त्र म अधिक लोकप्रिय है। इससे पहले कि हम सामाजिक

मानवशास्त्र मे प्रयुक्त विभिन्न प्रारूपो की विवेचना करें, यह विस्तार से समझ लें कि प्रारूप है क्या ?

प्रारूप का अर्थ एव परिभाषा
(Meaning and Definition of Model)

सामान्यत प्रारूप शब्द का प्रयोग विभिन्न सामाजिक अध्ययनो मे एक ऐसी कार्यकारी बौद्धिक सरचना के लिए किया जाता है जिसकी सहायता से हम सामाजिक अथवा भौतिक स्थितियो को अधिक अच्छी तरह से समझ सके। इस प्रकार की स्थितियां वास्तविक भी हो सकती है और काल्पनिक भी। दूसरे शब्दो मे प्रारूप एक ऐसे आदर्श को प्रतिबिम्बित करता है, जिसे हम प्राप्त करना चाहत हैं। प्रारूप इस प्रकार की शुद्ध बौद्धिक सरचनाएँ हैं, जिनके द्वारा हमे चिन्तन और शोध के कार्यों को एक व्यवस्थित रूप देने म सहायता मिलती है। सामाजिक विज्ञानो मे पिछले कुछ वर्षों मे गणितीय प्रारूप के प्रचलन पर बल रहा है। एक अच्छे प्रारूप की कसौटी—चाहे व गणितीय हो या विवेचनात्मक—यह है कि उसस हमे इस घटना की व्याख्या मे सहायता मिले जिसकी जाँच हम कर रह है। अत किसी प्रतिरूप या प्रारूप की उपयोगिता इस बात पर निभर नही करती कि यह यथार्थ (Reality) का वास्तविक चित्रण करने मे सक्षम है या नही—ऐसा तो बहुत कम हो पाता है—वरन् इस पर निर्भर करती है कि वह ऐसी उपयुक्त प्रविधियो अथवा दृष्टिकोणा का सुझाव दे सकता है, जिनकी सहायता से हमे प्रस्तुत समस्या के विश्लेषण मे सुविधा मिले। इन प्रकार, यह कहा जा सकता है कि प्रारूप की भूमिका सैद्धान्तिक अधिक है, व्यावहारिक कम, इसीलिए प्रारूप को सामान्यीकरण के समकक्ष नही माना जाता है।

अनेक बार सिद्धान्त (Theory) पद्धति (Method) एव प्रारूप (Model) आदि के बीच भ्रम पैदा हो जाता है क्योकि य अवधारणाएँ ऐसी है जो कई बार एक दूसरे के विकल्प मे प्रयुक्त होती हैं और इनका वास्तविक अन्तर थोडा कठिन है।

प्रारूप सिद्धान्त (Theory) के समरूप होते हुए भी सिद्धान्त के समान नही होते, अपितु वे सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया का एक अनिवार्य अग अवश्य होते हैं। प्रारूप के विपरीत सिद्धान्त एक व्यापक धारणा है जिसका मूल उद्देश्य किसी भी घटना, समस्या या प्रक्रिया का विश्लेषण करता है। विश्लेषण के साथ मूल्यांकन भी जुडा हुआ है। प्रारूप विश्लेषण की प्रक्रिया से सिद्धान्त की सहायता कर सकता है। मूल्यांकन के प्रश्न को प्रारूप वैज्ञानिकता से पृथक् मानता है, अत 'सिद्धा त' से मतभेद रखता है। सिद्धान्त मुख्य रूप से सामान्यीकरण पर आधारित होता है, अत व्यावहारिक पक्ष मे उपयोगी होता है, जबकि प्रारूप प्रतीकात्मक (Symbolic) और तार्किक (Logical) होता है, अत. वास्तविकता के सन्दर्भ म अधिक उपयोगी नही होता।

इस प्रकार मॉडल या प्रतिरूप जटिल स्थितियों को बोधगम्य बनाने अथवा उसे सरल रूप में प्रस्तुत करने में हमारी सहायता करते हैं। एक मॉडल किसी वस्तु की संरचना के मुख्य भागों तथा उनके अन्तर्सम्बन्धों को कृत्रिम रूप से प्रदर्शित करने की एक सरल एवं सुविधाजनक विधि है। उदाहरण के लिए भौतिक विज्ञान में प्रयुक्त 'अणु' (Atom) का प्रतिरूप यह प्रदर्शित करता है कि 'अणु' का एक भाग अन्य भागों से किस प्रकार सम्बन्धित है। समाजशास्त्र में सावयववाद (Organism), प्रकार्यवाद (Functionalism), नाभिकीय परिवार (Nuclear Family), संयुक्त परिवार (Joint Family) आदि ऐसे ही प्रतिरूपों के उदाहरण हैं। एक सिद्धान्त इसके विपरीत किसी प्रतिरूप के तत्त्वों तथा उनके अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या करना है। वस्तुतः एक मॉडल की सबसे प्रमुख विशेषता यह होती है कि इसमें किसी भाग अथवा मूल वस्तु (जिसका कि वह प्रतिरूप है) से थोड़ी बहुत समानता अथवा सादृश्यता (Analogy) अवश्य होती है। यही सादृश्यता प्रतिरूप अथवा मॉडल रचना का मूल आधार है और इसलिए इनका निर्माण किया जाता है।

इसी प्रकार प्रारूप को विभिन्न विद्वानों ने भी परिभाषित किया है। उनमें से कुछ परिभाषाएँ हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

ऐलेक्स इंकेल्स ने अपनी कृति 'व्हॉट इज सोश्योलोजी' में लिखा है कि 'हम 'मॉडल' शब्द का प्रयोग किसी प्रमुख घटना को प्रदर्शित करने वाली एक सामान्य प्रतिमा की एक मोटी रूपरेखा के लिए करते हैं। इसका प्रयोग घटना से सम्बन्धित इकाइयों की प्रकृति एवं उनके सम्बन्धों को प्रदर्शित करने वाले विचारों के लिए किया जाता है।"[1]

काल्विन लारसन ने 'मेजर थीम्स इन सोशियोलोजिकल थ्योरी' में लिखा है कि 'प्रारूप को किसी भी वास्तविक वस्तु का एक सही अथवा मापक प्रतिरूप कहा जा सकता है।"[2]

मेल्विन मार्क्स के अनुसार "एक प्रारूप एक अवधारणात्मक समानता एवं सामान्यतः इसकी पद्धति भौतिक या गणितीय होती है एवं इसका उपयोग आनुभविक अनुसन्धान के सुझाव के लिए किया जाता है।"[3]

जार्ज ग्राह्म ने भी इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "एक मॉडल वास्तविकता का एक अमूर्तिकरण है, जिसकी रचना अध्ययन की जाने वाली घटना के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध को व्यवस्थित रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य से की जाती है। यह वास्तविकता से कम जटिल होता है।"

स्टीफन काटग्रुव ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि "मॉडल

1 *Alex Inkeles* What is Sociology ? p 8
2 *Calvin J Larson* Major Themes in Sociological Theory, p 247
3 *Malvin H Marx* Contemporary Psychology, p 14

सिद्धान्त-निर्माण की प्रारम्भिक कडी है। इनके द्वारा किसी व्यवस्था का मात्र साधारण वर्णन होता है कि वह व्यवस्था कैसी लगती है। ये आनुभविक अनुसन्धान हेतु चरो (Variables) के मध्य सम्बन्धो को सुझाते हैं।"

रॉबर्ट नॉर्डबर्ग ने 'मेथड्स एण्ड मॉडल्स' मे लिखा है कि "प्रारूप कभी-कभी एक स्वच्छ तथा पूर्व सरचना होती है, कभी-कभी यह उपकल्पना का, सिद्धान्त का, यहाँ तक कि कभी-कभी यह नियम का पर्यायवाची होना है।"[1]

इस प्रकार प्रारूप तथा वास्तविक वस्तु की सरचना मे समानता होनी है तथापि इसका अर्थ यह नही है कि प्रारूप किसी वस्तु की सही या वास्तविक प्रतिलिपि होती है। वास्तव मे यह उसका लघु प्रतिरूप हो सकता है। कुछ विद्वानो ने प्रारूप तथा वास्तविक वस्तु की समान सरचना की बात स्वीकार न करते हुए प्रारूप को अनुसन्धान के लिए एक गणितीय अथवा भौतिक सरचना माना है।

उपरोक्त परिभाषाओ के विश्लेषण से हम देखते हैं कि प्रारूप वस्तुत यथार्थ की एक तस्वीर होती है। यह तस्वीर उस वस्तु के समान जान पडती है जिसका हम अध्ययन करना चाहते हैं। प्रारूप अथवा मॉडल स्वय मे एक रूपरेखा अथवा मानसिक अनुकृति है जो यथार्थ के सादृश्यता प्रतीत होती है। यह उस सत्य का एक प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व है, जिसका हमे अध्ययन करना है। इन्हीं प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्वो से हम यथार्थ का चित्र खीचने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार हमे ध्यान रखना चाहिए कि प्रारूप यथार्थ नही है अपितु यह तो यथार्थ की साँकेतिक अनुकृति मात्र है।

सामान्यत किसी भी मॉडल मे तीन विशेषताओ का होना आवश्यक है—

(1) प्रारूप भौतिक अथवा वैज्ञानिक आधार पर निर्मित किए गए हो,

(2) प्रारूप का सत्यापन यथार्थ से किया जा सके, एव

(3) प्रारूप का पुष्टिकरण यथार्थ जनता की बाह्य घटनाओ से किया जा सके।

सामाजिक मानवशास्त्र में प्रारूप
(Models in Social Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र मे प्रारूप का उपयोग एक नवीन प्रघटना है। इसका प्रारम्भ फ्रांसीसी स्कूल से हुआ जिसके प्रमुख प्रतिपादक अग्रणी मानवशास्त्री लेवी स्ट्रॉस (Levi Strauss) हैं। लेवी स्ट्रॉस ने गणित व भाषा विज्ञान में हुए कार्यों व उपलब्धियो को मानवशास्त्र मे प्रयुक्त किया एव स्ट्रॉस ने अपने प्रारूप के लिए सामाजिक सरचना (Social Structure) के अध्ययनो को मुख्य बिन्दु बनाया। स्ट्रॉस के सम्प्रदाय वा विचारो को प्रमुखतः सरचनावाद (Structuralism) कहते हैं। लेवी स्ट्रॉस ने नातेदारी (Kinship) एव विवाह (Marriage) मे नैट

1 *Robert Nordberg* · Methods and Models, p 14

के विनिमय पर भी माडल निर्माण किया । लेवी स्ट्रास के अलावा लीच (Leach) ने मानवशास्त्र मे एक प्रमुख माडल का निर्माण किया । लीच ने जिंघवा जनजाति की नातेदारी शब्दावली (Kinship Termenology) को बनाकर एक प्राकल्पनात्मक समाज की रूपरेखा बनाई जिसके सगठन के सात सरचनात्मक सिद्धात थे । लीच ने इस मानव जाति के विवाद को बीजगणित का नाम दिया ।

सामाजिक मानवशास्त्र मे पिछले कुछ समय से प्रारूप निर्माण का काय बडी गति से हुआ है एव आज सामाजिक मानवशास्त्र के पास कुछ प्रमुख प्रारूप है न प्रारूपो को मूलत अनेक वर्गों मे प्रस्तुत किया जा सकता है । सामाजिक मानवशास्त्र मे प्रारूप निर्माण का काय कुछ मानवशास्त्री इमाइल दुर्खीम की रचना दी डिविजन आफ लेबर एण्ड सोसाइटी तथा मार्सल माउस का लेख दी गिफ्ट को प्रमुख स्रोत के रूप म मानते हैं । दुर्खीम की उपयुक्त कृति मे हमे सावयवी सश्लिष्टता (Organic Solidarity) एव यान्त्रिक सश्लिष्टता (Mechanical Solidarity) की दो प्रमुख अवधारणाएँ दिखाई देती हैं । इसी के आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र मे अनेक प्रमुख प्रारूपो का निर्माण किया गया है ।

प्रमख रूप से सामाजिक मानवशास्त्र मे निम्नांकित प्रारूप पाए जाते हैं—

(1) उद्‌विकासीय प्रारूप (Evolutionary Model)
(2) तुलनात्मक प्रारूप (Comparative Model)
(3) सरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप (Structural Functional Model)
(4) सम्बन्ध एव वशानुक्रम प्रारूप (Alliance and Descent Model)
(5) प्रस्थिति भूमिका प्रारूप (Status Role Model)

यहा हम इनका विस्तृत वर्णन करगे ।

(1) उदविकासीय या विकासात्मक प्रारूप (Evolutionary Model)

उद्‌विकास की अवधारणा सामाजिक मानवशास्त्र म काफी प्राचीन है । सामाजिक विज्ञानो मे यह अवधारणा मूलत प्राणिशास्त्र से आई है । उद्‌विकास वाद के प्रमुख प्रणता डार्विन (Darwin) थ । डार्विन ने यह प्रस्तावित करने का प्रयास किया कि उद्‌विकास सभी प्रकार की प्राकृतिक घटनाओ को जीव त तत्त्व है ।

अग्रजी भाषा के इवोल्यूशन (Evolution) शब्द की उत्पत्ति लटिन भाषा के इवूल्वर शब्द स हुई है जिसका अर्थ विकास अथवा प्रकटन होता है । यह सस्कृत के विकास अथवा 'उद्‌विकास शब्द से काफी मिलता जुलता है एव इसका अर्थ भी बहुत कुछ यही है । इस अवधारणा का प्रयोग अधिक उपयुक्त रूप मे किसी जीव के आन्तरिक विकास को दर्शाने के लिए किया जाता है । हम कई

बार यह कहते हैं कि पौधे अथवा पशु की जैविक सज्जा मे वृद्धि हो रही है या विकास हो रहा है। इसी प्रकार हम कहते है कि समय के साथ-साथ बालक के मस्तिष्क का भी विकास होता है। अत शाब्दिक अर्थ मे यह शब्द किसी जैविक सरचना मे होने वाले क्रमिक परिवर्तन की ओर सकेत करता है।

सन् 1859 मे डार्विन की पुस्तक 'ओरीजिन ऑफ स्पीसीज' के प्रकाशन के साथ ही विकासवाद की लहर ने जीवन के सभी क्षेत्रो को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। डार्विन के जैविकीय उद्विकास के सिद्धान्त की प्रस्थापना के उपरान्त यह समझा जाने लगा कि मानवीय समाज तथा सस्कृति मे परिवर्तन उसी भाँति होते है तथा उसी प्रकार की परिवर्तन की प्रवृत्ति को परिलक्षित करते हैं जिस प्रकार के परिवर्तन का रूप जैविक जगत मे देखने को मिलता है। यह स्वीकार किया जाने लगा कि समाज और सस्कृति पर भी जैविकीय तथा सावयविक विकास के नियम लागू होते हैं और कुछ व्यक्तियो ने तो उद्विकास को प्रगति (Progress) के साथ भी जोडने का प्रयास किया और वे अधिकाधिक पूर्ण तथा सुसयोजित, सामाजिक और सांस्कृतिक भविष्य गर्भित रूपो को भी प्रदर्शित करने लगे। जैसा कि श्री बेकर ने इगित किया है कि "सामाजिक उद्विकासवादियो के सैद्धान्तिक प्रशिक्षण ने उन्हे मानवीय समाज तथा सावयविक क्षेत्र को एक ऐसी उद्विकासीय प्रक्रिया की उपज समझने के लिए बाध्य कर दिया जो अनन्तकाल से चली आ रही है।"[1]

जैविकीय उदविकास के सिद्धान्त ने ही प्रत्यक्षत सामाजिक उदविकास (Social Evolution) की विचारधारा को जन्म दिया। डार्विन की उद्विकास, प्राकृतिक प्रवरण तथा योग्यतम की उत्तरजीविता की अवधारणाओ का प्रयोग न केवल समाजो के विकास पर चरितार्थ किया गया अपितु कला, साहित्य, सगीत, दर्शन, विज्ञान, धर्म तथा मानव की लगभग अन्य सभी उपलब्धियो पर भी इनका प्रयोग किया गया। 'उद्विकास' वास्तव मे बौद्धिक खोज के सभी क्षेत्रो का एक मूल शब्द बन गया तथा डार्विन एव स्पेन्सर (Spencer) मानवीय विचारो के इतिहास के काल के सवप्रसिद्ध नाम हो गए।

डार्विन के प्राणिशास्त्रीय उद्विकास को सामाजिक जीवन पर चरितार्थ करने का प्रमुख श्रेय प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक हरबर्ट स्पेन्सर को जाता है। स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक सोश्यल स्टेटिक्स' (1850) और बाद मे विस्तृत रूप मे उसने अपनी बहु-प्रसिद्ध कृति 'प्रिन्सिपल ऑफ सोश्योलॉजी' (1877) म समाज और जीव तथा सामाजिक एव जैविक विकास के मध्य एक सादृश्यता प्रस्थापित करने का प्रयास किया। स्पेन्सर की कृतियो मे हम कुछ ऐसे अध्याय पाते हैं जिनके शीर्षक इस प्रकार दिए हैं, जैसे—'एक समाज एक जीव है', 'सपोषण व्यवस्था', 'वितरण व्यवस्था' तथा 'परिचालन व्यवस्था' आदि।[2] इन शीर्षको से स्पष्ट है कि

1 *H Becker* Contemporary Social Theory Chap II
2 *Herbert Spencer* : Principles of Sociology.

स्पेन्सर ने ही एक जैविकीय सिद्धान्त अर्थात् उद्विकास के सिद्धान्त को एक समाज के सिद्धान्त के रूप मे रूपान्तरित करने का प्रयास किया। स्पेन्सर के अनुसार समाजो का उद्गम उसी भाँति होता है जिस प्रकार प्राणियो की जातियो का होता है, अर्थात् दोनों ही समाज प्राणी-जातियाँ उद्विकास की प्रक्रिया के नियम द्वारा परिचालित होते हैं।

तथाकथित शास्त्रीय उद्विकासवादियो ने अपने विचारो की शृंखला स्पेन्सर से ही प्राप्त की है। एक अर्थ मे स्पेन्सर न केवल प्रथम अपितु एकमात्र आधुनिक उद्विकासवादी हैं, जिन्होंने उद्विकास को अपना प्रमुख विषय बनाया तथा 'सिन्थेटिक फिलॉसफी' मे उन्होंने इसे विकसित कर मानवीय ज्ञान के सभी क्षेत्रो मे इसे प्रयोग किया। सामाजिक परिवर्तन तथा विकास पर उद्विकास की अवधारणा को चरितार्थ करने मे स्पेन्सर की कृतियाँ अत्यधिक प्रभावशाली रही हैं।

इस प्रकार सामाजिक विज्ञानो ने उद्विकास की अवधारणा प्राप्त करने का श्रेय प्रमुख रूप से हरबर्ट स्पेन्सर को ही जाता है। हरबर्ट स्पेन्सर ने उद्विकास के बारे मे बतलाया है कि "विकास पदार्थ तथा सरकारी गति के निपृधन (Dissipation) का सकलन है, जिसमे पदार्थ एक अपेक्षित दृष्टिकोण से अनिश्चित बेमेल सजातियता से एक अपेक्षित दृष्टिकोण से निश्चित तथा सम्बन्ध विजातियता मे परिणत हो जाता है और जिसकी स्थापित गति मे भी एक समानान्तर परिवर्तन हो जाता है।"

उद्विकास की इस धारणा का यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक पदार्थ प्रारम्भ मे अनिश्चित रूप से असम्बद्ध भागो से बना होता है परन्तु धीरे-धीरे उसके भिन्न भिन्न भाग होने लगते हैं। इस परिवर्तन के साथ-साथ उस पदार्थ की गति, जो उसके साथ होती रहती है, भी परिवर्तित हो जाती है।

सामाजिक उद्विकास के बारे मे जब उद्विकास की इस धारणा को लेकर सोचते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "प्रारम्भ मे समाज के विभिन्न असम्बद्ध भाग आपस मे जुडे रहते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक आदिम समाज म आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों के विशेषीकरण नहीं होते और वे केवल आपस मे मिले रहते हैं। धीरे-धीरे इन विभिन्न भागो मे विभाजन होना प्रारम्भ हो जाता है और तब हम समाज के प्रत्येक भाग के कार्यों को अलग-अलग स्पष्ट कर पाते हैं। इन विभिन्न भागो के लिए विभिन्न समितियो एव सस्थाओ का जन्म हो जाता है।"

उद्विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्पेन्सर लिखते हैं, "उद्विकास कुछ तत्त्वो का एकीकरण तथा उससे सम्बन्धित वह गति है जिसके दौरान कोई तत्त्व एक अनिश्चित तथा असम्बद्ध समानता से निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता मे बदल जाता है।"[1] मैकाइवर एव पेज लिखते हैं, "जब परिवर्तनो मे निरन्तरता ही

1 *Herbert Spencer :* Quoted from Robert Bierstedt : The Social Order, p 69–70

नही होती वरन् परिवर्तन की एक दिशा भी होती है, तो ऐसे परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उद्विकास से होता है।"[1]

स्पेन्सर एव मैकाइवर व पेज के उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि उद्विकास की प्रक्रिया को सामाजिक सन्दर्भ मे प्रयोग किया जा सकता है। मानव समाज के इतिहास मे किसी भी व्यवस्था मे जहाँ कही हम अगो (Parts) तथा इकाइयो (Units) मे उत्तरोत्तर बढता हुआ विशिष्टीकरण देखते हैं, तो हम इसे उद्विकास कह सकते हैं। उद्विकास का सार भिन्नता की प्रक्रिया म निहित है जो उपरोक्त अर्थों मे एकीकरण को भी इगित करती है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार समाज मे भिन्नता की अभिव्यक्ति निम्नलिखित रूप मे होती है—

(अ) अधिकाधिक श्रम-विभाजन द्वारा समूह मे वृहत् सहयोगी व्यवस्था तथा प्रकार्यात्मक सम्बन्धो के एक अधिक जटिल रूप का विकास।

(आ) व्यावसायिक सगठनो तथा सस्थाओ की सस्थाओ एव प्रकारो मे बढोतरी। इससे इनके द्वारा सेवाओ तथा कार्यक्षेत्र का अधिकाधिक स्पष्टीकरण और सेवाओ के क्षेत्र एव प्रकृति का अधिकाधिक सकुचन।

(इ) सामाजिक सम्प्रेषण के साधनो मे अधिक वैभिन्यता तथा सशोधन, जैसे सबसे अधिक भाषा के माध्यम मे विकास।

विभिन्न समाजशास्त्रियो ने उद्विकास के इन पहलुओ मे से किसी एक अथवा दूसरे पर बल दिया है। जैसे दुर्खीम ने सामाजिक विकास के मापदण्ड के रूप म सामाजिक श्रम विभाजन पर सर्वाधिक बल दिया है। कुछ अन्य विद्वानो जैसे—टाईलर, मोर्गन, हेडन, मेक्लेनन, लेवी ब्रूह्ल तथा अन्य व्यक्तियो ने समाज के विभिन्न पक्षो के विकास पर प्रकाश डाला है तथा यह प्रदर्शित किया है कि समाज तथा उसकी विभिन्न संस्थाएँ जैसे विवाह, परिवार, धर्म, राज्य, कानून आदि उद्विकासीय स्तरो के विभिन्न क्रमो से गुजरी है। उदाहरणार्थ, आर्थिक क्षेत्र मे उद्विकास के प्रमुख स्तर निम्नवत् हैं—

(1) शिकार युग,
(2) चरागाह युग,
(3) कृषि युग, तथा
(4) औद्योगिक युग।

इसी प्रकार विवाह तथा परिवार के सम्बन्ध मे उद्विकासवादियो द्वारा कल्पना की गई है कि ये दोनो सस्थाएँ भी निम्नलिखित स्तरो से गुजरी हैं—

(1) यौन स्वच्छन्दता
(2) समूह विवाह (Group Marriage),
(3) बहुपति विवाह (Polygamy),

1 *Maciver & Page* Society, p 522

(4) बहु पत्नी विवाह (Polyndary) और
(5) एक विवाह (Monogamy)।

इस प्रकार सामाजिक उद्विकासवादियो की यह प्रमुख मान्यता रही है कि *मानव समाज का प्रारम्भिक स्वरूप अत्यधिक सरल* रहा है, किन्तु धीरे-धीरे यह कई स्तरो से गुजरते हुए जटिलतम रूप की ओर अग्रसर होता जाता है। उनके मतानुसार आदिम युग म समाज अत्यधिक सादा और सरल था। इसके विभिन्न अग इस प्रकार घुले मिले थे कि उन्हे अलग नही किया जा सकता था, परन्तु धीरे धीरे सामाजिक जीवन के विभिन्न अग स्पष्ट और पृथक होते गए। उनमें श्रम विभाजन और विशेषीकरण का सचार हुआ, किन्तु अधिकाधिक भिन्नता के उपरा त भी एकीकरण होता है अर्थात् विभिन्न अग एक दूसरे से अलग होते हुए भी एक दूसरे पर आश्रित होने हैं। इस प्रकार समाज मे भिन्नता और समन्वय की दोनो प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। इसलिए यह कहा गया है कि समाज समन्वय तथा विभिन्नता का एक गतिशील सन्तुलन है।

सामाजिक मानवशास्त्र मे उद्विकासीय प्रारूप पर प्रमुख रूप से मॉर्गन, टाईलर, बैंकोफन, एग्रीमैन एव बाद मे बोवास ने प्रमुख रूप से कार्य किया। उद्विकासीय प्रारूप (Evolutionary Model) के दृष्टिकोण से मॉर्गन (Morgan) का काय अधिक प्रतिष्ठित है। मॉर्गन एक प्रमुख अमेरिकी समाजशास्त्री तथा मानवशास्त्री रह हैं एव इन्हें सामाजिक मानवशास्त्र मे उद्विकासीय प्रारूप का प्रवृतक (Founder) भी कहा जाता है। मॉर्गन एक ईरोक्वा (Iroquois) नामक अमेरिकी जनजाति से इतना आकर्षित हुआ कि उसने उनके साथ रहकर अपना कुछ समय व्यतीत किया, जिससे कि वह उस समाज का प्रत्यक्ष अवलोकन और अध्ययन कर सके। ईरोक्वा समाज की भाषा सीखते समय उसने यह देखा कि वहाँ के लोग पिता या भाई आदि के लिए जिन शब्दो का प्रयोग करते हैं उसी शब्द को बहुत सारे इनके रिश्तेदारो के लिए भी प्रयोग करते हैं। इस आश्चर्यजनक घटना के अध्ययन का ब्यौरा उसने अपनी महान् कृति 'सिस्टमस् ऑफ एफीनीटी एण्ड कॉनसान्यूटी' मे दिया जो सन् 1871 मे प्रकाशित हुई।

मॉर्गन ने यह सोचा कि ईरोक्वा लोगों मे माता पिता कौन है इसका पता शायद नही होगा, परन्तु ऐसी कोई बात नहीं थी। ईरोक्वा को अपन माता पिता के बारे मे कोई भ्रम न था। अत मॉर्गन ने यह अटकल लगाई कि शायद नातेदारी की यह शब्दावली, जिसे बाद मे नातेदारी की वर्गीकृत प्रणाली की सज्ञा दी जाती है शायद उस जनजाति की पूर्ववत् स्थिति मे व्याप्त रही होगी और अब तक चली आ रही है। उस पूर्ववत् स्थिति म वास्तविक माता-पिता के बारे मे शायद भ्रम रहा होगा। इसी मे मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास मे विभिन्न चरणों या स्तरो को निश्चित कर दिया। परिवार का एक पूर्ण रूप से सकीर्णता (Promiscuity) की स्थिति स एक विवाही परिवार की स्थिति मे हुआ है और उसन अनेक रिश्तो

को एक ही शब्दावली से सम्बोधित करने की रीति एक उत्तरजीविता मात्र माना जो सकीर्णता की स्थिति मे पहले कभी रही होगी। पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से यहाँ यह जान लेना अच्छा होगा कि मॉर्गन के इस प्रारूप की एक विधि है और वह है कि हम किसी वर्तमान मे मिलने वाली घटना का कारण या व्याख्या पूर्व म पाई जाने वाली घटना या स्तर से करते हैं। यही उद्‌विकासीय विचारधारा एव मॉर्गन के प्रारूप का निष्कर्ष है। मॉर्गन ने परिवार और विवाह सस्था का उद्‌विकास (Evolution) स्थापित किया जो कि सकीर्णता से एक विवाह (Monogamy) मे हुआ है।

इस प्रकार मॉर्गन के उपर्युक्त विचारो को निष्कर्षत निम्नांकित बिन्दुओ मे रखा जा सकता है—

(1) संस्कृति का विकास एक के बाद दूसरे चरण मे होता है।
(2) लगभग यही चरण दुनिया के समस्त भागो मे पाए जाते है अर्थात् इन चरणो मे समानता होती है।
(3) न केवल चरण बल्कि इन चरणो के बीच का क्रम भी लगभग समान होता है अर्थात् इनकी अन्तर्वस्तु एक जैसी होती है।
(4) सभी समाजो मे मानव की मानसिक क्रियाएँ एक सी हैं। इनके उद्‌भव एव तुलना को देखा व विश्लेषित किया जा सकता है।

इस प्रकार मॉर्गन ने अपने उद्‌विकासीय प्रारूप मे तीन स्तरो का उल्लेख किया है जो निम्नांकित है—

(1) जगली स्तर (Savagery Stage),
(2) बर्बर स्तर (Barbarism Stage), एव
(3) सभ्य स्तर (Civilization Stage)।

मॉर्गन ने जगली एव बर्बर स्तर को तीन उप-स्तरो यथा निम्न, मध्य एव उच्च वर्गों मे विवेचित किया है, एव आपके अनुसार नातेदारी, विवाह तथा परिवार का उद्‌विकास इसी प्रकार हुआ है। मॉर्गन के अनुसार प्रथम से लेकर अतिम चरण के बीच क्रमश समूह विवाह, बहुपत्नी विवाह एव बहुपति विवाह की स्थितियाँ स्थापित हुई हैं।

सर हेनरीमेन ने विभिन्न समाजों मे कानून (Law) के उद्‌विकास की विवेचना की एव यह बताया कि कानून का उद्‌विकास प्रस्थिति से समझौते की ओर (प्रस्थिति का आशय है प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status) जिसे व्यक्ति जन्म से ही प्राप्त कर लेना है एव समझौते का आशय है जिसे व्यक्ति जन्म से प्राप्त न कर अधिकार एव कर्त्तव्यो के आधार पर जानबूझ कर प्राप्त करे) हुआ है।

ई बी टाईलर (E B Tylor), जो इग्लैण्ड के प्रसिद्ध मानवशास्त्री थे, ने धर्म (Religion) के क्षेत्र मे कार्य किया एव उन्होंने बताया कि धर्म का विकास जीववाद (Animism) से लेकर एक धर्म की अवस्था मे हुआ।

जेम्स फ्रेजर, बेकोफन एव बोग्रास ग्रादि ने भी उद्विकास के क्षेत्र मे कार्य किया। फ्रेजर ने जादू के उद्विकास को विवेचित करने का प्रयास किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक मानवशास्त्र मे उद्विकासीय या विकासात्मक प्रारूप परम्परागत रूप से काफी महत्त्वपूर्ण रहा है।

उद्विकासीय प्रारूप की ग्रालोचना
(Criticism of Evolutionary Model)

ग्रनक मानवशास्त्री ऐसे हुए है जो उद्विकासीय प्रारूप की ग्रालोचना करते हैं एव इसे ग्रध्ययन का सही दृष्टिकोण नही मानते। उनके ग्रनुसार उद्विकासीय प्रारूप की प्रमुख ग्रालोचना निम्नांकित है—

(1) उद्विकासवादी ये विवेचित करने मे पूरी तरह ग्रसफल रहे हैं कि सम्पूर्ण मानव के विकास की ग्रवस्थाएँ एक ही श्रृ खला से होकर गुजरी हैं ग्रपितु उसके कुछ वैकल्पिक मार्ग भी रहे है।

(2) विकासवादियो के इस मत की कडी ग्रालोचना हुई है कि सस्कृति के सभी तत्त्वा का विकास सदैव स्वतन्त्र रूप से होता है ग्रौर सांस्कृतिक समानताएँ समानान्तर या समरेखिक उदविकास का परिणाम होती हैं। सस्कृतियो के विकास मे 'प्रसार' (Diffusion) तथा लेन देने का तत्त्व भी निर्णायक भूमिका ग्रदा करता है। प्रसिद्ध मानव वैज्ञानिक गोल्डनविजर (Goldenwiser) ने लिखा है कि 'उद्विकास के सिद्धान्त की प्रमुख कमजोरी यह है कि इस सिद्धान्त के प्रवर्तको ने प्रसार के महत्त्व को पूर्णत भुला दिया है।"

(3) प्रारम्भिक उदविकासवादियो ने सार्वभौमिक उद्विकास पर बल दिया है। ग्रत उन्होंने प्राचीन लक्षणो को प्रदर्शित करने वाली समकालीन जनजाति को पिछडा हुग्रा ग्रर्थात् उसे एक प्रकार 'जीवावशेष' मानने की गलती की है। उन्होंने इस तथ्य की उपेक्षा की है कि यह जनजाति स्वय उद्विकासीय प्रक्रिया द्वारा उत्पादित स्वरूपो मे ग्रन्तिम थी।

(4) विकासवादी प्रस्थापनाएँ ग्रटकलबाजीपूर्ण प्रमाणो पर ग्राश्रित हैं। उन्होंने जिन तथ्यो का प्रयोग किया वे सिद्धान्त की पुष्टि करने मे ग्रपर्याप्त थे।

(5) यह विश्वास किया जाना कठिन है कि ग्राधुनिक समाज मानव के विकास की उच्चतम स्तर की द्योतक है। उद्विकासीय प्रक्रिया को प्रगति के साथ जोड़ने का उनका प्रयास भी भ्रान्तिमूलक है।

(6) उद्विकासवादियो की मान्यता है कि प्रत्येक परिवर्तन प्राकृतिक शक्तियो द्वारा होता है ग्रौर ये शक्तियाँ वस्तु मे ग्रन्तर्निहित होती हैं, किन्तु यह बात पूर्ण रूपेण सही नही है। मानव समाज ग्रौर सस्कृति मे होने वाले परिवर्तन को नियन्त्रित किया जा सकता है। यह नियम प्राणिशास्त्रीय जगत मे जितना चरितार्थ होता है, उतना सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश मे नही होता।

(7) इन प्रारूप के प्रणेताग्रो ने एक ग्रौर भूल की है कि प्रत्येक समाज मे एक ही नियम लागू किया जा सकता है। वास्तव मे प्रत्येक समाज की भौगोलिक

और अन्य परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं, जिनका प्रभाव सामाजिक प्रक्रियाओ पर पडे बिना नही रहता । अत भिन्न परिस्थितियो के होने हुए भी सभी समाजो मे उद्‌विकासीय प्रक्रिया को एक समान मानना भूल होगी ।

फ्रेंच समाजशास्त्री लेवी स्ट्रास ने उद्‌विकासीय प्रारूप की आलोचना करते हुए लिखा है कि "मानवशास्त्र को उत्पत्तियाँ तथा उद्‌विकास को खोजने के सभी प्रयास छोड देने चाहिए ।"[1] ऐतिहासिक अभिनति के प्रभाव के कारण उद्‌विकासीय लेखको ने सामान्य नियमो की खोज की अपेक्षा 'उत्पत्ति की खोज' पर ही अधिक ध्यान दिया । यही कारण है कि इन लेखको ने 'गण चिह्नवाद की उत्पत्ति', 'बहिर्विवाह की उत्पत्ति', 'भाषा की उत्पत्ति', 'धर्म की उत्पत्ति' और इसी प्रकार 'सम्पूर्ण समाज की उत्पत्ति' सम्बन्धी सिद्धान्तो की रचना की है । यह सन्देहात्मक ही है कि क्या इन लेखको ने हमारे ज्ञान मे कोई वृद्धि की है तथा सभ्यता को समझने मे सहायता की है । उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तो की सबसे बडी कमजोरी यह रही है कि इनकी सत्यता की परीक्षा करना सम्भव नही है । इन सिद्धान्तो के द्वारा यह तो बताया जा सकता है कि परिवार, धर्म, गणचिह्नवाद आदि की उत्पत्ति इस प्रकार होगी, किन्तु हम किसी भी भाँति यह बताने मे असमर्थ हैं कि वास्तव मे इनकी उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है ।

एस. एफ नडेल ने इस बात पर बल दिया है कि "उद्‌विकास की अवधारणा की अपनी कुछ कमियाँ होते हुए भी, हमें उद्‌विकास की अवधारणा की आवश्यकता है, किन्तु उद्‌विकास के नियम इतनी अधिक मात्रा मे है कि विभिन्न समाजो व सस्कृतियो के राम श्याम तथा मोहन के व्यवहारो को समझने मे कठिनाई से हमारी सहायता कर सकेंगे, जो कि हमारा मुख्य विषय है । शायद उद्‌विकास के कोई विशिष्ट नियम नही है, अपितु मात्र यह एक नियम या एक प्रस्थापना है, जो यह बताता है कि उद्‌विकास होता है ।"[2] सामाजिक उद्‌विकास के विभिन्न प्रतिष्ठित स्वरूप तुच्छ आधारो पर आधारित होते हुए भी हमारे समय के कुछ विद्वानो द्वारा इसे सन्तुलित रूप मे प्रस्तुत किया गया है, जिससे अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होन की सम्भावना नही है, "इस अर्थ मे उद्‌विकास परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसका जन्म किसी नवीन वस्तु की उत्पत्ति द्वारा होता है तथा जो सक्रमण मे एक व्यवस्थित निरन्तरता को प्रदर्शित करती है ।"[3]

तुलनात्मक प्रारूप
(Comparative Model)

सामाजिक प्रघटनाओ के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने के लिए मानवशास्त्री जिन प्रारूपो को काम मे लेते हैं उनमे तुलनात्मक प्रारूप का

1 *Levy Strauss* Quoted from Gurvitch & Moore · Twentieth Century Sociology, p. 536
2 *S F. Nadel* : The Foundations of Social Anthropology, p. 106
3 *Morris Ginsberg* · Sociology, p 78.

स्थान भी अत्य त महत्त्वपूण है। तुलना मक प्रारूप के आधार पर मानवशास्त्री समग्र मानव सस्कृतिया की सामा य विशषताओ का पता लगाने मे समथ होत है। इस प्रारूप के अनुसार मानवशास्त्री विभिन्न सस्कृतियो तथा उनके विभिन्न प्रतिमान का अलग अलग अध्ययन करते है एव साथ ही साथ उनकी उत्पत्ति क्रमिक विकास एव बाद मे विनाश के आधारो को खोजते हैं फिर इन सस्कृतियो म से जो सामा य वस्तु होती है उनके आधार पर सामा यीकरण (Generalization) प्रस्तुत करते हैं। अत इस प्रारूप के द्वारा विभिन्न समाजो की सस्कृति सस्थाओ की उ पत्ति विकास एव विनाश के सामा य कारणो व आधारो को खोजा जाता है।

अत्य त सामा य भाषा मे जब एकाधिक घटनाओ या तथ्यो की परस्पर तुलना करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाए तो उसे तुलनात्मक दृष्टिकोण कहा जाता है। जी स बग ने लिखा है 'तुलनात्मक दृष्टिकोण केवल तुलनाओ को प्रस्तुत करने की विधि ही नही अपितु तुलनाओ की व्याख्या करने का तरीका है। अत स्पष्ट है कि तुलनात्मक प्रारूप अध्ययन की वह विधि है जो कि एकाधिक सामाजिक प्रघटनाओ से सम्बन्धित तथ्यो का उनमे पाई जाने वाली समानताओ व विभिन्नताओ के आधार पर तुलनात्मक विश्लषण व व्याख्या प्रस्तुत करता है एव वज्ञानिक नियमो को प्रतिपादित करता है। इस प्रकार तलनात्मक विश्लषण अथवा तुलनात्मक प्रारूप व्याख्या के माध्यम से सामाजिक नियमो की खोज की जाती है।

सामाजिक विज्ञानो मे तुलनात्मक दृष्टिकोण या प्रारूप का इतिहास उस समय आरम्भ होता है जबकि सवप्रथम प्रारम्भिक मानवशास्त्रियो ने इसका उपयोग सस्कृति (Culture) के अध्ययन मे किया है। विभिन्न प्रदेशो व विभिन्न युगो की सस्कृतियो या सास्कृतिक विशेषताओ को चुनकर और उनकी बहुत कुछ कृत्रिम तुलना करके यह निष्कष निकाला गया है कि सभी समाजो मे सस्कृति का विकास सामाजिक रूप म कुछ निश्चित स्तरो से होकर गुजरा है। इसी आधार पर सामाजिक या सांस्कृतिक उदविकास के सिद्धा त को प्रतिपादित किया गया। इसके बा स्पेन्सर तुलनात्मक दृष्टिकोण को अपनाने के काम मे अगुआ बने और समाज व सावयव (Society and Organism) की तुलना करके इस निष्कर्ष पर पहुचे कि समाज सावयव की भाति है। दोनो का ही विकास धीरे धीरे कुछ निश्चित स्तरो से गुजरता हुआ तथा सरल से जटिल की ओर होता है दोनो के ही विभिन्न अगो में श्रम विभाजन व विशेषीकरण के साथ-साथ अ त सम्ब ध व अन्त निभरता देखने को मिलती है। इसी अ त सम्ब घ के आधार पर दोनो मे ही अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए एक सचार या वितरण व्यवस्था होती है। टायलर फ्र जर मागन आदि विद्वानो ने भी तुलनात्मक अध्ययनो द्वारा सस्कृति व सामाजिक सस्थाओ क उद्विकासीय सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया।

समाजशास्त्र के जन्मदाता ऑगस्त कॉम्त (August Comte) ने भी अपने समाज विज्ञान के लिए तुलनात्मक दृष्टिकोण को ही चुना। कॉम्त का मत था कि समाजशास्त्र की सफलता इसी दृष्टिकोण को अपनाने म निहित है। इस दृष्टिकोण के द्वारा उद्विकास के विभिन्न स्तरो को तुरन्त देखा जा सकता है। कॉम्त ने इसी दृष्टिकोण की सहायता से अपना तीन स्तरो का नियम (Law of Three Stages) विकसित किया है जिसके अनुसार सभी समाजो मे और सभी युगो मे मानव के बौद्धिक विकास का अध्ययन करने से एक महान् आधारभूत नियम का पता चलता है। यह नियम इस प्रकार है—हमारी प्रत्येक प्रमुख अवधारणा, हमारे ज्ञान की प्रत्येक शाखा, एक के बाद एक तीन विभिन्न सैद्धान्तिक दशाओ से होकर गुजरती है—धार्मिक अथवा काल्पनिक अवस्था (Theological Stage), तात्त्विक अथवा अमूर्त अवस्था (Metaphysical Stage) और वैज्ञानिक अथवा प्रत्यक्ष अवस्था (Positivistic Stage)। प्रत्यक्ष अवस्था मे जिस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया जाता है उसके अग हैं निरीक्षण प्रयोग और तुलना। कॉम्त के अनुसार समग्र रूप मे मानवता के विकास को तथा विभिन्न स्तरो को समझने के लिए तुलनात्मक दृष्टिकोण को ही अपनाना चाहिए। अमेरिका मे वार्ड (L F Ward) ने भी कॉम्त के विचारो का ही समर्थन किया है।

कॉम्त के बाद एक और फ्रेंच विद्वान दुर्खीम (E. Durkheim) ने अपनी पुस्तक मे सर्वप्रथम तुलनात्मक दृष्टिकोण के महत्त्व को स्वीकार किया। यह दावा करने के बाद कि समाजशास्त्रीय एव मानवशास्त्रीय व्याख्या पूर्णतया कार्य कारण सम्बन्धो की स्थापना मे निहित है, दुर्खीम ने यह मत व्यक्त किया कि यह प्रदर्शित करने के लिए कि एक घटना दूसरी घटना का कारण है, यह देखना आवश्यक हो जाता है कि दोनो घटनाएँ साथ-साथ उपस्थित या अनुपस्थित है या नही एव वे एक दूसरे पर आश्रित है या नहीं। बहुत से प्राकृतिक विज्ञानो मे इस कार्य-कारण सम्बन्धो को प्रयोग द्वारा दर्शाना सरल है। पर चूँकि समाजशास्त्र मे प्रत्यक्ष रूप मे प्रयोग करना सम्भव नही है इस कारण दुर्खीम के अनुसार "हमे बाध्य होकर अपने अध्ययन कार्य मे अप्रत्यक्ष प्रयोग की पद्धति अर्थात् तुलनात्मक पद्धति को अपनाना होता है।" आपका विश्वास था कि इस पद्धति की सहायता से विभिन्न सामाजिक घटनाओ के पारस्परिक सम्बन्धो को उन घटनाओ मे पाए जाने वाले सामान्य नियमित क्रम को दर्शाया जा सकता है।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए आदर्श प्रारूपो (Ideal Types) का होना ही इस नए तुलनात्मक प्रारूप के लिए उल्लेखनीय आधार था एव वस्तुत इसका श्रेय प्रमुख जर्मन समाज शास्त्री मैक्स वेबर (Max Weber) को जाता है। मैक्स वेबर के समय पर जर्मनी मे इस प्रकार के विद्वानों का एक कट्टर सम्प्रदाय विकसित हो गया था जो इस बात पर विश्वास करता था कि सामाजिक घटनाओ का प्राकृतिक विज्ञानो की पद्धति के अनुसार विचार नही किया जा सकता। यह विद्वान सामाजिक क्षेत्र मे व्याख्या और स्पष्टीकरण को मलत: ऐतिहासिक मानते थे। इस

सम्बन्ध मे मैक्स वेबर का मत है कि तर्कसगत रीति से सामाजिक घटनाओ के कार्य-कारण सम्बन्धो को तब तक स्पष्ट नही किया जा सकता जब तक कि उन घटनाओ को पहले समानताओ के आधार पर कुछ सैद्धान्तिक श्रेणियो मे बाँट न लिया जाए। ऐसा करन पर हम अपने तुलनात्मक अध्ययन के लिए कुछ 'आदर्श टाइप' (Ideal Type) घटनाएँ मिल जाएँगी। आदर्श प्रारूप न तो औसत प्रारूप है, न ही आदर्शात्मक, बल्कि वास्तविकता के कुछ विशिष्ट तत्वो के विचारपूर्वक चुनाव तथा सम्मिलन द्वारा निर्मित 'गैर आदर्शात्मक मान' (Non Normative Standard) हैं। दूसरे शब्दो मे, विशिष्ट प्रारूप का अर्थ है कुछ वास्तविक तथ्यो के *तर्कसगत आधार पर यथार्थ अवधारणाओ का निर्माण करना।* तुलनात्मक अध्ययन के लिए कोई भी वैज्ञानिक किसी भी घटना के आदर्श प्रारूप का निर्माण कर सकता है चाहे वह वेश्याओ से सम्बन्धित हो या धार्मिक नेताओ से। वास्तव मे मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक घटनाओ के क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत और जटिल है। इस कारण अध्ययन काय तथा प्रघटनाओ क विश्लेषण मे सुविधा और यथार्थता के लिए यह आवश्यक है कि समानताओ के आधार पर विचारपूर्वक तथा तर्कसगत ढग से कुछ वास्तविक घटनाओ या व्यक्तियो को इस प्रकार चुन लिया जाए जो कि उस प्रकार की समस्त घटनाओ या व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व कर सकें। इस प्रकार के चुनाव और सम्मिलन द्वारा जिस टाइप या प्रारूप का निर्माण होता है उसे ही 'विशिष्ट प्रारूप' कहते हैं। विशिष्ट प्रारूप के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन वैज्ञानिक ढग से किया जा सकता है और मैक्स वेबर ने इसी पद्धतिशास्त्र की मदद से विश्व के छ महान् धर्मों कनफ्यूशियन, हिन्दू बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, तथा यहूदी धम का अध्ययन करक धर्म के आर्थिक जीवन पर पडने वाले प्रभावो को दर्शाया है।

तुलनात्मक प्रारूप की प्रमुख आवश्यकताएँ
(Main Requisites of Comparative Model)

तुलनात्मक प्रारूप को वैज्ञानिक आधार पर काम मे लाने के लिए कुछ बातो का होना आवश्यक है जिन्हे हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है —

(1) अध्ययन के क्षेत्र से परिचय (Familiarity of the Field of Study)—तुलनात्मक प्रारूप की प्रमुख आवश्यकता यह है कि अनुसन्धानकर्त्ता का अध्ययन विषय के सभी पक्षो से परिचय हो ताकि वह तुलनात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक तथ्यो का वास्तविक सकलन उचित ढग से कर सके। अतएव यह आवश्यक है कि केवल समस्या के सम्बन्ध मे ही नही अपितु समस्या की सामाजिक पृष्ठभूमि का भी उसे ज्ञान हो। इस ज्ञान के बिना यह डर बना रहेगा कि अनुसन्धानकर्त्ता ऐसे बेकार क तथ्यो के सकलन मे अपना समय व शक्ति को खर्च कर जिनका कि तुलनात्मक अध्ययन मे कोई महत्त्व नही है।

(2) गहन निरीक्षण तथा अन्तर्दृष्टि (Keen Observation and Insight)—तुलनात्मक प्रारूप के उपयोग के लिए यह भी आवश्यक है कि अनुसन्धानकर्त्ता म गहन निरीक्षण करने की क्षमता तथा अन्तर्दृष्टि पर्याप्त मात्रा मे हो। उसमे यह योग्यता होनी चाहिए कि वह अमूर्त सामाजिक घटनाओ की जड तक पहुँच सके और

निरीक्षण के द्वारा उन विशिष्ट आधारों को जान सकें जो कि उस घटना से सम्बन्धित हैं। केवल तुलना ही पर्याप्त नहीं जब तक कि आधारभूत तथ्यों को खोज न निकाला जाए।

(3) आलोचनात्मक विश्लेषण (Critical Analysis)—तुलनात्मक प्रारूप के अन्तर्गत वैज्ञानिक निष्कर्ष तब तक सम्भव नहीं है जब तक संकलित तथ्यों का आलोचनात्मक विश्लेषण न किया जाए, और केवल तथ्यों का ही क्या, उन वास्तविक परिस्थितियों का भी आलोचनात्मक विश्लेषण आवश्यक है जिनमें कि एक घटना विशेष वास्तव में घटित हुई है। आलोचनात्मक विश्लेषण के बिना तथ्यों के अन्तर्निहित अर्थों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता और तथ्यों के वास्तविक अर्थों को समझे बिना तुलनात्मक अध्ययन सम्भव नहीं। आलोचनात्मक विश्लेषण से केवल तथ्यों के ही नहीं, घटना के भी विभिन्न पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं और तुलनात्मक व्याख्या सरल हो जाती है।

(4) तर्कसंगत व्याख्या (Logical Interpretation)—तुलनात्मक प्रारूप में तथ्यों की तर्कसंगत व्याख्या भी आवश्यक है। आवश्यक चीजों को आवश्यक चीजों में से पृथक् करने तथा प्रत्यक्ष सहसम्बन्धों को ढूँढने के लिए (जो कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक है) तथ्यों की तर्कसंगत व्याख्या बहुत जरूरी है। तुलना करने का तर्कसंगत आधार भी होना चाहिए।

(5) सावधानी पूर्वक रिपोर्ट प्रस्तुत करना (Cautious Reporting)—तुलनात्मक विश्लेषण व व्याख्या ही पर्याप्त नहीं है, यह भी आवश्यक है कि जो भी रिपोर्ट हम प्रस्तुत करें उसे सावधानीपूर्वक तैयार करें ताकि रिपोर्ट में व्यक्तिनिष्ठा पनपने की गुंजाइश न हो। वैज्ञानिक मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठ रिपोर्ट तुलनात्मक प्रारूप की एक आवश्यक शर्त है।

तुलनात्मक प्रारूप के प्रमुख चरण
(Main Stages of Comparative Model)

तुलनात्मक प्रारूप के प्रमुख चरण निम्नांकित बिन्दुओं में प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(1) अध्ययन की जाने वाली अवस्थाओं का निरीक्षण व माप—तुलनात्मक प्रारूप का प्रथम चरण यह है कि अध्ययन की जाने वाली अवस्थाओं व तथ्यों का सीधे तौर पर निरीक्षण किया जाए ताकि निर्भर योग्य सूचनाएँ प्राप्त हो सकें। माप भी आवश्यक है ताकि सही और निश्चित तथ्यों का ही संकलन किया जा सके। प्रत्यक्ष निरीक्षण व माप के बिना यह डर बना रहेगा कि अवस्थाओं का सही मूल्यांकन हम न कर पाएँ और उस दशा में तथ्यों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों को दर्शाना एवं उनके तुलनात्मक आधारों को ढूँढना हमारे लिए सम्भव न हो।

(2) विषयों के एक वर्ग या वर्गों में उपस्थित या अनुपस्थित कारकों को नोट कर लेना—प्रत्यक्ष निरीक्षण व माप करते समय हमें यह नोट कर लेना

चाहिए कि जिन विषयो का तुलनात्मक अध्ययन हमे करना है उनमे कौन कौन से कारक मौजूद हैं और कौन कौन से कारक नही हैं। कारको की इस उपस्थिति और अनुपस्थिति का सही ज्ञान हो जाने पर दो या अधिक विषयो का तुलनात्मक अध्ययन हमारे लिए सरल हो जाएगा। इसलिए यथार्थ तुलना के लिए यह काम अनिवार्य है।

(3) उपस्थित या अनुपस्थित कारकों तथा अवस्थाओ की तुलना—तुलनात्मक प्रारूप के तीसरे चरण मे अर्थात् अध्ययन विषयो मे उपस्थित या अनुपस्थित कारको तथा अवस्थाओ को नोट कर लने के बाद उनकी तुलना निश्चित व सीधे तौर पर करनी होती है। यह काम अत्यन्त सावधानी स करना चाहिए क्योकि एक विषय के प्रत्येक पक्ष के साथ दूसरे विषय या विषयो के प्रत्यक सम्बन्धित पक्ष की तुलना कोई सरल काम नही होता इसलिए तुलनात्मक दृष्टिकोण मे इस चरण का बहुत ही महत्त्वपूर्ण और साथ ही कठिन माना जाता है।

(4) निष्कर्ष निकालना—उपस्थित या अनुपस्थित कारको व अवस्थाओ की तलना करते समय हमारा उद्देश्य होता है निश्चित निष्कर्षो को निकालना। यदि कारको तथा अवस्थाओ को ठीक ढग से जान लिया गया है और यदि तुलना करने का काम सही रूप म किया गया है तो तर्कसगत रूप मे निश्चित निष्कर्षो तक पहुँचने मे कोई कठिनाई नही होती है।

(5) अध्ययन की रिपोट प्रस्तुत करना—तुलनात्मक प्रारूप के अन्तिम चरण मे अध्ययन की रिपोट प्रस्तुत करनी होती है अर्थात् इस स्तर पर अध्ययन के सम्पूर्ण परिणामो को तार्किक ढग से इस प्रकार व्यवस्थित करना होता है कि प्रत्यक पाठक तथ्यो को समझने और निष्कर्षो की वैधता स्वय निर्धारित करने मे समर्थ हो सके।'

सामाजिक मानवशास्त्र मे तुलनात्मक प्रारूप औपचारिकत रेडक्लिफ ब्राउन (Redcliffe Brown) की देन है। रेडक्लिफ ब्राउन ने कहा है कि सामाजिक मानवशास्त्र म तुलना का उद्देश्य सामाजिक जीवन के विभिन्न प्रारूपो की खोज करके उनके आधार पर मानवीय आभासो के सिद्धान्त का आभास करना है। ब्राउन के इस कथन से तुलनात्मक प्रारूप का व्यापक उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। वास्तव म ब्राउन के विचार उनके अपनी देन नही थे वरन् उनके प्रतिष्ठित विद्वान् एव प्रसिद्ध फ्रांसीसी मानवशास्त्री इमाइल दुर्खीम की देन है। दुर्खीम को समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्री दोनो समान रूप से एक सस्थापक के रूप म स्वीकार करते हैं। दुर्खीम ने न केवल तुलनात्मक समाजशास्त्र का प्रचार किया बल्कि उस अपने व्यवहार म भी परिणित किया। दुर्खीम का विश्वास था कि सभी प्रकार के समाजो के अध्ययन के लिए एक सी विधियो को उपयोग म लाना चाहिए और उन्होने स्वय आस्ट्रेलियन जनजातियो के बीच टोटमवाद (Totemism) के समकालीन यूरोपियन के आत्महत्या की दर के एव पुरातन्त्र तथा वर्तमान सम्यताओ के मध्य घनिष्ठता के स्वरूप के अध्ययन का तुलनात्मक विधि का प्रयोग किया।

ब्राउन के बाद मेलिनॉस्की (Malinowski) एव उनके छात्रों ने मुख्यत अफ्रीका मे काम किया जहाँ उन्होने जनजातियो के बहुविध सस्थानो का अनुसधान किया था। ये अनुसधान, विशेष समाजो के विभिन्न सस्थानो के मध्य बहुविध अन्योन्याश्रयो को जीवत तरीके से उद्घाटित कर देते हैं और इस प्रकार सामाजिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्तो को ठीक से समझने के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। अफ्रीकी जनजातियो के मध्य भी राजनीति, रिश्तेदारी और ब्रह्माँडिकी के तुलनात्मक अध्ययन किए गए थे। जनजातियो के ये विस्तृत अध्ययन—सामान्य और विशिष्ट-दोनो सिद्धान्तों को समझने की दिशा मे उपयोगी सिद्ध होने के साथ-साथ औपनिवेशिक प्रशासको के लिए व्यावहारिक रूप से भी मूल्यवान सिद्ध हुए।

कुछ मानवशास्त्री तुलनात्मक प्रारूप मे साँस्कृतिक तथ्यो को अधिक महत्व देते हैं अर्थात् तुलना करने मे विभिन्न साँस्कृतिक तथ्यो को एक-एक पृथक् इकाई के रूप मे देखा जाता है एव बाद मे विभिन्न समाजो मे पाई जाने वाली इन इकाइयो की पृथक् पृथक् तुलना की जाती है लेकिन इस विचार के विपरीत कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो साँस्कृतिक क्षेत्रो को ही अपनी तुलना का आधार बनाते हैं। विसलर (Wisler) का नाम इसमे प्रमुख है। फ्रेन्ज बोवास ने सम्पूर्ण ससार के साँस्कृतिक परिवर्तन एवं प्रसार की एक साथ तुलना करने के बजाय इसे ज्यादा उपयुक्त समझा कि संसार को विभिन्न साँस्कृतिक क्षेत्रो मे विभाजित कर दिया जाए एव उसके बाद एक-एक साँस्कृतिक क्षेत्र का अध्ययन किया जाए एव बाद मे अन्य साँस्कृतिक क्षेत्रो से उनकी तुलना व विश्लेषण किया जाए और तब सामान्य निष्कर्षों को प्रस्तुत किया जाए। एस. एफ नडेल ने भी नुबा पर्वत का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टिकोण से किया है।

अनेक समकालीन मानवशास्त्रियो ने भी तुलनात्मक अध्ययनो को महत्त्वपूर्ण माना है। फ्रांस मे आज समाज एव संस्कृति के सम्भवत दो सर्वाधिक प्रभावपूर्ण अध्येता रेमण्ड एरन एव लेवी स्ट्रॉस है। रेमण्ड एरन (Raymond Aron) तुलनात्मक समाजशास्त्र के जबर्दस्त समर्थक हैं परन्तु उनके लिए यह व्यवहार मे केवल औद्योगिक समाज की रूपान्तरो की तुलना बन कर रह गया है। लेवी स्ट्रॉस तुलनात्मक प्रारूप के प्रमुख समर्थक हैं परन्तु वे इसका प्रयोग केवल आदिम तथा प्राथमिक समाजो और सस्कृतियो की तुलना करने के लिए करते हैं। इसी प्रकार रेडक्लिफ ब्राउन के प्रमुख शिष्य लॉयड वार्नर ने पहले मुर्नगिन नामक आस्ट्रेलियन जनजाति का अध्ययन किया, और तब उस क्षेत्र मे मिले सबको को न्यूबरी पोर्ट नाम के आधुनिक अमेरिकी नगर के अध्ययन मे प्रयुक्त किया।

और भी हाल के समय मे, इर्विग गफमैन, जो मानवशास्त्र के क्षेत्र से समाजशास्त्र के क्षेत्र मे आए थे, तुलनात्मक अभिगम के शानदार तथा जबर्दस्त व्यवहारकर्ता हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक मानवशास्त्र मे तुलनात्मक प्रारूप का काफी प्रभावपूर्ण स्थान है एव तुलनात्मक प्रारूप के द्वारा अनेक विषमकालीन एव समकालीन अध्ययन किए गए हैं।

तुलनात्मक प्रारूप की आलोचना
(Criticism of Comparative Model)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक प्रारूप सामाजिक मानवशास्त्र मे एक प्रमुख प्रारूप के रूप म उभरा लेकिन फिर भी तुलनात्मक प्रारूप की कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं उनमे से कुछ प्रमुख निम्ने हैं—

(1) तुलनात्मक प्रारूप को काम मे लेने म सबसे प्रमुख कठिनाई यह होती है कि इस प्रारूप मे प्राक्कल्पना (Hypothesis) का निर्माण नहीं किया गया है और वैज्ञानिक परिकल्पना की दृष्टि से प्राक्कल्पना का निर्माण सामान्यतः आवश्यक माना जाता है।

(2) तुलनात्मक प्रारूप मे तुलना की जाने वाली विभिन्न इकाइयो को परिभाषित करने मे कठिनाई उपस्थित होती है। समग्र रूप से विभिन्न समाजो की परस्पर तुलना करना शायद ही सम्भव हो पाता है इसीलिए सामान्यत इस प्रारूप के द्वारा विभिन्न सांस्कृतिक तत्वो या सांस्कृतिक क्षेत्रो की ही तुलना सम्भव हो पाती है। लेकिन वस्तुत इन सांस्कृतिक तथ्यो और क्षेत्रो म पाई जाने वाली विभिन्न इकाइयों को निश्चित रूप से परिभाषित करना एव उनकी सीमाओ को निर्धारित करना कठिन है।

(3) तुलनात्मक प्रारूप मे एक अन्य कठिनाई इकाइयो के बाहरी और आन्तरिक स्वभाव म अन्तर की है अनेक बार इकाइयाँ बाह्य तौर पर जैसी दिखाई देती हैं आन्तरिक रूप म वैसी नही हैं। मैलिनोवॉस्की आदि विद्वानो का कथन है कि बाहरी तौर पर तो ऐसा दिखता है कि दो समाजो की कोई दो सस्थाएँ समान हैं, पर आन्तरिक या अन्दरूनी तौर पर अपने-अपने समाज के सन्दर्भ मे बहुत भिन्न भी हो सकती हैं। ऐसी अवस्था म सही तुलनात्मक निष्कर्ष निकालना कठिन होता है।

(4) तुलनात्मक प्रारूप मे सही व्याख्या प्रस्तुत करने मे भी कठिनाई उत्पन्न होती है क्योकि इस प्रारूप के अन्तर्गत तुलना करने के लिए सस्थाओ व इकाइयो को उससे अलग कर लिया जाता है जिसमे कि वस्तुत वे कार्य करती हैं ऐसी अवस्था मे उनके बारे मे गलतफहमी होने की सम्भावना होती है।

(5) हम अपने उपस्थित ज्ञान के आधार पर अधिक से अधिक दो संस्कृतियो की विभिन्न इकाइयो के बीच पाई जाने वाली समानता और विभिन्नता की तुलना कर सकते हैं एव इन दो सस्कृतियो के बीच पाए जाने वाले कार्यकारण सम्बन्धों का अध्ययन हम वास्तविक आधारो पर नही कर सकते।

सरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप
(Structural Functional Model)

सरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप मूलत समाजशास्त्र की ही देन है। जिस तरह हमारे शरीर के विभिन्न अग हाथ, पैर, नाक, कान, आँख आदि होते हैं एव ये

समस्त अग मिलकर एक सावयव कहलाते है इसी प्रकार शरीर के इन सब निर्मायक अगो को एक सुव्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत करने से शरीर का जो स्वरूप दिखाई देता है उसी को शरीर या सावयवी सरचना (Organic Structure) कहा जाता है।

साथ ही, इस सत्य से हम सभी परिचित हैं कि इस शरीर सरचना के अन्दर इस सरचना को बनाने वाले सभी अगो, जैसे हाथ, पैर, नाक, आँख आदि का अपना-अपना एक स्थान या स्थिति होती है। इनका शरीर मे केवल एक निश्चित स्थान ही नही, अपितु एक निश्चित प्रकार्य भी होता है। साथ ही इन सब अगो का प्रकार्य से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सरचना को बनाने वाले विभिन्न अगो मे एक प्रकार्यात्मक (Functional) सम्बन्ध पाया जाता है। इसी सम्बन्ध के कारण पूरे शरीर या शारीरिक सरचना का अस्तित्व सम्भव होता है। इस प्रकार सरचना और विभिन्न अगों द्वारा किए जाने वाले प्रकार्य एव उनमे पाए जाने वाले प्रकार्यात्मक सम्बन्ध एक दूसरे पर निर्भर एव एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि सरचना और प्रकार्य को एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता और पूरे शरीर को या उसके किसी अग को इसी सरचना व प्रकार्य के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है। यही सरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (Structural Functional Approach) है।

उपरोक्त सभी बातें समाज पर भी लागू होती हैं। समाज की भी अपनी एक सरचना होती है जिसका निर्माण अनेक सामाजिक इकाइयो द्वारा होता है। इनमे से प्रत्येक इकाई का कोई न कोई प्रकार्य होता है और उनमे एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध पाया जाता है इन प्रकार्यो व प्रकार्यात्मक सम्बन्धो के कारण ही समाज या सामाजिक सरचना का अस्तित्व सम्भव होता है। इस प्रकार सामाजिक सरचना व प्रकार्य मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्रकार्य के बिना सामाजिक सरचना और सामाजिक सरचना के बिना प्रकार्य सम्भव नही है। अत समाज या उसके किसी अग का यथार्थ अध्ययन करने के लिए यह उचित समझा गया कि उसका अध्ययन सरचना और प्रकार्य के ही सन्दर्भ मे किया जाए। समाजशास्त्र मे इसी को सरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण कहते हैं।

इस दृष्टिकोण की मूल धारणा दो सकल्पनाओं सरचना (Structure) तथा प्रकार्य (Function) के समन्वय पर आधारित है। अतः इस पद्धति के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए इन दोनों मूल सकल्पनाओ का अर्थ जानना आवश्यक है।

सरचना क्या है ? समाज मे कोई अखण्ड व्यवस्था नही है। इसके अनेक अग होते हैं अर्थात् अनेक इकाइयो के योगदान से समाज का निर्माण होता है। लेकिन इन इकाइयो (व्यक्ति, समूह, सस्था आदि) के सम्मिलित रूप को ही समाज नही कहते। प्रत्येक समाज मे ये समितियाँ, संस्थाएँ आदि एक निश्चित प्रकार से व्यवस्थित रहती हैं जिसके फलस्वरूप समाज का एक बाहरी रूप या प्रतिमान

प्रकट होता है। इसी को सामाजिक सरचना कहते हैं। पारस स (Parsons) के अनुसार सामाजिक सरचना परस्पर सम्बधित सस्थाओ एजेसियो और सामाजिक प्रतिमानो साथ ही समूह मे प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किए गए पदो व भूमिकाओ (Status and Role) क विशिष्ट व्यवस्थित रूप को कहते हैं।[1]

प्रकाय क्या है ? समाज को बनाने वाली इकाइयो की सामाजिक सरचना के अन्तगत एक स्थिति तथा उस स्थिति से सम्बधित एक भूमिका होती है अर्थात् प्र यक इकाई से यह आशा की जाती है कि वह समाज व्यवस्था व सगठा का बनाए रखने के लिए कुछ निश्चित काय करगी। इस काय को प्रकाय कहते है। दूसर शब्दो मे सामाजिक सरचना व व्यवस्था के अस्तित्व व निर तरता के लिए समाज द्वारा निर्धारित वे कायकलाप जो कि समाज की विभिन्न इकाइया करती है प्रकाय कहलाते है। ब्राउन (Brown) के अनुसार किसी सामाजिक तत्व का प्रकाय उस तत्व का वह योगदान है जो वह सामाजिक व्यवस्था की क्रियाशीलता के रूप मे सामाजिक जीवन बनाए रखने के लिए करता है।[2]

सरचना तथा प्रकाय के अथ को एक साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि सरचना से तात्पय विभिन्न अगो तथा तत्वो की किसी प्रकार की क्रमिक व्यवस्था है जबकि प्रकाय का अथ है विभिन्न निर्मायक इकाइयो की व्यवस्था द्वारा निर्धारित एव व्यवस्था को बनाए रखने वाल वे क्रियाकलाप जो कि सरचनात्मक निर तरता को बनाए रखने के रूप मे कर रहे होते हैं।[3]

सामाजिक सरचना को बनाने वाली इकाइयो के प्रकार्यों के बीच कोई पारस्परिक सम्बध है या नही इस सम्ब ध मे जो मतभेद पहल था आज वह धीर धीर कम होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप आधुनिक समाजशास्त्र मे सरचनात्मक प्रकायवादी दृष्टिकोण या विश्लषण की प्रधानता बढती जा रही है। पहल यह समझा जाता था कि सामाजिक सरचना एक प्रतिमान या ढाचे को व्यक्त करती है और इसलिए सरचना का कोई भी सम्ब ध उस सरचना को बनाने वाली इकाइयो के प्रकार्यों मे हो ही नही सकता सामाजिक सरचना त एक बाहरी रूप या स्वरूप है। इसलिए उसम प्रकाय को सम्मिलित करने का प्रश्न ही नही उठता था। इसके विपरीत स्पेसर दुर्खीम मटन पारस स लवी आदि ने यह मत व्यक्त किया कि सामाजिक सरचना व सामाजिक प्रकाय एक दूसर से न केवल सम्बधित अपितु एक दूसर पर निभर भी हैं। इन विद्वानो के अनुसार सामाजिक सरचना स तुलन व स्थिरता की एक स्थिति को व्यक्त करती है और वह स तुलन व स्थिरता तब तक सम्भव नही है जब तक सामाजिक सरचना को बनान वाली विभिन्न इकाइया या अग अपने-अपने स्थान पर रहते हुए अपने अपने पूव निश्चित कार्यो को न करते रहे। उसी प्रकार सरचनात्मक आधार के बिना किसी व्यवस्था की विभिन्न

1 *T Pa sons* Essays n Soc olog cal Theory p 89 90
2 *A R Red l ffe B own* S ructu e and Funct on in Primit ve Soc ety p 181
3 *A R Redcl ffe B own* Ib d p 181

इकाइयो के लिए अपने-अपने प्रकार्यों को पूरा करना कदापि सम्भव नही। अतः सरचना व प्रकार्य का अध्ययन एक दूसरे के सन्दर्भ मे ही हो सकता है। समाजशास्त्र मे यही सरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण है जिसका कि और अधिक स्पष्टीकरण निम्नलिखित विवेचन से होगा—

इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध म यह तथ्य विचारणीय है कि यह दृष्टिकोण का ही दूसरा नाम है। वास्तविकता यह है कि जीवशास्त्र से प्रेरणा लेकर प्रारम्भिक प्रकार्यवादियो ने समाज के उद्गम, विकास तथा परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए प्रकार्यवादी दृष्टिकोण अपनाया। इसी दृष्टिकोण को अपनाने वाले बाद के समाजशास्त्रियो ने प्रारम्भिक प्रकार्यवाद की कटु आलोचना की और यह मान्यता व्यक्त की कि समाज सभ्यता अथवा सस्थाओ के उद्गम एव विकास के लिए सरचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। लेकिन आधुनिक समाजशास्त्रियो ने इसमे भी दोष ढूंढ निकाले। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया कि 'प्रकार्य' की कल्पना सरचना की कल्पना किए बिना नही की जा सकती। अत समाज की सरचनाओ के उद्गम, विकास तथा इनमे होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन प्रकार्य तथा सरचना दोनो पर समान महत्त्व देकर किया जा सकता है। इसलिए इन्होने प्रकार्यवादी अथवा सरचनावादी दृष्टिकोण को प्रकार्यवादी सरचनात्मक दृष्टिकोण कहे जान पर बल दिया। जब हम सरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण की चर्चा करते है तब इससे अभिप्राय वैसे तो केवल आधुनिक समाजशास्त्रियो की प्रकार्यवादी सरचनात्मक व्याख्या से होता है। लेकिन इसकी ऐतिहासिकता को हम स्पेन्सर तथा मैंकल जैसे समाजशास्त्रियो के विचारो से लेकर बाद के विचारको तक मे देख सकते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण समाजशास्त्र एव सामाजिक मानवशास्त्र मे अध्ययन का एक प्रमुख दृष्टिकोण है। सरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के भीतर समाज को एक स्वय नियमित व्यवस्था माना जाता है जिसके विभिन्न अग अथवा इकाइयाँ एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं तथा परस्पर अन्तर्निर्भर भी। व्यवस्था का अर्थ है कि वह सम्पूर्ण पूर्णता को महत्त्व देती है न कि विभिन भागो या इकाइयो को व्यवस्था की अन्त निर्भरता या अन्त सम्बन्ध एक भाग मे परिवर्तन होने से अन्य भागो मे होने वाले परिवर्तनो की विवेचना करते है और इसी से व्यवस्था का सन्तुलन एव स्थायित्व बना रहता है।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप (Structural Functional Model) का प्रयोग मानवशास्त्र मे ही बहुतायत से हुआ। यह प्रारूप मूलत ऐतिहासिक और तुलनात्मक प्रारूप के विरोध स्वरूप उभर कर सामने आया। प्रकार्यवादियो का सबसे बडा तर्क यह है कि सामाजिक मानवशास्त्र की अध्ययन सामग्री केवल आदिम समाज ही नही है। रेडक्लिफ ब्राउन एवं मैलिनोंस्की आदि ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र आदिम समाजो के अलावा ग्रामीण समुदाय (Rural Communities) भी है। 1914 मे ब्राउन ने अपने

व्याख्यानों मे सामाजिक सरचना की अवधारणा का प्रयोग किया, एव 1940 के बाद भी सामाजिक सरचना की अवधारणा सामाजिक मानवशास्त्र के लिए अत्यन्त लोकप्रिय हुई। सामाजिक मानवशास्त्र मे प्रकार्यात्मक प्रारूप के समर्थकों मे ब्राउन एव मेलिनास्की के अलावा रेमण्ड फर्थ एव इवान्स प्रिट्चार्ड के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इससे पहले कि हम सामाजिक मानवशास्त्रियों के सरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप का विश्लेषण करें, सरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप के प्रमुख लक्षणों की विवेचना करते चलें। इस प्रारूप के महत्त्वपूर्ण लक्षण निम्नांकित हैं—

(1) सामाजिक तथा अन्य प्रकार की महत्त्वपूर्ण सस्थाओं जैसे सांस्कृतिक, वैयक्तिक तथा जैविक व्यवस्थाओं के बीच सीमाओं का निर्धारण करना।

(2) सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख सरचनात्मक इकाइयों का अमूर्त तथा प्रागैतिहासिक (अर्थात् जो इतिहास से परे हो अर्थात् जिनका अत्यन्त अतीत हो) स्वरूप निश्चित करना।

(3) स्थायित्व, एकीकरण तथा व्यवस्था की अधिकतम प्रभावोत्पादकता के प्रति रुचि व्यक्त करना।

आधुनिक सरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को इन तीनों विशेषताओं मे देखा जा सकता है और इसका एक महत्त्वपूर्ण पहलू 'प्रकार्यवादी आदेशों' के क्रम मे देखा जा सकता है।

इस दृष्टिकोण के निम्न आवश्यक तत्त्व हैं—

(1) इस दृष्टिकोण को अपनाकर एव प्रकार्य को एक दूसरे से सम्बन्धित करके तथा एक दूसरे पर निर्भर मानकर अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण मे किसी भी सस्था का अध्ययन करने के लिए, उसकी सरचना के स्वरूप को निश्चित करने के लिए सम्पूर्ण सामाजिक सरचना मे उसके प्रकार्य को मालूम किया जाता है।

(2) इस दृष्टिकोण मे समाज के विभिन्न निर्णायक तत्त्वों या सस्थाओं मे पाए जाने वाले प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के कारकों को ढूंढने और प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है, क्योंकि इस दृष्टिकोण की मान्यता यह है कि किसी भी तत्त्व का प्रकार्य पूर्णतया स्वतन्त्र रूप मे सम्पन्न नहीं होता बल्कि अन्य तत्त्वों के प्रकार्यों से वह किसी न किसी रूप से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार यदि धर्म का प्रकार्यात्मक सम्बन्ध जादू-टोने से है तो इस दृष्टिकोण को अपनाकर इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने का प्रयत्न किया जाता है कि यह सम्बन्ध क्यों है अर्थात् किन कारणों से है?

(3) इस दृष्टिकोण को अपनाकर एक मानवशास्त्री केवल प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के कारणों का पता लगा कर ही सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि यह भी पता लगाने की चेष्टा करता है कि प्रत्येक तत्त्व या सस्था सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था

मे कौन सी भूमिका अदा करती है अर्थात् उसका प्रकार्य क्या है ? इस प्रकार इस दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि सम्पूर्ण सामाजिक सरचना व व्यवस्था की स्थिरता व निरन्तरता इस बात पर निर्भर होती है कि ये विभिन्न निर्मायक तत्त्व या सस्थाएँ आपस मे कार्य-कारण सम्बन्ध बनाए रखते हुए भी क्रियाशील रहे । इस दृष्टिकोण के आधार पर किसी एक अग का सम्पूर्ण से क्या सम्बन्ध है, समाजशास्त्री उसे मालूम करने का प्रयत्न करता है ।

(4) यह दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि समाज या सामाजिक जीवन की स्थिरता या स्थायित्व व निरन्तरता इस बात पर निर्भर करती है कि सामाजिक सरचना अपने विभिन्न निर्मायक तत्त्वो या इकाइयो के अध्ययन से आवश्यकताओ की पूर्ति की दिशा मे क्रियाशील रहे । इसका अर्थ यह हुआ कि सरचना के सन्दर्भ मे विभिन्न निर्मायक तत्त्व जो अपना-अपना प्रकार्य करते हैं उन पर केवल सामाजिक जीवन व व्यवस्था का ही नहीं अपितु स्वय तत्त्वो का भी अस्तित्व निर्भर करता है ।

(5) इस दृष्टिकोण मे समग्र समाज पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है, यद्यपि समाज के विभिन्न निर्मायक तत्त्वो के प्रकार्यों व उनमे पाए जाने वाले सह-सम्बन्धो का अध्ययन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता ।

सामाजिक मानवशास्त्र मे सामाजिक सरचनात्मक एव प्रकार्यात्मक प्रारूप को विकसित करने का सर्वाधिक श्रेय रेडक्लिफ ब्राउन एवं मेलिनॉस्की को है । रेडक्लिफ ब्राउन ने सरचनात्मक प्रकार्यात्मक विचारो को प्रमुखत: दुर्खीम से ग्रहण किया है । स्वय ब्राउन ने 1935 मे लिखे अपने प्रमुख लेख 'कन्सेप्ट आफ फक्शन इन सोशियल साइन्स' मे लिखा है कि मानव समाजो पर प्रयोग की जाने वाली प्रकार्य की अवधारणा सामाजिक जीवन एव सावयवी जीवन मे पाई जाने वाली समरूपता पर आधारित है ।

"यह समरूपता और उसके कुछ परिणामो को दी जाने वाली मान्यता कोई नवीन नही है । उन्नीसवीं शताब्दी मे इस प्रकार की समरूपता, प्रकार्य की अवधारणा तथा स्वयं यह शब्द सामाजिक दर्शनशास्त्र तथा समाजशास्त्र मे प्राय देखने को मिलते हैं । जहाँ तक मैं जानता हूँ कि समाज के वैज्ञानिक अध्ययन हेतु प्रयोग मे लाने के लिए इस अवधारणा को सर्वप्रथम सन् 1895 मे इमाइल दुर्खीम ने व्यवस्थित रूप दिया था ।"[1] रेडक्लिफ ब्राउन ने अपने इसी लेख मे एक अन्य स्थान पर लिखा है कि "सरचना तथा प्रकार्य की अवधारणाओ का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब समाज तथा जीवित सावयव के मध्य पाई जाने वाली समरूपता को स्वीकार कर लिया जाए ।"[2]

ब्राउन के अनुसार "सामाजिक सम्बन्धो के एक जटिल ताने-बाने को हम

1 *A. R. Redcliffe Brown* · Ibid, p 178.
2 *A R. Redcliffe Brown* · Ibid, p. 181

सामाजिक सरचना के नाम से पुकारते हैं।"[1] ब्राउन ने अपनी सामाजिक सरचना की अवधारणा को 'सामाजिक प्रकार्य' की अवधारणा से अलग हटकर समझने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार इन्होने सामाजिक सरचना की कल्पना की है जो उस सरचना अथवा सामाजिक सम्बन्धो के विशेष सामाजिक सरचना के प्रकार्य के विषय म जाना जा सके, यदि वह सम्पूर्ण व्यवस्था की सरचनात्मक निरन्तरता को बनाए रखन म अपना योगदान देता है।[2] वास्तव मे ब्राउन ने सामाजिक सरचना का प्राकृतिक विज्ञान की एक शाखा माना है। ब्राउन का ऐसा मानना इस बात पर आधारित है कि सामाजिक प्रघटना का अध्ययन उन विधियो द्वारा किया जाता है जो प्राकृतिक तथा जैविकीय विद्वानो म प्रयोग की जाती है। लेकिन चूँकि समाज सामाजिक सम्बन्धो का एक जाल है, इसलिए समाजशास्त्र मे सामाजिक सरचना का अध्ययन वास्तव न सामाजिक सम्बन्धो की जटिलताओ का ही अध्ययन है।

ब्राउन ने सामाजिक सरचना को सस्थात्मक रूप मे भी परिभाषित करने का प्रयास किया है। व्यक्ति समाज का महत्वपूर्ण अग है, जो सस्थाओ से घिरा होता है। व्यक्ति समाज के दूसरे व्यक्तियो से सस्थाओ द्वारा जुड़ा होता है। इन सस्थाओ का महत्त्व इस बात मे देखा जा सकता है कि समाज मे व्यक्तियो के सामाजिक सम्बन्धो के कुछ प्रतिमान विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्तियो का सस्थाओ के माध्यम से एक निश्चित और व्यवस्थित रूप मे सज जाना, किन्हीं निश्चित प्रतिमानो का विकसित कर लेना तथा इन सबका मिल जुलकर बना एक समन्वित स्वरूप 'सामाजिक सरचना' कहलाता है।

ब्राउन ने आगे चलकर सामाजिक सरचना की अपनी इस अवधारणा मे कुछ परिवर्तन किया। 1952 मे उन्होने 'स्ट्रक्चर एण्ड फक्शन इन ए प्रिमिटिव सोसाइटी' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें 'सामाजिक सरचना' के विषय मे अपनी सशोधित अवधारणा को ब्राउन न निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है। "प्रकार्य की अवधारणा मे सरचना की अवधारणा अन्तर्निहित है जिसम हम विभिन्न इकाइयो क बीच पाए जाने वाले सम्बन्धो की व्यवस्था को लेत हैं तथा जिनकी निरन्तरता इन इकाइयो की कार्यविधियो पर निर्भर करती है।"[3]

इस प्रकार ब्राउन के अनुसार सामाजिक सरचना एक गतिशील निरन्तरता है। दूसरे शब्दो म, सामाजिक सरचना एक महान् की सरचना के समान नहीं है, बल्कि एक जीवित मनुष्य के शरीर के ढाँचे के समान गतिशील निरन्तरता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि सरचना स्वय तो स्थायी है, लकिन इनके अनेक तत्त्वो मे परिवर्तन आ सकता है, आता है और आता भी रहेगा लेकिन सरचना का स्थायित्व बना रहता है। समाज मे नए सदस्य आ जाते है, नवीन सस्थाएँ विकसित हो

1 *A R Redcliffe Brown* Ibid, p. 190
2 *A. R Redcliffe Brown* Ibid, p 190.
3 *A R. Redcliffe Brown*: Ibid, p 190

जाती हैं, नई-नई समितियो का निर्माण हो जाता है, नवीन आवश्यकताओ का जन्म होता है और उनके अनुसार नवीन परिवर्तन घटित होते हैं। लेकिन सभी परिवर्तनो का सामाजिक ढाँचे पर समान प्रभाव नही पडता।

ब्राउन महोदय ने सामाजिक सरचना के स्थानीय पहलू पर भी विचार किया है। इनका कथन है कि प्रत्येक सामाजिक सरचना का एक स्थानीय पहलू भी होता है। उनके अपने शब्दों मे "यदि हम दो समाजो की सामाजिक सरचना का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह आवश्यक है कि हम दोनो सरचनाओ के स्थानीय पहलू पर विचार करें। इस प्रकार यह सम्भव नहीं है कि हम किसी सरचना का अध्ययन उस भौगोलिक क्षेत्र से पूर्णतया हटकर करें जहाँ उसके सदस्य बने हुए हो, क्योकि वह भौगोलिक क्षेत्र भी उन सदस्यो के व्यवहार एव व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। इसी प्रकार सामाजिक सरचना का अध्ययन भी हम बिना स्थानीय आधार के नही कर सकते।"

ब्राउन के अनुसार सामाजिक सरचना के अध्ययन मे हम विशेष रूप से तीन बातो पर विचार करते हैं—(1) सामाजिक आकारिकी, (2) सामाजिक शारीरिकी, (3) सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ।

(1) सामाजिक आकारिकी (Social Morphology)—ब्राउन के अनुसार सामाजिक सरचना के अन्तर्गत हम इस पर विचार करते है कि किसी समाज की बाह्य रचना आन्तरिक परिवर्तनो को अपने मे समेट कर किस प्रकार अपना स्थायित्व बनाए रखती है। इन्होने बतलाया कि नैतिकता, विधि, आचार-व्यवहार, धर्म, सस्कार, शिक्षा आदि संरचना के महत्त्वपूर्ण अग हैं जिनके द्वारा सामाजिक सरचना विद्यमान है और विद्यमान रहती है। सामाजिक सरचना मे ब्राउन ने भाषा के महत्त्व को भी समझाने का प्रयास किया है। भाषा के द्वारा समाज के विभिन्न व्यक्तियो और समाज की विभिन्न इकाइयों मे निरन्तरता बनी रहती है।

इसी प्रकार ब्राउन ने सामाजिक संरचना मे श्रम-विभाजन को भी महत्त्वपूर्ण माना है। किसी भी समाज मे हम विभिन्न व्यक्तियो को विभिन्न समय मे विभिन्न क्रियाएँ करते हुए देखते हैं। लेकिन इनकी विभिन्नता इनकी एकता को भग नहीं करती, क्योकि ये सभी निश्चित सामाजिक ढाँचे के अग होते हैं।

ब्राउन ने सामाजिक सरचना को और अधिक स्पष्ट करने के [illegible] समूह' का उदाहरण भी दिया है क्योकि व्यक्तियो के व्यवहारो को तथा उनके सामाजिक सम्बन्धो को उस समूह के व्यक्तियो तथा उनके सम्बन्धो के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है, जिनके वे सदस्य होते हैं।

ब्राउन ने सामाजिक सरचना के बाह्य प्रारूप को समझने के लिए सामाजिक रुचियो, सामाजिक मूल्यो तथा सामाजिक सस्थाओ को भी महत्त्वपूर्ण बतलाया है, क्योकि ये सभी सामाजिक संरचना की निरन्तरता को बनाए रखने मे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

(2) सामाजिक शारीरिकी (Social Physiology)—सामाजिक सरचना के अध्ययन करने म हमे यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि सामाजिक ढाँचा लगभग शारीरिक ढाँचे की भाँति ही है। जैसे हमारे शरीर मे भिन्न-भिन्न अग होते हैं, उसी प्रकार समाज मे सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। समाज के विभिन्न अगो मे उसी प्रकार सम्बन्ध पाया जाता है जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अगो मे पाया जाता है। जिस प्रकार शारीरिक सरचना मे परिवर्तन होते रहने के बाद भी निरन्तरता बनी रहती है उसी प्रकार सामाजिक सरचना मे भी निरन्तरता बनी रहती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक सरचना मे हम 'व्यक्तियो' का अध्ययन नही करते बल्कि 'सामाजिक पुरुषों' का अध्ययन करते हैं।

(3) सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ (Proecsses of Social Change)—कोई भी सामाजिक सरचना ज्यो की त्यो बनी नही रहती। प्रत्येक सरचना के अन्दर की रचना मे निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं, क्योकि समाज मे नित्य नई नई आवश्यकताओ की उत्पत्ति होती रहती है और उसी के अनुसार आन्तरिक रचना मे भी परिवर्तन आना रहता है। काफी लम्बे समय तक आन्तरिक रचना मे परिवर्तन आने से बाह्य ढाँचा भी थोडा बहुत बदल जाता है। अतएव ब्राउन के अनुसार समाजिक सरचना का अध्ययन करने के लिए यह अध्ययन करना भी आवश्यक है कि इन सरचनाओ म किस प्रकार परिवर्तन आते हैं तथा इन परिवर्तनो के फलस्वरूप सामाजिक सरचना का स्वरूप, कालान्तर मे, कैसे परिवर्तित हो जाता है। इस बात को समझाने के लिए ब्राउन ने आदिम समाजो का उदाहरण दिया है और उनकी तुलना आधुनिक मिश्रित या बहुमुखी समाजो से की है। ब्राउन का कथन है कि सरचना के नए स्वरूपा का विकास क्रम विकास की प्रक्रिया द्वारा हुआ है। क्रम विकास की इस प्रक्रिया क दो महत्वपूर्ण पहलू है-(1)इतिहास म निरन्तर एक ऐसी प्रक्रिया विद्यमान रही है जिसके सामाजिक सरचना के थोडे स स्वरूपो से अनेक स्वरूप उत्पन्न होते चले गए, तथा (2) इस प्रक्रिया के द्वारा ही समाज के साधारण स्वरूप जटिल स्वरूपो म विकसित हो गए।

सरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप पर दूसरा. महत्वपूर्ण काम ब्रानिसलॉ मेलिनॉस्की का है। मेलिनॉस्की ने अपनी पुस्तक 'ए साइन्टीफिक थ्योरी ऑफ कल्चर एण्ड अदर एसेस' एव डायनामिक ऑफ कल्चर चेंज' म सस्कृति पर काफी कार्य किया एव इसके लिए उन्ह सरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप का प्रयोग किया।[1] लन्दन के प्रमुख अर्थशास्त्री मेलिनॉस्की ने मुख्यत ट्राब्रियेन्ट ग्रीकवासियो पर किए गए अपने अध्ययन के आधार पर यह बताया कि प्रत्येक सस्कृति एक कार्यशील समष्टि है एक समन्वित व्यवस्था है। इसमे प्रत्येक इकाई अपना योगदान देती है। अर्थात् एक सस्था का प्रकार्य एक सगठित व्यवस्था की एक क्रिया है। यह

1 *B Malinowski* A Scientific Study of Culture and Other Essays, p 15-35, 36-42, 67-74 175-176

वह भूमिका है जो कि एक अन्तर्सम्बन्धित समवस्तु के मानवीय प्रयोजनों अथवा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनिवार्य होती है। मेलिनॉस्की का प्रकार्यात्मक प्रारूप कुछ निश्चित आधारों या सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है कि किसी भी संस्कृति के वैज्ञानिक विश्लेषण या अध्ययन के लिए आवश्यक है। प्रथम आधार तो यह है कि यह इस बात पर बल देती है कि मानव-संस्कृति कुछ पृथक्-पृथक् तत्त्व का संकलन मात्र नहीं है। इनमें एक सावयवी एकता हुआ करती है और इसलिए प्रत्येक अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित होता है। इस पद्धति का दूसरा आधार यह है कि संस्कृति के प्रत्येक अंग, इकाई या तत्त्व का कोई-न-कोई कार्य अवश्य ही होता है।

इस प्रकार मेलिनॉस्की के अनुसार संस्कृति का एक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण होता है। यह सिद्धान्त की स्थापना करता है कि हर संस्कृति में प्रत्येक प्रथा, भौतिक पदार्थ, विचार अथवा विश्वास के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकार्य होते हैं, अर्थात् वे कुछ कार्यों का सम्पादन करते हैं। अतः एक कार्यशील समष्टि के एक अपरिहार्य अंग होते हैं। संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त हुए मेलिनॉस्की ने कहा है कि निष्कर्ष रूप में, संस्कृति आदिम मानव को उसकी आवश्यकताओं के तुष्ट करने तथा उसके परिवेश पर नियन्त्रण प्राप्त करने के साधन उपलब्ध करती है। इन विचारों ने मेलिनॉस्की को जैविकीय आवश्यकताओं सम्बन्धी उसके गहन विचारों की विशद् विवेचना करने के लिए प्रेरित किया।

मेलिनॉस्की ने अपने प्रकार्यात्मक प्रारूप को स्पष्ट करने के लिए अपने सिद्धान्त में मानवीय आवश्यकताओं के सिद्धान्त को भी प्रस्तुत किया है। मेलिनॉस्की का मानना है कि संस्कृति का मुख्य कार्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। मेलिनॉस्की की धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि सभी मानवों को भोजन, आवास, यौनतुष्टि अन्वेषण, सुरक्षा आदि जैसी कुछ प्राथमिक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वह अनेक प्रविधियों की खोज करता है, जैसे वह अनाज उत्पन्न करता है अथवा विनिमय के द्वारा दूसरों से प्राप्त करता है, मकान बनाता है, विपर्मलिंगीय सम्बन्ध स्थापित करता है तथा समूहों में रहता है, आदि। इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया द्वैतियक आवश्यकताओं को जन्म देती है, जैसे सम्प्रेषण की आवश्यकता भाषा को, संघर्ष को, नियन्त्रित करने तथा सहयोग की वृद्धि करने की आवश्यकता पारस्परिकता तथा सामाजिक स्वीकृति के प्रतिमानों को, जीवन के खतरों तथा उतार-चढ़ाव के प्रति चेतना एवं जीवन-चक्र के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता अनेक प्रकार के संस्कार, अनुष्ठान, जादूई विश्वास तथा धार्मिक क्रियाओं को जन्म देती है, जो अनिश्चितता द्वारा उत्पन्न सन्तापों का हरण करती है। द्वैतियक आवश्यकताओं की पूर्ति के फलस्वरूप समन्वित संस्थाओं की ओर भी बड़ी आवश्यकताओं का जन्म होता है। ये आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर उत्तराधिकार की संस्था, सत्ता के बँधकरण के किसी तन्त्र आदि की आवश्यकताओं को जन्म देती हैं।

मानवीय आवश्यकताओ को उपरोक्त अवधारणा को विकसित करने के लिए उसने कई योजनाएँ प्रस्तुत की, किन्तु मुख्यत उसने इन आवश्यकताओ के तीन रूप अथवा स्तर बताए हैं जिनकी पूर्ति सभी सस्कृतियो द्वारा की जाती है; अत उसने इन्हे सार्वभौमिक आवश्यकताएँ कहा है। आवश्यकताओ के ये प्रकार निम्न हैं—

(1) प्राथमिक अथवा जैवकीय आवश्यकताएँ—प्रजनन भोजन, सुरक्षा, प्रतिरक्षा आदि।

(2) व्युत्पन्न अथवा साधक आवश्यकताएँ—सगठित क्रिया के लिए आवश्यक आर्थिक सगठन, कानून, शिक्षा आदि।

(3) समन्वयकारी अथवा सश्लेषणात्मक आवश्यकताएँ—ज्ञान, जादू धम, कला, खेलकूद जैसी मानसिक तथा नैतिक एकीकरण करने वाली आवश्यकताएँ।

मेलिनॉस्की ने 'साधक' तथा 'समन्वयकारी' आवश्यकताओ को मानव की 'आधारभूत' अथवा 'प्राथमिक जैवकीय अथवा अन्य आवश्यकताओं के विपरीत विशिष्ट रूप मे सांस्कृतिक माना है। मृत्योपरान्त प्रकाशित उनके एक ग्रन्थ (1944) मे उसने आधारभूत आवश्यकताओ के साथ उसकी 'सांस्कृतिक प्रतिक्रियाओ' की एक सूची दी है, जो निम्नवत् है—

आधारभूत आवश्यकताएँ (Basic Needs)	सांस्कृतिक प्रतिक्रियाएँ (Cultural Response)
1 क्षुधा (Metabolism)	1 भोजन (Commissariate)
2 प्रजनन (Reproduction)	2 नातेदारी व्यवस्था (Kinship)
3. शारीरिक सुरक्षा (Bodily Comforts)	3. आवासगृह (Shelter)
4 सुरक्षा (Safety)	4 प्रतिरक्षा (Protection)
5 परिवतन (Movement)	5 गतिविधि (Activities)
6 विकास (Growth)	6 प्रशिक्षण (Training)
7 स्वास्थ्य (Health)	7 आरोग्य ((Hygiene)

मेलिनॉस्की ने आर्थिक सगठन, राजनीतिक सगठन, शिक्षा आदि को 'साधक' आवश्यकताएँ माना है, जिनका प्रत्येक सस्कृति मे होना आवश्यक है। उसन ज्ञान, धर्म, कला जैसी 'समन्वयकारी' आवश्यकताओ को भी प्रत्येक सस्कृति म आवश्यक माना है।

मेलिनॉस्की की आवश्यकताओ की इस योजना की आलोचना इस आधार पर की गई है कि इसमे एक व्यक्ति की आवश्यकताओ को सदृश्य समझने की भूल की गई है अर्थात् एक व्यक्ति के लिए भोजन, प्रजनन, सुरक्षा आदि की आवश्यकताओ के अभाव मे जीवित रहना कठिन होता है, किन्तु एक समाज के

बहुसख्यक सदस्यो की अकाल के कारण मृत्यु भी हो जाए, अथवा वे किन्ही कारणो से सन्तानोत्पत्ति भी करना बन्द कर दें फिर भी समाज जीवित रहता है, उसका अस्तित्व समाप्त नही होता। मेलिनॉस्की की इस अत्यन्त विशद् योजना मे कई अन्य जैवकीय आवश्यकताएँ भी सम्मिलित है जो मानवीय समाज की आवास, स्वतन्त्र विचरण स्नेह जैसी आवश्यकताओ की पूर्ति करती है किन्तु उनका अधिकाँश विवेचन जैवकीय आवश्यकताओ तथा विवाह तथा परिवार जैसी सामाजिक सस्थाओ के सम्बन्ध तक ही सीमित रहा है, क्योकि सरल आदिम समाजो मे ये सस्थाएँ जीवन के अधिकाँश भाग मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।

सक्षेप मे मेलिनॉस्की के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण को निम्नाँकित बिन्दुओ मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) मेलिनॉस्की ने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक साँस्कृतिक तत्त्व का प्रकार्य होता है अर्थात् वह किसी वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति करता है, तभी उसका अस्तित्व होता है, अन्यथा वह समाप्त हो जाए। उसके ये विचार अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। किसी तत्त्व की कोई उपयोगिता किसी के लिए है अथवा नही, यह गवेषणा के द्वारा ही मालूम पड सकता है। यह सही है कि मेलिनॉस्की के कई ऐसे साँस्कृतिक तत्त्व, जिन्हे पहले मात्र अवशेष मान लिया गया था, वे उन व्यक्तियो के लिए उपयोगी पाए गए जिनके पास वे थे।

(2) यदि मेलिनॉस्की यह स्पष्ट करना चाहता था कि किसी विशिष्ट समय मे समाज तथा सस्कृतियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं तब जैवकीय आवश्यकताओ को छोडकर उसकी अन्य आवश्यकताओ को समाज के सदस्यो द्वारा सीखा जा सकता हैं, जैसा कि उसने स्वय ने स्वीकार किया है। अत किसी भी साँस्कृतिक तत्त्व की आवश्यकता उसके अस्तित्व के लिए जितना उसका परिमाण है, उतना ही उसका कारण भी है। किन्तु यदि मेलिनॉस्की उस साँस्कृतिक तत्त्व की उत्पत्ति की खोज की व्याख्या करना चाहते हैं, तब वे भी उद्विकासवादियो तथा प्रसारवादी लेखको की भाँति एक प्रकार से अनुमानात्मक इतिहास की रचना में अपने आपको सलग्न करते हैं जबकि इस प्रकार के लेखको की वे स्वय कटु आलोचना करते हैं।

(3) यह कहना कि कुछ विशिष्ट साँस्कृतिक तत्त्वो की उत्पत्ति ही इसलिए हुई है कि वे कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं, यह कथन मात्र पुनरुक्तिपूर्ण है, क्योकि यदि अन्य तत्त्वो की उत्पत्ति हुई है, तब वे भी किन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। इस तथ्य को सरलता से प्रस्थापित किया जा सकता है।

(4) यदि यह मान भी लिया जाए कि कुछ मानवीय आवश्यकताएँ होती हैं, इसका तात्पर्य यह नही कि उन सब की तुष्टि होती ही हो। इससे यह स्पष्ट

है कि यदि मानव कुछ जैवकीय आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं करता, तब उसकी पुनर्रचना होना समाप्त हो जाती है, किन्तु यदि अन्य आवश्यकताएँ यदि विद्यमान रहती हैं, तब सम्भव है उनकी सन्तुष्टि न हो। वास्तव मे इस तथ्य की व्याख्या की जानी चाहिए कि मानव क्यो और कैसे कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति के तरीके खोज निकालता है और अन्य आवश्यकताओं के क्यो नही ?

(5) सामान्य मानवीय आवश्यकताओ के आधार पर समाजो मे पाई *जाने वाली भिन्नता की व्याख्या नही की जा सकती है। ये भिन्नताएँ किन्ही सामान्य* आधार पर होने वाले अन्तर को प्रकट नही करती क्योकि कुछ ऐसी सस्थाएँ हैं जो कुछ समाजों मे पाई गई हैं, जबकि वे सस्थाएँ अन्य समाजो मे किसी भी रूप मे नहीं पाई गई हैं।

लेवी स्ट्रास के सामाजिक सरचना सम्बन्धी विचारो का विस्तृत विवरण इनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'स्ट्रक्चरल एन्थ्रोपोलोजी' के पन्द्रहवें तथा सोलहवें अध्यायो मे देखने को मिलता है। पन्द्रहवाँ अध्याय पहले 1948 'एन्थ्रोपोलोजी टूडे' मे प्रकाशित हो गया था। इसकी आलोचनाओ का जो उत्तर स्ट्रास ने दिया उसे सोलहवें अध्याय मे प्रस्तुत किया गया है।[1]

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है लेवी स्ट्रास के अनुसार 'सामाजिक सरचना' अवधारणा का सम्बन्ध किसी प्रयोगसिद्धि वास्तविकता से *नही है बल्कि उन प्रारूपो से है जो इसको आधार मानकर विकसित* किए जाते हैं। लेकिन यह प्रारूप किस प्रकार के होते हैं ? लेवी स्ट्रास्स के अनुसार एक सरचना का जो प्रारूप (Model) होता है वह अनेक आवश्यक बातो की पूर्ति करता है—

प्रथम, सरचना किसी व्यवस्था की विशेषताओ को प्रदर्शित करती है। यह अनेक तत्त्वो को मिलाकर बनी होती है। किसी भी एक विशेषता मे बिना अन्य तत्त्वों मे परिवर्तन लाए, परिवर्तन नही आ सकता।

द्वितीय, किसी भी विशेष प्रारूप के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि यह परिवर्तनो के क्रम मे व्यवस्था उत्पन्न कर सके, जिसके परिणामस्वरूप उसी प्रकार के दूसरे प्रारूपो का एक समूह निर्मित हो सके।

तृतीय, ऊपर की दोनो विशेषताओ के आधार पर यह भविष्यवाणी करना *सम्भव होगा कि कोई भी प्रारूप, इसके एक या* अनेक तत्त्वों मे किन्ही परिवर्तन लाने पर, किस प्रकार प्रतिक्रिया करेगा।

अन्त मे, प्रारूप ऐसा होना चाहिए जो समस्त अवलोकित तथ्यो को अविलम्ब समझने मे सहायक हो सके।

उपरोक्त विशेषताएँ सामाजिक सरचना की विशेषताएँ नहीं हैं। लेकिन यह सरचनात्मक अध्ययनों की प्रमुख विशेषताओ तथा इनसे सम्बन्धित समस्याओ

1 *Claude Levy Strauss :* Structural Anthropology, p 279

की ओर महत्त्वपूर्ण संकेत करती हैं। संरचनात्मक अध्ययनों में सर्वप्रथम हमें यह निश्चय करना होता है कि हम किन तथ्यों का अध्ययन करेंगे तथा उन्हें अवलोकन अथवा प्रयोग किस विधि द्वारा प्राप्त करेंगे। क्योंकि, यद्यपि किसी भी प्रघटना का विवरण देने तथा उसकी व्याख्या करने के लिए अनेक प्रारूपों का प्रयोग किया जा सकता है, फिर भी यह स्पष्ट है कि सबसे उत्तम प्रारूप वह होगा जो वास्तविक है, अर्थात् जो सम्भावित रूप के साधारणतम प्रारूप हैं जो अध्ययन किए जाने वाले तथ्यों से निर्मित किए जाने पर भी समस्त तथ्यों की व्याख्या करने में समर्थ होते हैं। दूसरे, हमें प्रारूपों की चेतनशील तथा अचेतनशील प्रकृति में भी भेद करना आवश्यक होता है, क्योंकि कोई भी संरचनात्मक प्रारूप दोनों प्रकार का हो सकता है। तीसरे, यह भी स्मरणीय है कि संरचना तथा माप में भी आवश्यक सम्बन्ध है। सामाजिक विद्वानों में संरचनात्मक अध्ययन गणित के क्षेत्र में आधुनिक विकास के परोक्ष परिणाम कहे जा सकते हैं। चौथे, हमें अपने संरचनात्मक प्रारूप के पैमाने तथा प्रघटना के पैमाने के बीच पाए जाने वाले अन्तर को भी स्पष्ट रूप में समझना होगा। इस प्रकार दो प्रकार के प्रारूप होंगे— यान्त्रिक तथा सांख्यिकीय। दोनों प्रकार के संरचनात्मक प्रारूपों में भेद करना आवश्यक है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सामाजिक संरचनात्मक अध्ययनों को जो तथ्य महत्त्व प्रदान करता है वह यह है कि संरचनाएँ ऐसे प्रारूप होते हैं जिनकी स्वरूपीय विशेषताओं की उनके तत्त्वों से स्वतन्त्र रूप में तुलना की जा सकती है।

इस प्रकार लेवी स्ट्रॉस ने संरचनात्मक अध्ययनों के दोहरे महत्त्व पर प्रकाश डाला है। एक ओर इस प्रकार के अध्ययन किन्हीं महत्त्वपूर्ण स्तरों को पृथक् करने में सहायक होते हैं तथा दूसरी ओर इनकी सहायता से ऐसे प्रारूपों का निर्माण करना सम्भव है जिनकी स्वरूपीय विशेषताओं की एक दूसरे प्रारूपों की विशेषताओं से तुलना की जा सकती है जो दूसरे स्तरों पर महत्त्वपूर्ण हो।

इस प्रकार लेवी स्ट्रॉस ने संरचनात्मक अध्ययनों के मुख्य अध्ययन क्षेत्र का स्पष्टीकरण किया है। इसके अन्तर्गत निम्न विषयों पर विचार होता है—
(1) सामाजिक आकारिकी (Social Morphology) अथवा समूह संरचना,
(2) सामाजिक स्थितिशास्त्र (Social Statics) अथवा संचार संरचनाएँ,
(3) सामाजिक गतिशास्त्र (Social Dynamics) अर्थात् आधीन संरचनाएँ (Subordinate Structures)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवशास्त्र में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रारूप है एवं संरचनात्मक प्रकार्यात्मक प्रारूप संक्षेप में वह है जो निम्नांकित सार आवश्यकताओं की पूर्ति करता है—

(1) संरचना एक व्यवस्था के लक्षणों को बनाती है। इसमें कई लक्षण होते हैं और किसी भी एक लक्षण में परिवर्तन तब तक

नही हो सकता जब तक कि वह अन्य लक्षणो को प्रभावित नही करे ।

(2) किसी भी एक मॉडल मे इस बात की सम्भावना होनी चाहिए कि वह समूह मे होने वाले परिवर्तनो का समावेश कर सके ।

(3) उपर्युक्त लक्षण के आधार पर मॉडल की यह क्षमता होनी चाहिए कि व्यवस्था मे होने वाले परिवर्तनो की वह पूर्वकथनीयता कर सके।

(4) सामाजिक सरचना का मॉडल ऐसा होना चाहिए कि वह समाज मे देखे जाने वाले तथ्यो का एकदम ज्ञान दे सके ।

(4) सहबन्ध एवं वशानुक्रम प्रारूप
(Alliance and Descent Model)

सामाजिक मानवशास्त्र मे 1950 के दशक मे सहबन्ध एव वंशानुक्रम प्रारूपो को लेकर काफी विवाद रहा है । सहबन्ध प्रारूप प्रमुखत. नातेदारी सम्बन्धो (Kinship Relations) को विवेचित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है । नातेदारी का सहबन्ध सिद्धान्त मूलत इमाइल दुर्खीम के जैविक सिद्धान्त पर आधारित है । दुर्खीम के अनुसार किसी भी जनजाति के विभिन्न गोत्र (Clan) अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को रखते हुए जनजाति के दूसरे गौत्रो साथ जुडे रहते है । फलस्वरूप इन विभिन्न सहबन्ध गौत्रो मे पारस्परिक आदान प्रदान होता है, एव ये गोत्र दूसरे गोत्र से विवाह सम्बन्ध द्वारा आपस मे जुडते हैं, एक प्रकार से गौत्रो मे पाए जाने वाले समस्त सामाजिक सम्बन्ध गौत्रो को बांधने वाले होते हैं । 1950 मे मार्शल मॉस ने यह प्राकल्पना प्रस्तुत की कि जनजातियो मे एकता स्थापित करने का मुख्य काम सहबन्ध द्वारा होता है । मॉस का यह दृष्टिकोण यद्यपि सरचनात्मक था, परन्तु उन्होने सहबन्ध प्रारूप की ओर एक प्रकार से इशारा कर दिया । मॉस की बात पर लेवी स्ट्रॉस ने अपने क्षेत्रीय अध्ययनो द्वारा सिद्धान्त स्थापित किया । स्ट्रास ने नातेदारी एव सम्बन्ध प्रारूपको स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया । स्ट्रॉस के अनुसार प्रत्येक जनजाति मे कई खण्डहोते हैं । इन खण्डो मे विवाह सम्बन्धी व्यवहार, व्यवहारो, का विनिमय होता है। स्ट्रॉस के अनुसार विवाह के इस आदान प्रदान के दो प्रमुख रूप हैं—

(1) एक परिवार के समूह का दूसरे समूह से लडकी लेना या दूसरे समूह को लडकी देना ।

(2) सीमित विनिमय जिसमे कुछ नातेदारी समूहो के साथ ही विवाह सम्बन्ध रखना । ऐसे विवाह सम्बन्धो को अधिमान्य विवाह कहा जाता है । लेवी स्ट्रास ने अधिमान्य सम्बन्धो पर विशेष रूप से अध्ययन किया है । सहबन्ध सिद्धान्त के ठीक विपरीत वशानुक्रम का सिद्धान्त है ।

वशानुक्रम सिद्धान्त जैसा कि फोर्टिस का कहना है, एकान्वयिक वशानुक्रम समूहो के विश्लेषण पर जोर देता है । इस सिद्धान्त के अनुसार समाज पृथक्-पृथक् खण्डो से बना है । ये खण्ड अपनी आन्तरिक एकता के कारण अपने पृथक् अस्तित्व को बनाए रखते हैं । ये सब खण्ड समाज को आन्तरिक सुदृढता द्वारा एक सूत्र म बंधे रहते हैं । बन्धुत्व का वशानुक्रम सिद्धान्त मुख्यतया उस आधार सामग्री पर बना

है जिसे सामाजिक मानव वैज्ञानिको ने अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की जनजातियो के अध्ययन से प्राप्त किया है।

वंशानुक्रम और सहबन्ध सिद्धान्त एक-दूसरे से पृथक् नही देखे जा सकते। ये सिद्धान्त समाज की जटिलता से जुडे हुए हैं। यदि हम वशानुक्रम और सिद्धान्त को देखते हैं, तो हमे इन्हे समाज की प्रकृति और सस्कृति, सामाजिक सरचना की प्रकृति, विवाह के नियम, विवाह के सिद्धान्त आदि के सन्दर्भ मे देखना पडेगा।

लेवी स्ट्रास, लुई ड्यूमा, मार्शल मॉस, लीच आदि व्यक्तियो ने सहबन्ध एव वशानुक्रम प्रारूप का प्रयोग किया है। लेवी स्ट्रास ने 1969 मे आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका की जनजातियो मे प्रचलित विवाहो को सहबन्ध प्रारूप के रूप मे प्रस्तुत किया। लुई ड्यूमा ने दक्षिण भारत मे विवाह सम्बन्धो को समझाने के लिए सहबन्ध प्रारूप का प्रयोग किया।

उदाहरण के लिए जैसे—यदि हम देवर व साली के विवाह की व्याख्या इन प्रारूपो के द्वारा करना चाहे तो हम देखते हैं कि सहबन्ध प्रारूप मे इसे विवाह सहबन्ध को जारी रखने का तरीका माना जाता है जबकि वशानुक्रम प्रारूप मे इसे नातेदारी समूहो की निरन्तरता को बनाए रखने का एक माध्यम माना जाता है। वशानुक्रम प्रारूप मे जहाँ परिवार को प्राथमिक इकाई के रूप मे देखा जाता है वहीं सहबन्ध प्रारूप मे भाई बहन को प्राथमिक इकाई के रूप मे विवेचित किया जाता है।

(5) प्रस्थिति एवं भूमिका प्रारूप
(Status and Role Model)

सामाजिक मानवशास्त्र मे एक अन्य प्रमुख प्रारूप प्रस्थिति भूमिका प्रारूप है। समाज एवं सामाजिक सरचना के अध्ययन मे कुछ अवधारणाओं का पर्याप्त महत्त्व है। समाजशास्त्रीय शब्दावली मे भी प्रस्थिति एवं भूमिका की अवधारणाएँ काफी लोकप्रिय हैं। राल्फ लिण्टन की कृति 'द स्टेडी ऑफ मैन' के प्रकाशन के बाद 'सामाजिक प्रस्थिति एवं सामाजिक भूमिका' की अवधारणायें सामाजिक संरचना के अध्ययन एव निरूपण मे महत्त्वपूर्ण मानी जाने लगी। रॉबर्ट बियरस्टेड ने तो यहाँ तक लिखा है कि "समाज प्रस्थितियो का जाल है।"[1]

वस्तुत. समाज मे व्यक्ति जब भी एक दूसरे के साथ अन्त क्रिया करते हैं तो उनका सामाजिक व्यवहार या आचरण कुछ निश्चित नियामक सामाजिक मानको या मानदण्डो के अनुसार निर्धारित होता है। यह एक सामाजिक अपेक्षा है। समाज मे व्यक्ति विभिन्न व्यक्तियो के सम्पर्क मे आते हैं, परन्तु उनमे से प्रत्येक व्यक्ति के साथ उनका व्यवहार समान या एक जैसा नहीं होता। एक उदाहरण से इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार अपने मित्र के

1 *Robert Bierstedt* . The Social Order.

साथ करता है, उसी प्रकार का व्यवहार वह अपने माता-पिता या अध्यापक के साथ नहीं करता अथवा एक व्यक्ति दफ्तर में जिस प्रकार अपने अधिकारियों से मिलता है उस प्रकार वह घर के सदस्यों से नहीं मिलता। इस प्रकार सामाजिक अन्तःक्रिया एवं व्यवहार के प्रतिमान अलग-अलग व्यक्तियों के साथ अलग-अलग होते हैं और ये मानकों या मानदण्डों द्वारा निर्धारित होते हैं।

रॉल्फ लिण्टन पहला सामाजिक मानवशास्त्री था जिसने प्रस्थिति की विशद् विवेचना प्रस्तुत की राल्फ लिण्टन ने लिखा है कि "किसी व्यवस्था विशेष में एक व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है, वही उस व्यवस्था के सन्दर्भ में उस व्यक्ति की प्रस्थिति होती है········ अपनी प्रस्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जो कुछ करना पड़ता है, उसी को भूमिका अथवा कार्य कहते हैं। राल्फ लिण्टन ने भूमिका को प्रस्थिति से सम्बद्ध करके समझाया है, और लिखा है कि "कोई भी भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।" लिण्टन इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए अन्यत्र लिखते हैं कि भूमिका के अन्तर्गत हम उन सभी अभिवृत्तियों, सामाजिक मूल्यों तथा अन्य व्यवहारों को भी सम्मिलित करते हैं जो विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित व्यक्ति या व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदान की जाती है।

इस प्रकार भूमिका यहाँ प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है अर्थात् वास्तविक तौर पर अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों को कैसे पूरा किया जाता है। लिण्टन ने इन्हीं अर्थों में प्रस्थिति एवं भूमिका की व्याख्या की है। लिण्टन और मल्टन की व्याख्या को अधिक उपयोगी उपकरण बनाने के लिए वुडे एवं गल्फ ने इस विषय पर आगे कार्य किया। वुडे एवं गल्फ कहते हैं कि श्रेणी या व्यक्तियों के प्रकार तथा अधिकार व कर्त्तव्यों के झुण्ड ये दोनों तथ्य एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं अलग-अलग हैं। उदाहरण के लिए भाई शब्द एक श्रेणी है एवं वह भाई रहेगा चाहे वह अपने कर्त्तव्यों का पालन ठीक से करता है या नहीं। दूसरी विशेषता यह है कि श्रेणी के साथ अधिकार व कर्त्तव्य बदलते रहते हैं जैसे—पुलिसमैन तो उपस्थित है परन्तु उसके अधिकार व कर्त्तव्य गतिशील है। पद या श्रेणी को वुडे एवं गल्फ सामाजिक पहचान कहते हैं एवं अधिकार व कर्त्तव्यों को वे प्रस्थिति कहते है। प्रस्थिति एवं भूमिका प्रारूप को स्पष्ट करते हुए वुडे एवं गल्फ लिखते हैं कि अधिकार व कर्त्तव्य को हम एक सिक्के के दो पहलू कह सकते हैं। 'बी' के ऊपर 'ए' के अधिकार या 'ए' के प्रति 'बी' के कर्त्तव्य एक ही बात है। वुडे एवं गल्फ अधिकार व कर्त्तव्यों, विशेष अधिकार, शक्ति, उत्तरदायित्व आदि शब्दों में भेद भी करते हैं। हम यह जानते हैं कि सामाजीकरण में दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को सीखते हैं। ये अधिकार व कर्त्तव्य अलग अलग स्थितियों में अलग अलग होते हैं। उत्तरदाता इन अधिकारों व कर्त्तव्यों को जानते हैं और उनके पास इन्हें व्यक्त करने के लिए शब्द व वाक्यांश भी रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि सामाजिक मानवशास्त्र मे लिण्टन एव वुडे एवं गल्फ ने प्रस्थिति तथा भूमिका प्रारूप का प्रयोग किया है ।

ऊपर हमने सामाजिक मानवशास्त्र के कुछ प्रमुख प्रारूपो की विवेचना की है । इन प्रारूपों की जहाँ एक ओर कुछ उपयोगिताएँ हैं वहाँ अनेक मामलो मे ये प्रारूप अनुपयोगी भी है । प्रारूप बनाने की प्रक्रिया समकालीन समाजो मे अधिक लोकप्रिय होती जा रही है एव विभिन्न विज्ञान एक दूसरे के प्रारूपो का प्रयोग भी करते हैं । प्रारूप मूल मे अध्ययन के विश्लेषण के लिए एक प्रकार की रूपरेखा प्रस्तुत करता है । प्रारूप के द्वारा हम वृहत् व्याख्या की योजना मे अवलोकित किए गए तथ्यो को समान कोटियो मे प्रस्तुत कर सकते हैं एव प्रारूप के आधार पर ही हम यथार्थ को निश्चित योजना मे प्रस्तुत कर सकते हैं । प्रारूप मूल मे यथार्थ का प्रतीकात्मक प्रदर्शन ही होता है एव वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त होता है । मॉडल हमे यथार्थ के अधिक करीब ले जाता है प्रारूप मूल मे समस्याओ को इंगित करता है, उनके बारे मे वास्तविक आँकडो को स्पष्ट करता है एव एक सुनिश्चित प्रवृत्ति के द्वारा आँकडो को एकत्रित एव विश्लेषित किया जाता है तथा निश्चित तर्क, वाक्य या प्राक्कल्पना का निर्माण किया जाता है जो कि सत्य या गलत हो सकती है । इस प्रकार प्रारूप मूल मे मानवीय कल्पना है जो कि अनेक बार त्रुटिपूर्ण भी हो जाती है एव अनेक बार प्रारूप के द्वारा प्रदत्त जानकारी उपयुक्त विषयवस्तु के अभाव मे गलत भी हो जाती है । स्नाइडर ने जोर देकर लिखा है कि हमे प्रारूप निर्माण का कार्य छोड देना चाहिए क्योंकि यह अधिक समय प्रयत्न एव शक्ति खर्च करने वाला तरीका है । प्रारूप निर्माण का कार्य प्रमुखत अत्यन्त सावधानीपूर्वक यदि न किया जाए तो उसमे त्रुटियाँ होने की सम्भावना अधिक होती है लेकिन फिर भी वैज्ञानिक परिशुद्धता के कारण वर्तमान समाजो मे प्रारूपो की लोकप्रियता मे वृद्धि हो रही है ।



2

आदिम सामाजिक व्यवस्था : विनिमय, सहबन्ध, वंशानुक्रम, सम्पत्ति एवं पद-सम्बन्धी अधिकार

(Primitive Social System : Exchange, Alliance, Descent, Inheritance, Succession)

मानव संस्कृति के अध्ययन मे सामाजिक व्यवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक व्यवस्था का मूल उद्देश्य किसी समाज मे पाए जाने वाले विचारो, विश्वासो, स्थाई भावो तथा मूल प्रवृत्तियो को बताना है, जिससे मनुष्य का व्यक्तिगत एव समष्टिगत दोनो ही प्रकार का आचरण निर्धारित होता है। विशेषकर समष्टिगत आचरण उस सामाजिक व्यवस्था के द्वारा निर्धारित होता है जिसकी सदस्यता प्रत्येक मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त हो जाती है।

समाज को एक व्यवस्था मानने की परम्परा समाजशास्त्रियो मे जीव शास्त्रियो के प्रभाव का परिणाम है। जीवशास्त्रियो ने शरीर को एक जैविक व्यवस्था माना है, जिसमे विभिन्न अग एक दूसरे से सम्बन्धित तथा आत्म निर्भर होकर कार्य करते हैं, और ये एक व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं, जिससे कि हमें एक क्रियाशील प्राणी की वास्तविकता का ज्ञान होता है। इस क्रियाशील प्राणी का जो ऊपरी ढांचा (Structure) होता है, वह सरचना कहलाता है। इस व्यवस्था के विभिन्न अग इस प्रकार क्रियाशील होते हैं कि सरचना की निरन्तरता बनी रहती है। इसको हम इस सरचना की प्रकार्यात्मकता (Functionality) कहते हैं। यदि शरीर के समस्त अग एक दूसरे से जुड़े हुए तथा स्वतन्त्र होकर भी एक दूसरे पर निर्भर नहीं रहते तो सरचना की निरतरता नही बनी रहती एव एक व्यवस्था नही होती, वरन् विभिन तत्वो का ढेर मात्र बन कर रह जाता है। यह

ठीक वैसे ही है कि एक घडी (Watch) के विभिन्न पुर्जे (Parts) यदि एक स्थान पर एकत्रित कर दिए जाएँ तो घडी का स्वरूप नही बनेगा, जब तक कि घडी के समस्त पुरजों को एक निश्चित ढग से निश्चित स्थान पर न रखा जाए अर्थात् बिना व्यवस्था किए उनका स्वरूप नही बनेगा, न ही घडी के विभिन्न पुर्जे गतिशील होगे।

आगस्त काम्त (Auguste Comte) ने समाज को शारीरिक व्यवस्था के समान एक सावयव (Organism) माना है। दुर्खीम, वेवलीन, वेबर, सोरोकिन, मार्क्स, स्पेन्सर, पारसन्स, पेरेटो, मर्टन, इकलैस इत्यादि विद्वानो ने भी समाज का अध्ययन एक व्यवस्था के रूप मे करने का प्रयत्न किया है। इन्होने प्राय. ऐसी समस्याओ पर विचार किया है कि समाज मे विभिन्न तत्वो मे कैसे साम्य अथवा जैविकीय एकता बनी रहती है अथवा अव्यवस्था कैसे उत्पन्न हो जाती है। विभिन्न अग कब व्यवस्था मे दोष उत्पन्न कर देते हैं आदि। इस रूप मे इन सभी विद्वानो ने सामाजिक इकाइयो के विभिन्न स्वरूपो, इनके बीच पाए जाने वाले अंत सम्बन्धो, अन्त क्रियाओ, प्रकार्यों आदि की विस्तृत व्याख्या की है। इस प्रकार यह प्रमुखत समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण है, इसलिए इसमे विभेदीकरण, सस्तरण तथा एकीकरण की समस्याओ पर भी विचार किया गया।

स्पष्ट है कि व्यवस्था चाहे जो भी हो, वह जैविक हो या सामाजिक या सांस्कृतिक, अपने मे निहित किन्ही इकाइयो का एक ऐसा विशेष सयोग होनी है, जिससे ये इकाइयाँ इस प्रकार एक दूसरे से अत सम्बन्धित एव अन्त क्रियात्मक रूप मे जुडी होती हैं कि स्वय उस व्यवस्था का अस्तित्व उसकी निरतरता (Continuity) और उसकी गत्यात्मकता (Dynamics) इसी बात पर निर्भर होती है।

सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह से शारीरिक व्यवस्था के समान नही होती। यदि ऐसा होता तो एक समाज को दूसरे समाज से भिन्न करना भी सम्भव नही होता। वास्तव मे सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा दो कारणो से विकसित हुई। एक तो अमूर्त समाज का वैज्ञानिक एव व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक था कि समाज को दूसरे समाज से भिन्न करना सम्भव हो सके। सभी समाजो मे व्यवस्था के दृष्टिकोण से इतनी तो समानता पाई जाती है कि इनमे विभिन्न अगो का एक विशिष्ट सयोग होना है तथा इससे विभिन्न अग आपस मे एक दूसरे से अन्त सम्बन्धित तथा आपस मे एक दूसरे पर विशेष क्रम से आत्मनिर्भर होते हैं, लेकिन प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था मे एक ही प्रकार के तत्त्व नहीं पाए जाते तथा प्रत्येक अगों मे अन्त सम्बन्धो तथा अन्त निर्भरता भी एक-सी नही पाई जाती। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की अपनी एक सीमा होती है और वह अपनी पृथक्ता को बनाए रखती है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था अपने मे से अन्त क्रियाओ का एक सन्तुलन भी विकसित कर लेती है, जो इस व्यवस्था को गति एव शक्ति प्रदान करता है।

ग्रोल्सन (Olson) के ग्रनुसार एक 'सामाजिक व्यवस्था' सामाजिक सगठन का ही एक रूप प्रतिरूप है, जिसमें इसके तत्वों के ग्रतिरिक्त एक विशेष, प्रकार की सम्पूर्ण एकता का गुण होता है जिसको इसके पर्यावरण से एक स्पष्ट परिभाषित सीमा के ग्राधार पर पहचाना जा सकता है तथा जिसकी उप इकाइयाँ कम से कम ग्राथिक रूप से ग्रन्त सम्बन्धित होती हैं।"

हाल तथा फान के शब्दो मे, "एक सामाजिक व्यवस्था ग्रन्त सम्बन्धित क्रियाग्रो का एक स्पष्ट परिभाषित सयोग है जो स्वय ग्रपने म स एक सामाजिक इकाई होती है।"

मेकाइवर तथा पेज के ग्रनुसार, "सामाजिक व्यवस्था समाज की रीति-रिवाजो ग्रौर कार्य-प्रणालियो की ग्रधिकार ग्रौर पारस्परिक सहयोग, समूह ग्रौर भागो की मानव व्यवहार के नियन्त्रणो ग्रौर स्वाधीनताग्रो की एक व्यवस्था मात्र है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी समाज की सामाजिक व्यवस्था उसकी स्थिति है, कोई बाह्य स्वरूप नही। इस व्यवस्था के ग्रन्तर्गत विभिन्न ग्रगो की एक ऐसी क्रमबद्ध व्यवस्था होती है जिसमे प्रत्येक ग्रग का प्रकार्यात्मक महत्त्व होता है एव जिसके ग्रगो मे पारस्परिक ग्रन्तर निर्भरता पाई जाती है।

ग्रादिम समाजो की सामाजिक व्यवस्था सभ्य समाजो की सामाजिक व्यवस्था से थोडी पृथक् है। ग्रादिम समाजो का एक प्रमुख लक्षण यह है कि ये छोटे सामाजिक सगठनों मे सरक्षित होते हैं। सामाजिक प्रकार्यों का विभाजन जो सभ्य समाजो मे या हम लागो मे ग्रनेक सामाजिक वर्गों मे बँटा हुग्रा है वह एक ग्रादिम समाज मे एक ही सामाजिक वर्ग के हिस्से म पड सकता है। एक ही सामाजिक समूह द्वारा विभिन्न सामाजिक प्रकार्य किए जाने का एक परिणाम तो यह होता है कि यहाँ ग्रलग-ग्रलग प्रकार के सामाजिक प्रकार्य का एक दूसरे पर ग्राश्रित होना स्वाभाविक है। ग्रादिम सामाजिक व्यवस्था को हम जनजातियो की परिवार विनिमय, बन्धुत्व, सहबन्ध तथा सम्पत्ति एव पद-सम्बन्धी ग्रधिकारो के रूप मे विवेचित कर सकते हैं। जनजातियो के परिवार हमारे राष्ट्र के सामान्य सयुक्त परिवार (Joint Family) की परम्परा मे ग्राते हैं। यद्यपि इनके परपरागत सयुक्त परिवार की ग्रवधारणा मे थोडा-बहुत परिवर्तन चला ग्रा रहा है। ग्रब भी इन परिवारो के निर्णय मुख्यतः परिवार के मुखिया पर ही ग्राधारित है। जनजातियो की सामाजिक व्यवस्था का दूसरा ग्राधार उनमे पाए जाने वाला बन्धुत्व एव विनिमय की व्यवस्था है। जनजातियो की बन्धुत्व व्यवस्था ग्रपक्षाकृत बहुत कम परिवर्तित हुई है। यद्यपि विनिमय के स्वरूप मे जो पहले वस्तुगत (Barter) ग्रधिक था ग्रब कहीं कहीं मुद्रा (Money) का प्रयोग भी दिखाई देता है।

वशक्रम या वशानुक्रम (Descent) तथा सहबद्ध (Alliance) की व्यवस्थाएँ भी जन-जातियो की सामाजिक व्यवस्था की एक ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है।

वंशानुक्रम की सज्ञा उपेक्षा के साथ, उस विधि के लिए भी प्रयुक्त की गई है जिससे किसी समूह की सदस्यता का निर्णय किया जाता है तथा उन अनुरीतियो के लिए भी जिनके द्वारा सम्पत्ति, पदवी और अधिकार का सचारण होता है जैसा कि आगे प्रदर्शित किया जाएगा, ये प्रक्रियाएँ सदा एक दूसरी के अनुरूप नही होती। उदाहरणत अनेक परिस्थितियो मे एक पुरुष अपनी माता के सामाजिक समूह वर्ग का सदस्य होते हुए भी अपने पिता से सम्पत्ति और पदवी प्राप्त करता है और यह परमावश्यक है कि इन विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओ मे भेद स्पष्ट कर दिया जाए।¹

बन्धुत्व एव सहबन्ध सिद्धान्त के लगभग विपरीत वशानुक्रम सिद्धान्त होते हैं। वशानुक्रम सिद्धान्त के अनुसार समाज पृथक्-पृथक् खण्डो से बना हुआ है एव यह खण्ड अपनी आन्तरिक एकता के कारण अपने पृथक् अस्तित्व को बनाए रखते हैं। ये सब खण्ड समाज की आन्तरिक सुदृढता द्वारा एक सूत्र मे बधे रहते है। बन्धुत्व का वशानुक्रम सिद्धान्त मुख्यत' इस आधार सामग्री पर बना है जिससे सामाजिक मानवशास्त्रियो ने अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया के आधुनिक समाजो के अध्ययन से प्राप्त है।

वशानुक्रम एव सहबन्ध सिद्धान्त एक-दूसरे से पृथक् नही समझे जा सकते, अपितु ये सिद्धान्त समाज की जटिलता से जुडे हुए हैं। यदि हम वशानुक्रम एव सहबन्ध सिद्धान्तो को देखते हैं तो हमे इन्हे समाज की प्रकृति और सस्कृति, सामाजिक सरचना की प्रकृति, विवाह के नियम, विवाह के सिद्धान्त आदि के सन्दर्भ मे देखना पडेगा।

आदिम सामाजिक व्यवस्था मे एक और महत्त्वपूर्ण अवधारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह 'पद एव सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार' (Inheritance and Succession) है। सम्पत्ति का एक से दूसरे को सचारण करने की प्रक्रिया को सामान्यतः सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार (Inheritance) कहा जाता है, जबकि आदिम समाजो मे एव इनकी सामाजिक व्यवस्था मे एक अन्य प्रक्रिया पद के सचारण की है एव कभी-कभी इस प्रक्रिया को पदोत्तराधिकार (Succession) भी कहा जाता है। यद्यपि यह प्रयोग जैसा कि डब्ल्यू एच. आर रिवर्स ने लिखा है "सर्वथा सन्तोषप्रद नही है क्योकि यह शब्द उसके विधि सम्बन्धी प्रयोग के कुछ विरुद्ध पडता है जिसमे शब्द 'उत्तराधिकार' सम्पत्ति के प्रति ही प्रयुक्त होता है। हम कह सकते हैं कि राजा के पद का उत्तराधिकारी उसका पुत्र होता है और एक व्यक्ति के उत्तराधिकार से हमारा आशय उसका हिताधिकार या उसकी पदवी के अन्तरण से होना है और इस कारण जब कोई इससे अधिक उपयुक्त शब्द न मिल जाता हम इसके लिए पद सम्बन्धी उत्तराधिकार का प्रयोग करें। जब एक पुरुष अपने पिता का पदोत्तराधिकारी बनता है तो पदोत्तराधिकार पितृवशीय कहलाता है। जब पदोत्तराधिकार माता के माध्यम से हो तो वह मातृवशीय कहलाएगा।"¹

1 *Lucy Mair* op. cit, p 65

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिम सामाजिक व्यवस्थाओ मे प्रमुखत परिवार बन्धुत्व, गौत्र, सहबन्ध, वशानुक्रम तथा सम्पत्ति एव पद सम्बन्धी उत्तराधिकार की प्रथाएँ पाई जाती हैं। यहाँ हम इन प्रथाओ की विस्तार से विवेचना करेंगे।

विनिमय
(Exchange)

आदिम सामाजिक व्यवस्था मे 'बन्धुत्व' (Kinship) का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बन्धुत्व के महत्त्वपूर्ण होने का प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाज अत्यन्त छोटे होते हैं एव इन समाजो मे सामूहिकता या सगठन का प्रमुख आधार बन्धुत्व ही होता है। ऐसे समाजो मे व्यवहार के प्रतिमानो का निर्धारण भी बन्धुत्व की निकटता या दूरी के आधार पर किया जाता है। आपातकालीन स्थिति या प्राकृतिक दुविधा आदि समय मे भी आदिवासी लोग प्रमुखत अपने नाते रिश्तेदारो का ही सहयोग लेते है। जन्म, विवाह, मृत्यु एव अन्य सामाजिक सस्कारो म भी उनके अपने रिश्तेदार ही सबसे महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस प्रकार आदिम समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपने रिश्तेदारो से घनिष्ठत जुडा होता है।

नातेदारो या रिश्तेदारो का एक निश्चित सहबन्ध (Alliance) एव सगठन बन्धुत्व व्यवस्था को बनाता है। यह भी कहा जा सकता है कि जो लोग आनुवशिकता और जविकता से एक-दूसरे के साथ बधे हुए है, स्वजन या बन्धु (Kin) है। यदि इस दृष्टि से देखें तो बन्धुत्व व्यवस्था जैविक जाल का एक स्वरूप है। इस जाल मे व्यक्ति एक गाँठ की तरह है जो वाहकाणुओ को दूसरो से ग्रहण करता है और इन वाहकाणुओ को दूसरो को प्रदान करता है। जैविक सम्बन्धों को लेकर मनुष्यो म दो प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है। सम्बन्धो का एक प्रकार वशज से सम्बद्ध है, और दूसरा प्रकार यौन सम्बन्धों (Sex Relationships) से जुडा हुआ है। जैविक अर्थ मे सभी बन्धुत्व सम्बन्ध या तो वशज या यौन सम्बन्ध की एक शृखला मे बधे हुए होते हैं। दत्तक व्यवस्था एक प्रकार से समाज द्वारा स्वीकृत विधि है जो जैविक सम्बन्धो का स्थान ग्रहण करती है।

बन्धुत्व व्यवस्था का आधार जैविक है। लेकिन यही सब कुछ नही है। यदि हम अपने स्वजनो से जैविक रूप से जुडे हुए हैं, तो सभी समाजो की बन्धुत्व व्यवस्था एक ही होती। वास्तविकता यह है कि बन्धुत्व व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जो सभी सस्कृतियो मे बडे अन्तर के साथ पाई जाती है। प्रत्येक स्वजन के कुछ अपेक्षित व्यवहार होते हैं, बन्धुत्व व्यवस्था मे उसकी एक निश्चित भूमिका होती है। अत बन्धु या स्वजन करने के लिए कई आधारो को स्वीकार किया जाता है। वास्तव मे व्यवहार की आवश्यकताओ को लेकर ऐसे कई तथ्य हैं जो स्वजनों के कार्यों के साथ जोडे जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिम समाजो की सामाजिक व्यवस्था मे

सहबन्ध (Alliance) एव विनिमय (Exchange) का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सहबन्ध का उल्लेख आगे चलकर हम विस्तार से करेंगे। यहां हम आदिम समाजो मे पाए जाने वाले विनिमय (Exchange) की विस्तार से विवेचना करेंगे।

विनिमय सिद्धान्त को सामान्यत मानवशास्त्री बन्धुत्व व्यवस्था एव विवाह के साथ सम्बन्धित मानते हैं। विनिमय, अर्थशास्त्र की उपयोगितावादी सम्प्रदाय (Utilitarian School) से भी जुडा हुआ है। एडम स्मिथ, जॉन स्टूवर्ड मिलस आदि उपयोगितावादी अर्थशास्त्री थे। इन विद्वानो का मानना है कि मनुष्य जब वस्तुओ का विनिमय करता है तो वह अधिकतम लाभ व उपयोगिता लेना चाहता है, अर्थात् जब वह खुले बाजार से सौदा खरीदने के लिए जाता है तो वह तार्किक ढग से यह प्रयास करता है कि वस्तुओ से जितना लाभ मिले उतना ही अच्छा है। बाजार मे प्रतियोगिता होती है प्रत्येक वस्तु के विनिमय के विकल्प बाजार मे उपलब्ध रहते हैं। उपयोगितावाद मे विनिमय व्यवहार मे प्रमुख रूप से चार बातो का उल्लेख किया गया है[1]—

(1) लोग अधिकतम लाभ लेना चाहते हैं।
(2) लोग सामान्यतः तार्किक होते हैं।
(3) बाजार मे उपलब्ध विकल्पो का ज्ञान लोगो को होता है।
(4) विनिमय-सम्बन्ध बाहरी दबाव एव नियमो से मुक्त नही होते।

इस प्रकार उपयोगिता के विनिमय सिद्धान्त का प्रमुख प्रभाव समाजशास्त्रियो व मानवशास्त्रियो पर पर्याप्त रूप से पडा। मानवशास्त्र मे विनिमय सिद्धान्त का प्रयोग किए जाने से पूर्व समाजशास्त्रियो ने विनिमय सिद्धान्त मे कुछ प्रमुख सशोधन किए थे। इन सशोधनो को प्रमुखत निम्नांकित कोटियो मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) मनुष्य हमेशा अधिकतम लाभ लेना नही चाहते लेकिन वे कुछ लाभ लेना अवश्य चाहते हैं।
(2) यद्यपि मनुष्य पूर्णतया युक्तायुक्त नही है फिर भी वह वस्तु के दाम और उसके लाभ के बारे मे अवश्य सोचता है।
(3) यद्यपि बाजार मे उपलब्ध विकल्पो के बारे मे ज्ञान नही होता फिर भी वे कुछ विकल्पो से अवश्य परिचित होत हैं।
(4) यद्यपि मनुष्य की गतिविधियो पर हमेशा समाज का दबाव होता है, वे इस बात की प्रतियोगिता अवश्य करते हैं कि उन्हे अपने विनिमय मे लाभ अवश्य मिले।
(5) यद्यपि आर्थिक विनिमय बाजार मे होता है, सामान्य विनिमय सम्बन्ध सभी सामाजिक सन्दर्भों मे देखने को मिलते हैं। सामाजिक

1 डा. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव : आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय, पृ 79

> विनिमय मे मनोभावो, सवेगो और सामाजिक गतिविधियों का विनिमय होता है ।

इससे पहले कि हम सामाजिक मानवशास्त्र एव आदिम सामाजिक व्यवस्था मे पाए जाने वाले विनिमय का उल्लेख करें, सामाजिक विनिमय का अर्थ एव परिभाषा का समझना आवश्यक है ।

केलविन जे लार्सन ने अपनी कृति 'मेजर थीम्स एण्ड सोश्योलोजीकल थ्योरी' मे विनिमय को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सामाजिक विनिमय सिद्धान्त मौलिक रूप से उन स्थितियो के विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है जिनमे दो या दो से अधिक व्यक्तियो के बीच सौदेबाजी होती है, जो एक-दूसरे से कुछ न कुछ चाहते हैं और कम से कम खर्च मे अधिक से अधिक मात्रा मे प्राप्ति के लिए अभिप्रेरित होते हैं ।"[1]

बरनॉट फिलिप्स ने अपनी कृति 'सोश्योलोजी' मे विनियम की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "विनिमय सिद्धान्त मे मनोवैज्ञानिक आर्थिक और समाजशास्त्रीय तत्त्व शामिल रहते है । यह लक्ष्य, पुरस्कार और दण्ड पर विचार करता है । इसमे लाभ और लागत दोनो देखे जाते हैं । यद्यपि यहाँ इनको अर्थशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप से परिभाषित किया जाता है यह अन्त क्रिया के आभास पर केन्द्रित है ।"[2]

समाजशास्त्र मे विनिमय सिद्धान्त के प्रमुख समर्थको मे दो नाम विशेष उल्लेखनीय है—(1) जॉर्ज होमन्स (George Homans) एवं
(2) पीटर ब्लाउ (Peter Blau) ।

जॉर्ज होमन्स ने मानसिक या अप्रत्यक्ष लाभो और भौतिक दृष्टि के लाभो मे अन्तर किया है । होमन्स का दावा है कि यदि हम भौतिक लागतो और लाभो से मानसिक लागतो और लाभो पर जोर देने लगें तो हम यह अच्छी प्रकार समझ सकेंगे कि लोग जो कार्य कर रहे हैं उसे वे क्यो कर रहे हैं । यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमे ऐसे लक्ष्यो की ओर ले जाएगा जो वास्तव मे भौतिक नही हैं । विनिमय सिद्धान्त के अन्य विचारक पीटर ब्लाउ ने होमन्स की अपेक्षा अधिक बड़े स्तर की सामाजिक सरचनाओ का स्पष्टीकरण किया है । अमूर्तता के स्तर के अनुसार विनिमय सिद्धान्तशास्त्रियों को भी वर्गीकृत किया जा सकता है । इसमे सर्वाधिक सामान्य स्तर पर ब्लाउ का कार्य है जो सम्पूर्ण समाज मे विनिमय और शक्ति के बीच सम्बन्ध विषयक है । मध्य स्तर पर लागत एव लाभ सम्बन्धी होमन्स का विश्लेषण है । किसी विशेष परिस्थिति मे पर्यवेक्षित विशेष व्यवहार के निकट के स्तर पर अनेक समाजशास्त्रियो का कार्य है जो सरचित विनिमयो पर विचार केन्द्रित करते हैं ।

1 *Calvin J Larson* : Major Themes in Sociological Theory, 1977, p 175
2 *Bernard Phillips* . Sociology, p 116

सामाजिक मानवशास्त्र में विनिमय
(Exchange in Social Anthropology)

क्या मुद्रारहित समाजो मे लोग हानि-लाभ का हिसाब-किताब करते है? क्या उनके मन मे कभी यह प्रश्न उठता है कि समय बिताने या अपने पास की वस्तुओ को बेचने के जो साधन उनके पास है, वे क्या किसी अन्य विकल्प से अधिक अच्छे है? आदिम अर्थव्यवस्था की कुछ परिभाषाओ मे यह सकेत मिलता है कि वे इन बातो का ध्यान रखते है। आर एफ साल्जबरी के अनुसार "अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत लोगो के कार्यकलाप आते हैं, जिससे लोग अपने व्यवहार की ऐसी व्यवस्था करते है कि वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन, विनिमय और उपभोग का विवेकपूर्ण हिसाब लगाया जाए और इस तरह प्रतिद्वन्द्वी उद्देश्यो की पूर्ति न्यून साधनो से हो सके। आज का प्रत्येक मानवशास्त्री यह सोचता है कि हर आदमी इन सवालो को उठाता है। मुद्रारहित तथा कृषक समाजो और औद्योगिक समाजो मे इन प्रश्नो के उत्तर भिन्न भिन्न तरीको से दिए जाते हैं।"[1]

यहाँ यह देखना आवश्यक है कि विनियम के माध्यम के रूप मे मुद्रा (Money) के प्रचलन पर आधारित अर्थव्यवस्था विद्यमान है या नही। छोटे पैमाने वाले समाज छोटे इसीलिए हैं कि उनमे दूर सचार की व्यवस्था नही है। उनम विनिमय के एक सामान्य माध्यम की भी कमी है। इससे वे क्रय-विक्रय का काम नही कर सकते, खासकर ऐसे लेन-देन, जिनमे दोनो पक्ष या तो मिलते ही नही या थोडी देर के लिए दूकान पर मिलते हैं। श्रमिक और मालिक के बीच एक सूत्री सम्बन्ध कायम रखने के लिए भी उनके पास साधन नहीं हैं। मुद्रारहित समाजो मे सभी विनिमय ऐसे लोगो के बीच होते हैं, जिनके सम्बन्ध शाश्वत एव बहुसूत्री हैं।

ऐसे विनिमय मे अर्थशास्त्री सर्वप्रथम उसे स्थान देते हैं, जिसमे एक पक्ष अपने बचे हुए सामान को दूसरे को इसलिए देता है कि उसके पास इसका अभाव है। अधिकतर ऐसे सामान बदल लिए जाते हैं, पर उनमे भी बराबरी की कुछ भावना रहती है। कुछ समाजो मे वस्तुओ के विनिमय के ऐसे अवसरो का महत्त्व नही है। सामाजिक मानवशास्त्रियो के लिए तो वे उतने रोचक भी नही हैं। वे ऐसी समस्या मे रुचि रखते हैं, जिसमे वस्तुएँ दी जाती हैं, पर देने वाले को प्रत्यक्ष रूप म कुछ नही मिलता। क्या यह अपनी सम्पत्ति के उपयोग का विवेकपूर्ण तरीका है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए यह देखना है कि वास्तव मे देने वाले को क्या मिलता है।

मानवशास्त्रियो ने जब आदिम जातीय समाज का अध्ययन करना प्रारम्भ किया तो उन्हें पता चला कि विनिमय द्वारा उपभोग और सुख के साधन प्राप्त करने की प्रवृत्ति आदिम जातीय समाज मे पाई जाती है। साधन-विहीन आदिम

1 *Lucy Mair*: Introduction to Social Anthropology (Hindi), p. 163

जातीय समुदाय के लोग बहनो और स्त्रियो को विनिमय मे देकर, दूसरे समुदाय की स्त्रियो को या सम्पत्ति को प्राप्त करते थे। अतः आदिम जातीय समुदाय का स्वरूप विनिमय पर आधारित था। ये समुदाय अति सरल थे, आर्थिक क्रियाएँ साधारण व सरल थी, मुद्रा का अभाव था। वस्तुओ के आदान-प्रदान के लिए स्त्रियो और जानवरो का उपयोग किया जाता था।

सामाजिक मानवशास्त्र मे विनिमय सिद्धान्त के प्रमुख जनक जेम्स जॉर्ज फ्रेजर कहे जाते है। जेम्स फ्रेजर ने सबसे पहले 1919 मे अपनी पुस्तक 'फोकलोर इन दी ओल्ड' मे विनिमय सिद्धान्त को बन्धुत्व व्यवस्था के साथ सलग्न कर प्रस्तुत किया।[1] फ्रेजर ने आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे चचेरे, ममेरे, मौसेरे, फुफेरे भाई-बहनो मे विवाह (Marriage) की प्रथा का उल्लेख किया है। गरीब आदिवासियो के पास धन नही होता, इसलिए वे अपने घर की स्त्री-सदस्या (प्राय बहन या बेटी) के बदले मे, दूसरे परिवार से वधू प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की विवाह प्रथा के पीछे आर्थिक उद्देश्य निहित होते है। फ्रेजर ने यह भी लिखा है—

(अ) विनिमय द्वारा लोग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं,
(ब) विनिमय से जब लाभ होने लगता है तो विनिमय की प्रक्रियाएँ (Elementary Forms) सस्थागत हो जाती हैं, और
(स) उनसे सामाजिक कुल केन्द्र (Social Network) उत्पन्न होते हैं और उन्ही कुल केन्द्रो से सामाजिक व्यवस्था (Social System) की रचना होती है।

फ्रेजर की विनिमय की अवधारणा और मानवशास्त्रियो की खोज से पता चलता है कि लोगो मे सामाजिक बन्धन बनाने की आवश्यकता कितनी प्रबल होती है। भौतिक और अभौतिक विनिमय सम्बन्धो से उत्पन्न, सामाजिक सम्बन्धो को होमन्स सामाजिक व्यवहार कहता है। सामाजिक व्यवहार की अवधारणा मे होमन्स व्यवहारवादी मनोविज्ञान और आर्थिक नियमो से प्रभावित हुआ है।

फ्रेजर का विनिमय सिद्धान्त उपयोगितावाद (Utilitarianism) से प्रभावित है। फ्रेजर ने विवाह के प्रकारो पर जो प्रश्न उठाए हैं, उनका उत्तर भी सग्रहीत आधार सामग्री के बल पर ही दिया है। उन्होने अर्थशास्त्र के विनिमय सिद्धान्त को सामाजिक आदान-प्रदान की गतिविधियो पर लागू किया है। उनका यह सिद्धान्त आर्थिक अभिप्रेरणा (Economic Motivation) के नाम से जाना जाता है। आदिवासी का जीवन गरीबी का जीवन होता है। उसके पास सीमित साधन होते हैं। पूँजी उसके पास होती नही। लेकिन पत्नी तो उसे चाहिए। किसी भी पुत्री को वह अपनी पत्नी के रूप मे लेता है। उसके बदले मे देने के लिए उसके पास धन नहीं होता। माल असबाब नही होता। ऐसी अवस्था मे

1 *James Frazer* Quoted from Dr H Srivastava, *op. cit.*, p. 82-83.

उसके सामने एक ही विकल्प है—वह है पत्नी का विनिमय (Exchange of Wife)। वह बिना किसी धन की प्राप्ति के अपनी लड़की विवाह में देता है दूसरे की लड़की को अपने लड़के की पत्नी के लिए माँगता है। इस विनिमय में उसके स्वजन ही उसके सहायक हो सकते हैं। इसी कारण फुफेरे ममेरे भाई-बहिन का विवाह होता है। फ्रेजर कहते हैं कि विवाह की इस विनिमय प्रणाली में दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु है—(1) सम्पत्ति का अभाव और (2) पत्नी की इच्छा। विनिमय विवाह बिना सम्पत्ति के पत्नी प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करता है।

जब किसी संस्कृति में एक बार आर्थिक अभिप्रेरणा स्थापित हो जाती है तो यह अभिप्रेरणा सामाजिक प्रतिमानों पर नियन्त्रण रखती है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की विवाह पद्धति को फ्रेजर ने इसी दृष्टिकोण से देखा है फ्रेजर के सम्पूर्ण विश्लेषण में उपयोगितावादी अर्थशास्त्रियों का प्रभाव है।

मानवशास्त्र में विनिमय के तीन प्रमुख सिद्धान्त प्रचलित हैं, जो निम्नांकित हैं–

(1) मारसल मौस का विनिमय सिद्धान्त

(2) मेलिनॉस्की का विनिमय सिद्धान्त

(3) लेवी-स्ट्रॉस का विनिमय सिद्धान्त

यहाँ हम इन तीनों का विस्तृत वर्णन कर रहे हैं—

मारसल मौस एवं विनिमय सिद्धान्त
(Marcel Mauss & Exchange Theory)

सामाजिक मानवशास्त्र में यद्यपि सबसे पहले इमाईल दुर्खीम ने वस्तु विनिमय या भेंट विनिमय के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था परन्तु उसके एक सिद्धान्त को उनके प्रमुख अनुयायी मारसल मौस ने अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरूंटा जनजाति का अध्ययन किया जबकि बाद में मौस ने इस सिद्धान्त को विस्तार से प्रस्तुत किया। मारसल मौस ने इसाईमुरलीडॉन के अपने विनिमय के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। उसने दो प्रमुख उदाहरण दिए थे—'कुला' और 'पोटलैक'। मेलिनॉस्की ने ट्रोब्रियण्ड द्वीपों के अध्ययन के सिलसिले में शंख-आभूषणों के आदन प्रदान के लिए कुला समुद्री-अभियानों का वर्णन किया है। उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका की कुछ जनजातियों में सम्पत्ति के स्पर्धापूर्ण वितरण को पोटलैक कहते हैं। मौस के लेख के बाद उपहारों के आदान प्रदान वाली कई व्यवस्थाओं का अध्ययन हुआ है। मानवशास्त्रियों ने उन उपहारों की सामाजिक महत्ता के विषय में अपना ज्ञानवर्धन किया है, जिनके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रतिदान नहीं होता।

इस प्रकार मारसल मौस के विनिमय के प्रमुख सिद्धान्तों में दो प्रमुख उदाहरण हैं—

1 *Lucy Mair*. Ibid, p 166-171.

(1) कुला (Kula),
(2) पोटलैंक (Potlatch)।

(1) **कुला (Kula)**—कुला उपहार विनिमय संस्थाओं में सबसे प्रमुख है। मैलिनॉस्की ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। मैलिनॉस्की ने मेलानेशिया एव आस्ट्रेलिया में प्रचलित बहुत सी व्यवस्थाओं में समानता को देखा।

ट्रोब्रियंड द्वीप मे मैलिनॉस्की ने शोध किया था। वहाँ प्रत्येक सक्षम व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से शंख के आभूषणों के विनिमय के लिए अपने या दूसरे द्वीपों के लोगो के साथ साझा कायम करता है। ये आभूषण दो प्रकार के होते हैं—लाल शख के हार और श्वेत शख के बाजूबन्द। इस विनिमय मे दोनो पक्ष एक ही साथ आदान-प्रदान नही करते। मिलने पर जिसकी बारी होती है, वह उपहार देता है। प्रतिदान अगली भेंट पर दिया जाता है। यदि साझेदार पड़ोसी है, तो दोनो भेंटें जल्दी हो जाती हैं। इस विनिमय का भव्य दृश्य तब देखा जाता है, जब लोग साझेदारो से मिलने के लिए नाव से, दूसरे द्वीपो में जाते हैं। विनिमय सभी बातो मे नही होता, इसका एक विशेष क्रम होता है, जैसे नाव मे होता है। प्रत्येक व्यक्ति के साझेदार उसके द्वीप के दोनों ओर के द्वीपो मे होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक तरफ के साझेदार से हार पाता है और दूसरी ओर से बाजूबन्द। इनमे से बहुत सी वस्तुओं का खास नाम होता है और वे इतनी बहुमूल्य होती है कि उनके स्वामी का इतिहास तथा निश्चित समय पर वे कहाँ हैं, ये सभी लोग जानते है। यदि कोई जानता है कि उनमे से एक उसके यहाँ आ रहा है तो वह उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा करता है। कोई भी कुला किसी वस्तु को अधिक दिनो तक अपने यहाँ नही रख सकता। कुछ समय वह उसे रखकर डींग मार सकता है, उत्सव के अवसर पर पहन सकता है, पर इसके बाद वह वस्तु उसके साझेदार के पास चली जाएगी।

(2) **पोटलैंक (Potlatch)**—पोटलैंक में वस्तुओं का वितरण प्रत्यक्ष रूप से स्पर्धात्मक होता है। इस संस्था का विश्लेषण विभिन्न दृष्टिकोणों से हुआ है। मौस ने उसे अपना मुख्य उदाहरण माना था। इस शती के प्रारम्भ से उसका प्रचलन नही है और इस पर प्रचुर साहित्य होने के बावजूद यह कल्पना करना कठिन है कि वास्तव में उसका रूप क्या था। यह चार जातियो मे पाया जाता था, जो अलास्का और ब्रिटिश कोलंबिया में रहती थी, यथा हैडा, लिंगित, शिमशियन और क्वाक्विट्ल के अनुसार इसका निष्कर्ष था पारिवारिक परमाधिकार का प्रदर्शन देखने के लिए बहुत से लोगो का एकत्रित होना। प्रदर्शन एक भोज मे हुआ, जिसमे जनजाति के दूसरे द्विअंशक के सदस्यो को मेजबान वंशानुक्रम-समूह के द्वारा सम्पत्ति का वितरण किया गया। ये उपहार एक तरह से अतिथियो की उस सेवा के बदले मे दिए गए थे, जो उन लोगो ने मेजबानों के दावो को सुनने के लिए केवल अपनी उपस्थिति से की थी। मेजबानो ने अपनी पुरानी उपलब्धियो का ढिंढोरा पीटकर यह दिखलाया कि वे कितने उदार थे। इन उत्सवों के सहारे वे

पदवियाँ भी ग्रहण कर लेते थे। पौटलैक का आयोजन इसके लिए भी किया जाता था कि मृत व्यक्ति का युवक उत्तराधिकारी अपने पूर्वजों का यश प्राप्त कर सके। वह उपहार देकर यह सिद्ध करना चाहता था कि यह उनका योग्य उत्तराधिकारी है। पौटलैक वैवाहिक भोज के अवसर पर भी किया जा सकता था। प्राचीन काल मे विनिमय की वस्तुएँ उन्ही लोगो द्वारा बनाई जाती थी, पर जब व्यापारिक वस्तुएँ उपलब्ध हो गई तो वे घडियाँ और घुलाई की मशीनें दान करने लगे। प्रत्येक वस्तु किस परिमाण मे दी जाए, यह देने वालो की दृष्टि मे पाने वाले के पद पर निर्भर रहता था। पद जनमत मे निश्चित होना था। बार्नेट के विवरण से यह पता नही चलता कि कोई पद क्रम निश्चित था, जिससे पौटलैक की उपलब्धि से लोग ऊपर नीचे जाते थे। उपहारो म असमानता देने वाले व्यक्ति की दृष्टि मे तुलनात्मक सामाजिक महत्ता का परिचायक था।[1]

मौस ने उपहारो के विनिमय का सिद्धान्त मुख्यतया कुला पौटलैक के आधार पर निर्मित किया था। उसी की पुस्तक अभी तक इस विषय का विस्तृत विवेचन मानी जाती है। यह पुस्तक सरल नही है। पौटलैक से मौस का तात्पर्य उपहार-विनिमय के उन तरीको से है, जो उत्तरी अमेरिकी सस्थाओ से काफी भिन्न हैं। उसके अनुसार असली या वास्तविक पौटलैक को एक नमूना माना जा सकता है, जिससे विभिन्न प्रकार की उपहार-विनिमय व्यवस्थाएँ कुछ कुछ भिन्न है। हम ऐसा भी समझ सकते हैं कि पौटलैक से ही ऐसी व्यवस्थाएँ विकसित हुई हैं। ओशिएनिया मे उसे एक रहस्यमय विश्वास का पता चला, जिसके अनुसार प्रदान की जाने वाली वस्तु की एक आत्मा होती है, जो घर वापस जाने के लिए उतावली रहती है। इस विश्वास से बाध्य होकर उपहार पाने वाला प्रतिदान देता है। मौस का कहना है कि यह धारणा सभी आदिम जातियो म पाई जाती है। फर्थ ने यह दिखलाया है कि मौस माओरी तथ्यो का गलत अर्थ लगा रहा है।

मौस की शैली इतनी जटिल, सक्षिप्त और दुरूह है कि अनुवाद के माध्यम से भी उसे समझना कठिन है। उपसहार के पृष्ठो म भी, जो विशेषज्ञो को ध्यान मे रखकर लिखे गए हैं, मौस एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन करता है। वह यह है कि विखण्डित समाजो मे स्वायत्त समूहो को एक सूत्र मे सम्बद्ध करन का एकमात्र माध्यम उपहारो का आदान-प्रदान है। बहुत दिन पहले टाइलर ने बतलाया था कि दूसरा तरीका बहिर्विवाह के नियमो पर आधारित विभिन्न समूहो के बीच अतर्विवाह है। लेवी स्ट्रॉस के सरचनात्मक मानवशास्त्री के सिद्धान्त क अनुसार सभी सामाजिक सम्बन्ध विनिमय के रूप हैं। वह इन दोनो सिद्धान्तो से प्रेरणा लेता है और कहता है कि स्त्रियो का विनिमय वस्तुओ के विनिमय के समान है। दोनो प्रकार के विनिमयो के सामाजिक पक्षो के लिए यह सत्य है। पर इस पर जोर केवल

1 *Lucy Mair*. op cit. p. 168-170.

सरल प्रविधि वाले समाजो मे दिया जा सकता है, क्योकि उन्ही के बीच विनिमय के सामाजिक पहलू उतने महत्त्वपूर्ण हैं, जितने आर्थिक पहलू।

मौस ने बतलाया कि बहुत से समाजो मे हम कुला और पौटलैंक के प्रततरूप पा सकते है। दक्षिणी नील घाटी की मडारी नामक जनजाति मे इन दोनो की विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसके विषय मे मौस के समय मे जानकारी प्राप्त नही थी। मडारी मुखिया अपने साथियो से बहुमूल्य उपहारो का आदान-प्रदान किसी खास क्रम से नही करते, जैसे कुला मे होता है या उसके लिए वृहत् तैयारी भी नही करते। यह आवश्यक भी नही है क्योकि उन्हे जमीन पर ही यात्रा करनी होती है। इस विनिमय से दोनो पक्षो मे न तो स्थायी मैत्री स्थापित होती है और न प्रतिद्वन्द्विता। यदि किसी मुखिया ने दूसरे के घर एक उत्तम हथियार देख लिया तो वह उसके घर अपने कुछ सेवको के साथ औपचारिक रूप से भोजन और तम्बाकू-जैसी नित्य व्यवहार मे आने वाली चीजो को लेकर जाता है और इनका वितरण करता है। साथ ही वह उस हथियार को माँगता है। बाद मे इसका प्रतिपादन लेने के लिए दूसरी यात्रा की जाती है। यहाँ बराबरी का हिसाब करने का काम, देने वाले पर नही छोड़ा जाता। जो माँगे हुए उपहार को देने से इन्कार करता है, उसकी निन्दा होती है। वह भीरु समझा जाता है और सभी उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। इस तरह यहाँ पौटलैंक का सिद्धान्त लागू पाया जाता है। इस जाति मे ऐसा रिवाज है कि युवको की एक टोली पास के एक मुखिया के घर जाकर एक नाच प्रस्तुत करती है। इस बदले मे यह आशा की जाती है कि उन्हे उपहारो मे पुरस्कृत किया जाएगा। पहले साँड और भाले दिए जाते थे और अब साँड और द्रव्य दिया जाता है। यह कोई चुनौती नही है, क्योकि मुखिया और युवको मे कोई स्पर्धा नही होती। इसमे बिना माँगे एक सेवा के बदले मे उपहार देने का दायित्व उत्पन्न हो जाता है। उपहार देने से इन्कार करने पर मान हानि होती है।

मेलिनॉस्की एवं विनिमय सिद्धान्त
(Mal.nowski and Exchange Theory)

मानवशास्त्र मे विनिमय का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त मेलिनॉस्की ने ट्रोब्रियण्ड द्वीपो के अध्ययन के दौरान प्रस्तुत किया। आपने विनिमय व्यवस्था का विस्तृत विश्लेषण किया। इन द्वीपों के अध्ययन से प्राप्त सामग्री के आधार पर मेलिनॉस्की ने कुलरिंग (Kulring) नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कुलरिंग प्रमुखत नातेदारो या रिश्तेदारो या जनजाति का एक ऐसा वृत्त है, या चक्र है जिसमे विनिमय व्यवहार होता रहता है। विनिमय की प्रकृति आर्थिक अथवा सामाजिक हो सकती है, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि विनिमय के पीछे प्रमुख रूप से आर्थिक आवश्यकताओ की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक आवश्यकता अधिक सशक्त होती है। यहाँ हम थोड़ा विस्तार से मेलिनॉस्की द्वारा प्रस्तुत ट्रोब्रियण्ड द्वीप के जनजातियो के

कुलरिंग सिद्धान्त का उल्लेख करेंगे। मेलिनोस्की ने ट्रोब्रियड द्वीप की जनजातियों मे विनिमय व्यवस्था का प्रचलन मूलत निम्नांकित संस्थाओं मे पाया—[1]

(1) कूल (Kul)
(2) यूरी गुबू (Uri Gbu)
(3) गिम वली (Gimwali)
(4) पोकाला (Pokala)
(5) वसी (Vasi)
(6) सगली (Sagali)

ट्रोब्रियण्ड द्वीपवासियों की आदान प्रदान की यह व्यवस्था परस्परता और विनिमय पर निर्भर है। यह विनिमय त्यौहारों और उत्सवों मे विशेष रूप से देखा जाता है। यदि कोई व्यक्ति लम्बी समुद्री यात्रा पर जाता है, तब भी उसे भेंट मे वस्तुएँ दी जाती हैं। हम प्राय कहते हैं कि स्वजनो को व्यावसायिक सम्बन्धो मे नही जुडना चाहिए क्योंकि इसका परिणाम झगडा ही होता है। कुछ इससे आगे बढकर कहते हैं कि स्वजनो और मित्रो मे व्यवसाय हो ही नही सकता। इस धारणा के पीछे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम वस्तुओं की खरीद और बिक्री मे बढिया सौदा करना चाहते हैं और इसलिए इस सौदे मे स्वजनो और मित्रो को उलझाना नही चाहते।

दूसरी ओर, सभ्य समाजो मे भेंट विनिमय (Gift Exchange) होते हैं लेकिन इस विनिमय मे सौदा करने की अपेक्षा नही की जाती। शायद इसी भावना से ट्रोब्रियण्ड द्वीपो मे ऐसे गाँव भी जो हैं समुद्र के किनारे हैं और जिन्हे मछली मारने का अधिकार है, लेकिन भूमि पर अधिकार नही है। इन दो प्रकार के गाँवों मे वस्तुओं की परस्परता होती है। इस परस्परता मे वस्तुओं के दाम परिणामस्वरूप मे निश्चित होते हैं। विनिमय की यह व्यवस्था वसी (Vasi) कहलाती है। वसी मे गाँवो का एक समूह मछलियाँ देता है और इसके विनिमय मे दूसरा समूह खाद्य पदार्थ देता है। ट्रोब्रियण्ड द्वीप मे विनिमय की एक और संस्था कूल (Kul) है। कूल मे उन वस्तुओं का विनिमय होता है जो जीविका पदार्थों जैसे कि मछली और खाद्यान्नों मे से नही है वरन् संग्रहणीय वस्तुओं मे से है। संग्रहणीय वस्तुओं के कई प्रकार हैं। एक प्रकार मूल्यवान वस्तुओं का है जिसे मेलिनोस्की यूरी गुबू (Uri Gbu) कहते हैं क्योंकि कूल का सम्बन्ध स्थायी और मूल्यवान वस्तुओं से होता है सामान्य लोग विनिमय की इस विधि को नहीं अपनाते। मूल्यवान वस्तुओं मे गले के हार, अगूठी, हीरा आदि है। इन वस्तुओं का विनिमय व्यक्ति की सोपानिक स्थिति मे वृद्धि करता है। जब सामान्य वस्तुओं का (लेकिन खाने की वस्तुएँ नही) विनिमय होता है, तो इसे गिमवली (Gimwali) कहते हैं। इस विनिमय में सौदेबाजी होती है, कम ज्यादा की

1 डॉ. शम्भू लाल दोषी : पूर्वोक्त, पृष्ठ 184.

खीचातानी होती है। गिमवली आधुनिक बाजार की सौदेबाजी की तरह है। पाकाला विनिमय विधि स्वजनो म होता है। पितृ व धुम्रो मे भेंट विनिमय पाकाला (Pokala) नाम से जाना जाता है। यूरी गुवू विनिमय विधि वह है जिसमे जीजाजी को वष मे एक बार खाद्यान्न की भेंट की जाती है। विनिमय का यह प्रकार भी स्वजन व्यवस्था पर निभर है।

मेलिनास्की के विनिमय सिद्धा त की व्याख्या करते हुए टनर दि स्ट्रक्चर ग्राफ साश्योलोजिकल थ्योरी से कहते हैं—

मेलिनास्की ने विनिमय सिद्धा त को उपयोगितावादी सीमित परिवेश से मुक्त कर दिया। ऐसा करने मे उ होने व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाम्रो ग्रौर सामाजिक एकीकरण तथा सुदृढता दोनो के लिए प्रतीकात्मक विनिमय के महत्त्व को स्थापित किया।[1]

इस भाँति मेलिनास्की के विनिमय सिद्धा त मे दो सदर्भ मुख्यतया स्पष्ट है—(1) मनोवज्ञानिक सदश ग्रौर (2) सास्कृतिक तथा सरचनात्मक सदर्श।

लेवी स्ट्रॉस एव विनिमय सिद्धान्त
(Levi Strauss and Exchange Theory)

मानवशास्त्र मे ब धुत्व व्यवस्था या स्वजन व्यवस्था के विश्लेषण मे विनिमय का जो रूप हमे दिखाई देता है एव जो सर्वाधिक प्रचलित है वह लवी स्टास का है। लेवी स्ट्रास ने 1949 मे प्रकाशित ग्रपनी प्रमुख कृति दी एलीमेन्ट्री स्टक्चर ग्राफ किन्शिप मे ग्रपने विनिमय सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना की है। स्टास मूल मे सरचनावादी है एव उ होने सरचनात्मक प्रारूप (Structural Model) भी विनिमय सिद्धा त के ग्राधार पर ही तैयार किया है। लवी स्टास ने फ जर की विनिमय की उपयोगितावादी ग्रवधारणा की ग्रालोचना की एव वे मेलिनास्की के व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को भी स्वीकार नही करते। इस दृष्टि से उनका सिद्धान्त मेलिनास्की एव फ जर के सिद्धान्तो से ग्रधिक महत्त्वपूरा है। लवी स्ट्रास का कहना था कि जनजाति समाजो के लोछा वस्त्र विनिमय ग्रवश्य करते हैं परन्तु ग्रनाज या मछली का पत्नी या बेटी का विनिमय यह सब बेमानी है। मूल बात यह है कि वे विनिमय करते हैं। स्ट्रास के शब्दो मे विनिमय महत्त्वपूरा है न कि विनिमय की जाने वाली वस्तु।

इस प्रकार स्टास ने ग्रपनी उपयुक्त प्राक्ल्पना के बाद विनिमय सिद्धान्त को सरचना के सन्दर्भ मे प्रस्तत किया एव कहा कि विवाह व्यवस्था का जो स्वरूप हम जनजातियों मे दिखाई देता है वह मूलत विनिमय पर ग्राधारित है। लेवी स्ट्रास के विनिमय सिद्धा त के तीन मुरय बि दु हैं—

1 *Jon than H Turner* The Structure of Soc olog cal Theory

(1) विनिमय व्यवहार मे, चाहे वह वस्तु या मनुष्य का हो, व्यक्ति को कुछ न कुछ दाम चुकाना ही पडता है। इसके इस दाम चुकाने का कारण समाज होता है। समाज के रीति रिवाज, नियम, उपनियम होते हैं। समाज को य शक्तियाँ व्यक्ति को बाध्य करती हैं और व्यक्ति विनिमय करने को तैयार हो जाता है। ऐसा करने मे लाभ हानि का हिसाब किताब नही किया जाता है। फुफेरे-ममेरे भाई-बहन का विवाह होना ही है। इस सन्दर्भ मे विनिमय व्यवहार सौदेबाजी से मुक्त होता है।

(2) समाज मे वे सभी वस्तुएँ जो न्यूनतम और सीमित होती है चाहे पत्नी हो या प्रतिष्ठा, समाज के मानक और मूल्यो द्वारा नियमित की जाती है। वे वस्तुएँ जो अपार है, अधिकतम हैं। उन पर समाज का नियमन नही होता।

(3) विनिमय जैसा कि स्वय सिद्ध है, एक तरफा नही होता। इस व्यवहार मे पारस्परिकता होती है।

इस प्रकार हम देखते है कि सामाजिक मानवशास्त्रियो ने मुख्यत बन्धुत्व एव विवाह के पारस्परिक सम्बन्धो मे विनिमय का उल्लेख किया है वही धीरे-धीरे मानवशास्त्र ने समाजशास्त्रीय विनिमय सिद्धान्त से प्रभावित होकर सम्पूर्ण मानव व्यवहार को विनिमय की परिधि मे रखा जा सकता है।

सहबन्ध अथवा सश्रय
(Alliance)

सामाजिक मानवशास्त्र मे बन्धुत्व व्यवस्था (Kinship) के महत्व से नकारा नही जा सकता। इसी बन्धुत्व व्यवस्था के भीतर सन् 1950 के आसपास सामाजिक मानवशास्त्र मे सहबन्ध अथवा सश्रय सिद्धान्त का उल्लेख किया है। सहबन्ध सिद्धान्त मूलत प्रसिद्ध समाजशास्त्री इमाईल दुर्खीम (Emile Durkheim) के जैविक सिद्धान्त पर आधारित है। दुर्खीम ने बताया कि किसी भी आदिम जनजाति के विभिन्न गौत्र अपने अस्तित्व को बनाए रखते हुए भी उस जनजाति म पाए जाने वाले अन्य गौत्रो के साथ परस्पर सम्बन्धित होते हैं। दूसरे शब्दो मे विभिन्न गौत्रो मे पारस्परिक अन्तर्निर्भरता पाई जाती है। यह अन्तर्निर्भरता एक गौत्र से दूसरे गौत्र से विवाह, सामाजिक सहवास आदि अन्य अवसरो पर स्पष्टतः देखी जा सकती है। वे जनजातियाँ जो द्विअशक या बहुअशक होती है विवाह सम्बन्धो के द्वारा एक सूत्र मे बँध जाते हैं। इस प्रकार गौत्रो मे पाए जाने वाले समस्त प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध गौत्रों को आपस मे सयुक्त करने वाले होते हैं।

दुर्खीम से पहले हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने सावयव शब्द का प्रयोग किया था एव उन्होने सावयव का आशय उपयोगितावादियो के अर्थ मे लिया जबकि इमाईल दुर्खीम वस्तुत प्रत्यक्षवादी थे एव वे सामाजिक सरचना मे

एक प्रकार के वैज्ञानिक नियम को देखना चाहते थे। उनका कहना था कि समाज के विभिन्न अग जाति, बन्धुत्व, अर्थव्यवस्था धर्म शरीर या अवयव के विभिन्न अगों की तरह हैं। एक अग दूसरे अगो और इस अर्थ मे सम्पूर्ण अवयव से जुडा हुआ है। एक का कार्य दूसरे अगो के कार्यो पर निर्भर है। समाज की सरचना भी कुछ इसी तरह की है। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठते हैं—समाज के विभिन्न अगो को जोडने वाले कौनसे से तत्त्व हैं ? वे कौन-सी शक्तियाँ हैं जो समाज को एक सूत्र मे बाँधे रखती हैं ? यहाँ दुर्खीम का कार्मिक सिद्धान्त अपनी विशेषता रखता है। वे सामान्य नैतिक मूल्यो को व्यवहार के साथ जोडते हैं। नैतिक मूल्य ऐसी शक्तियाँ है जो सम्पूर्ण समाज को एक ढाँचे के रूप मे बाँधे रहती हैं। इसके लिए सामूहिक चेतना की अवधारणा काम मे लाते हैं। इसे परिभाषित करते हुए दुर्खीम कहते है—"वे सवेग और विश्वास जिन्हे सामान्यतया सभी स्वीकार करते हैं, सामूहिक चेतना हैं।"

सामूहिक चेतना (Collective Conscious) ऐसी सीमेण्ट है, जो समाज मे कायिक सुदृढता स्थापित करती है। औद्योगिक समाज मे यह एकता सविदा व्यवहार द्वारा स्थापित की जाती है। इस भाँति दुर्खीम ने सबसे पहली बार सरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम द्वारा यह स्थापित किया कि आदिम समाजों मे सहबन्ध विधि द्वारा समाज के विभिन्न अग एक-दूसरे से जुड जाते हैं। किसी भी समुदाय के विभिन्न गौत्र होते हैं। ये गौत्र या तो यौन सम्बन्धो या वंशानुक्रम सम्बन्धो द्वारा सहबन्ध स्थापित करते हैं। इस भाँति सहबन्ध स्थापित करने के सामान्यतया दो सकेत है— विवाह और प्रजनन।

इमाईल दुर्खीम के इन विचारो मे सहबन्ध एव बन्धुत्व के क्षेत्र मे अनेक प्रारम्भिक मानवशास्त्रियो ने शोध कार्य किया। इनमे प्रमुख रूप से रेडक्लिफ ब्राउन एव मेलिनॉस्की तथा मेलिनॉस्की के अनुयायियो ने अपने सरचनात्मक सिद्धान्त को सशोधित करके आगे बढाया। इस सरचनात्मक सिद्धान्त के समर्थको मे फ्राइड ईगन का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। सरचनात्मक अवधारणा को ही बाद मे प्रसिद्ध मानवशास्त्री फोर्ट्रीश एव कैथलीन गफ ने बन्धुत्व व्यवस्था के अध्ययन मे इसका प्रयोग कर इसे अधिक उपयुक्त बनाया। सन् 1925 मे मार्शल मौस ने भी इस दिशा मे प्रशसनीय प्रयास किया एव उन्होने यह प्राकल्पना प्रस्तुत की कि आदिवासियो मे एकता स्थापित करने का मुख्य कार्य सहबन्ध या सथय द्वारा होता है। मौस का दृष्टिकोण भी मूलतः सरचनात्मक ही है।

मार्शल मौस की इस प्राकल्पना को आगे बढाने मे प्रसिद्ध मानवशास्त्री लेवी स्ट्रास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्ट्रास ने 1949 मे बन्धुत्व के सहबन्ध सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया। स्ट्रास का कहना था कि प्रत्येक जनजाति मे अनेक खण्ड होते हैं। इन खण्डों में विवाह सम्बन्धी व्यवहार का विनिमय होता है। इन खण्डो मे लडकियाँ विवाह मे दी जाती हैं और ली भी

जाती है। स्ट्रास के अनुसार विवाह के इस आदान प्रदान के दो रूप हैं— (अ) एक परिवार के समूह का दूसरे समूह से लड़की लेना या देना तथा (ब) सीमित विनिमय जिसमें कुछ बन्धु समूहों के साथ ही विवाह सम्बन्ध रखना। अपने कुछ रिश्तेदारों के साथ विवाह सम्बन्ध रखना। अपने कुछ रिश्तेदारों के साथ विवाह सम्बन्ध पसन्द किया जाता है। ऐसे विवाह सम्बन्धों को अधिमान्य विवाह कहते हैं। स्ट्रास ने अधिमान्य विवाह का विशेष रूप से अध्ययन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सहबन्ध सिद्धान्तों में मूलतः इस बात की जाँच की जाती है कि किस प्रकार जनजातियों में विवाह विनिमय के द्वारा एक जनजाति अपनी एकता को बनाए रखने में समर्थ होती है। जनजाति में पाए जाने वाले विभिन्न अंग मूलतः विवाह सम्बन्ध द्वारा ही परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होते हैं एवं इन खण्डों में विवाह विनिमय के सम्बन्ध होते हैं। उनकी प्रकृति प्रकार्यात्मक एवं पारस्परिकता की होती है। जनजाति का एक समूह या गोत्र अपने में से लड़कियों को विवाह में देता है एवं दूसरे समूह से लड़कियों को विवाह में लेता है। इस प्रकार यह एक प्रकार की विनिमय व्यवस्था है वहीं दूसरी ओर यह सहबन्ध या सश्रय सम्बन्ध भी है। ऐसे समूह आपस में लड़कियों का लेनदेन ही नहीं करते अपितु उनमें एक प्रकार का प्राकृत्व सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे परस्पर विवाह सम्बन्धी हो जाते हैं।

मौस का कहना है कि जनजातियों में सामाजिक पारस्परिकता होती है। सामान्यतया जनजाति में आर्थिक अर्थ में विनिमय बहुत कम होता है। उनमें वास्तव में सामाजिक विनिमय होता है। सामाजिक विनिमय में मनोरंजन, संस्कार, स्त्रियाँ, नाच-गाने और दावतें होती हैं। त्यौहारों के दिनों में या विवाह के अवसर पर जनजाति के ये समूह भेंट आदि द्वारा आदान प्रदान करते हैं। वास्तव में जनजातियों की संस्थाओं की प्रकृति ऐसी होती है जिसके अनुसार वस्तुओं की अदला-बदली होती है। उदाहरण के लिए एक जाति में कुछ समूह ऐसे होते हैं जो पत्नी देने वाले होते हैं, और कुछ ऐसे जो पत्नी प्राप्त करने वाले।

लेवी स्ट्रास ने मैत्री बन्धुत्व पर उल्लेखनीय कार्य किया है। उनका कहना है कि अगम्यगमन का सिद्धान्त सभी समाजों में पाया जाता है। इसके अनुसार कोई भी आदमी अपने निकट के बान्धव में से विवाह के लिए स्त्री प्राप्त नहीं कर सकता। इन स्त्रियों को उसे दूसरे लोगों की पत्नी बनने के लिए छोड़ देना पड़ता है और वह स्वयं दूसरे लोगों से स्त्रियों को पत्नी के रूप में प्राप्त करता है। विवाह का यह बन्धुत्व समरक्तता के सिद्धान्त से एकदम पृथक् है और इसलिए बन्धुत्व व्यवस्था का आधारभूत सिद्धान्त है। इस अर्थ में स्ट्रास विवाह को मुख्यतया एक विनिमय की प्रक्रिया मानते हैं, जिससे एक आदमी अपने समूहों से पृथक् समूहों से पत्नी ग्रहण करता है। प्रत्येक समूह में विवाह के इस विनिमय के लिए

सामाजिक व्यवस्था होती है जिसे स्ट्रॉस प्राथमिक सरचना कहते हैं। बन्धुत्व व्यवस्था मे वशानुक्रम, उत्तराधिकार, निवास आदि सम्मिलित हैं और जब स्त्रियो का आदान प्रदान होता है, तो इसमे इन सब बातो पर भी ध्यान दिया जाता है। स्ट्रास ने स्त्रियो के विवाह के इस आदान-प्रदान के तीन प्रकार बताए हैं। पहला आदान-प्रदान ममेरे-चचेरे भाई बहिन के विवाह का है। इसमे विवाह साथी एक ही समय मे माता के भाई का बच्चा है और दूसरी ओर पिता की बहिन का बच्चा है। इस प्रकार के विवाह दो समूहो को आत्म-निर्भर इकाई बनाते हैं और स्ट्रॉस ऐसे समूहो को बन्द या सीमित विनिमय करने वाले समूह कहते हैं। इस सीमित विनिमय के विपरीत एक दूसरा प्रकार वे बताते है जो मातृवशीय है। मातृवशीय समूह मे एक आदमी अपनी माँ के भाई की लडकी से विवाह करता है और तीसरे समूह को लडकी देता है और इस भाँति विवाह म लड़कियो का आदान-प्रदान चलता रहता है। विनिमय के इस प्रकार को वे सामान्यीकृत विनिमय कहते हैं। स्ट्रॉस के अनुसार विनिमय का एक तीसरा प्रकार भी है जो पितृवंशीय समूहो मे पाया जाता है। ऐसे समूहो मे विनिमय का जो स्वरूप मिलता है वह 'बन्द' (Closed) और 'सामान्यीकृत' (Generalised) विनिमय का मिला-जुला रूप है।

लेवी स्ट्रॉस के विनिमय सिद्धान्त मे लीच और नीधम ने बाद मे चलकर कुछ सशोधन किया है। लेकिन फिर भी आज यह सिद्धान्त बन्धुत्व व्यवस्था विश्लेषण मे बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

वंशानुक्रम
(Descent)

बन्धुत्व के अथवा नातेदारी के सहबन्ध सिद्धान्तो के बिल्कुल विपरीत वशानुक्रम सिद्धान्त (Descent Theories) पाए जाते हैं। वशानुक्रम सिद्धान्त बन्धुत्व एव वशानुक्रम मूलत एक ही शब्द नही है, वस्तुत इन दोनो म स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। वशानुक्रम सिद्धान्त जैसा कि फोर्टिस ने लिखा है "एकानवयिक वशानुक्रम समूहो के अध्ययन व निरूपण पर जोर डालता है।" इस सिद्धान्त के अनुसार समाज पृथक्-पृथक् खण्डो से बना हुआ है एव ये खण्ड अपनी आन्तरिक एकता के कारण अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं। ये सब खण्ड समाज की आन्तरिक सुदृढता द्वारा एक सूत्र मे बन्धे रहते हैं। बन्धुत्व का वशानुक्रम सिद्धान्त मुख्यतया उस आधार सामग्री पर बना है जिसे सामाजिक मानवशास्त्रियों ने अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की जनजातियो के अध्ययन से प्राप्त किया है।

वंशानुक्रम (Descent) और सहबन्ध सिद्धान्त (Alliance) एक दूसरे से पृथक् नही देखे जा सकते। ये सिद्धान्त समाज की जटिलता से जुड़े हुए हैं। यदि हम वशानुक्रम और सहबन्ध सिद्धान्त को देखते हैं, तो हमे इन्हे समाज की प्रकृति और सस्कृति, सामाजिक सरचना की प्रकृति, विवाह के नियम, विवाह के सिद्धान्त आदि के सन्दर्भ मे देखना पड़ेगा। यहाँ यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि बन्धुत्व

के इन सिद्धान्तों ने सामाजिक संरचना के विश्लेषण को आज अधिक सशक्त कर दिया है।

वंशानुक्रम शब्द का अर्थ उन मान्यता प्राप्त सामाजिक सम्बन्धों से है जिन्हें एक व्यक्ति अपने पूर्वजनों के साथ जोड़ता है और पूर्वज वह है जिसकी वह सन्तान है। किसी भी व्यक्ति के वंशानुक्रम को या तो उसके पिता के परिवार से या माता के परिवार से या दोनों से गिना जाता है। जब एक व्यक्ति का वंश उसके पिता के नाम से गिना जाता है, तो इसे पितृवंशीय वंशानुक्रम (Patrilineal Descent) कहते हैं। जब वंश को व्यक्ति की माता की ओर से गिना जाता है तो इसे मातृवंशीय वंशानुक्रम (Matrilineal Descent) कहते हैं। वंशानुक्रम की इस व्यवस्था को एकपक्षीय वंशानुक्रम व्यवस्था (Unilineal Descent) कहते हैं। कुछ लेखक पितृवंशीय स्थान पर पैतृक बन्धु वंशानुक्रम का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार मातृवंशीय के स्थान पर वे मातृक वंशानुक्रम काम में लाते हैं। अपवाद रूप में कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिन्हें उभयवंशीय भी कहते हैं। यहाँ यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि वंशानुक्रम समूह उन सभी व्यक्तियों से बना है जो अपना उद्गम एक ही पूर्वज से मानते हैं तथा इस समूह में केवल वे लोग नहीं हैं जो विवाह सम्बन्धी बान्धव हैं। कभी-कभी काल्पनिक जैविक सम्बन्धों को भी स्वीकार किया जाता है। धर्म के आधार पर भी जैविक सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं। हम बोलचाल की भाषा में प्राय धर्म का भाई या धर्म की बहिन की चर्चा करते हैं।

वंशानुक्रम बन्धुत्व को और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। प्रत्येक समाज में पुरुष और स्त्री में शारीरिक बनावट को लेकर अन्तर हो जाता है। यह उस बनावट के कारण ही है कि स्त्री बच्चे का प्रजनन करती है। पुरुष और स्त्री में विवाह द्वारा यौन सम्बन्ध होते हैं। इस तरह पहला बन्धुत्व तो पुरुष का उस स्त्री से है जिससे वह विवाह करता है। इस प्रकार के सम्बन्ध को विवाह बन्धुत्व कहते हैं।

पति पत्नी से जो सन्तान उत्पन्न होती है उस सन्तान का अपने माता-पिता से जो सम्बन्ध है उसे वंशानुक्रम कहते हैं। इस परिवार में जब दूसरी सन्तान का जन्म होता है, तो एक नए प्रकार से वंशानुक्रम सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। अब ये दोनों बच्चे अपनी उत्पत्ति अपने माता-पिता से मानते हैं। अब इन बच्चों का अपने माता पिता के साथ जो सम्बन्ध है, उसे बन्धुत्व व्यवस्था में वंशानुक्रम सम्बन्ध कहा जाता है। वंशानुक्रम सम्बन्ध के अतिरिक्त यहाँ हमें एक और सम्बन्ध भी मिलता है। परिवार के दोनों बच्चे आपस में भी सम्बन्धी हैं। या तो वे भाई-भाई हैं, बहिन-बहिन या भाई-बहिन। बच्चों के पारस्परिक सम्बन्ध को हमें बन्धुत्व व्यवस्था में समपार्श्व स्वजन (Collateral Kin) कहते हैं। इस विवेचन का अर्थ यह हुआ कि एक ही माता-पिता के बच्चे एक ही वंशानुक्रम के हिस्सेदार या

साझेदार होते हैं लेकिन वे परस्पर एक दूसरे के लिए वशानुक्रम स्वजन नहीं है। वे तो केवल भाई बन्धु अर्थात् समपार्श्व स्वजन है।

इस प्रकार बोलचाल की भाषा मे वशानुक्रम सम्बन्ध और समपार्श्व स्वजन को हम एक रक्त सम्बन्धी के नाम से पुकारते हैं। दोनो प्रकार के सम्बन्धी बान्धवो का एक मे ही समावेश करने वाला यह शब्द बहुत उपयोगी है। बन्धुत्व व्यवस्था म इन दोनो प्रकार के सम्बन्धियो को समरक्त स्वजन (Consanguine Kin) कहते हैं।

यदि हम अपने सभी समरक्त स्वजनो की गिनती करना चाहे, तो इसका यह उपाय है कि हम किन लोगो को अपना स्वजन समझते हैं और इसके उत्तर में जो स्वजन हमे मिलें, उन्हे हम स्वजनो के वर्गीकरण मे रख दें। इस प्रकार का कार्य सबसे पहले मोरगन ने किया था। उन्होने स्वजनो का विवरण देकर उनका वर्गीकरण कर दिया। मोरगन ने बताया कि वे व्यक्ति जिन्हे हम पिता, माता, भाई, बहिन आदि नाम से पुकारते हैं, उन्हे दूसरे व्यक्ति भी इसी नाम स पुकार सकते है। इस प्रकार के सभी व्यक्ति जो रक्त से सम्बन्धित हैं उन्हे पितृ बन्धु या मातृ-बन्धु कहते है और वे जो विवाह से सम्बन्धित है, विवाह सम्बन्धी कहलाते हैं।

वंशानुक्रम समूह और उत्तराधिकार के विश्लेषण मे एक और पद का प्रयाग भी होता है जिसे सम्मिलित समूह (Corporate Group) कहते हैं। इस समूह मे वे सभी लोग होते हैं जिनका एक ही वशानुक्रम होता है, जो वश की सम्पत्ति को एक पीढी से दूसरी पीढी तक धारण करते रहते हैं। इस प्रकार के सम्मिलित समूह जो अपना वशानुक्रम किसी प्रसव से जोडते है पितृवशीय या पैतृक-बन्धु कहलाते है। अग्रेजी के इस शब्द पैट्रिलिनियल (Patrilineal) का प्रयोग रोमवासियो न किया था। रोम मे वशानुक्रम को स्त्री से नही देखा जाता था। ऐस समूह जिनम एक बच्चे के साथ वशानुक्रम की कडी से जोडी जाती है, मातृवशीय या बन्धु कहते है। अग्रेजी का शब्द 'यूटेराइन' (Uterine) लेटिन भाषा का है जिसका अर्थ 'स्त्री वशानुक्रम' होता है।

वशानुक्रम के आधार पर बना हुआ सम्मिलित समूह तकनीकी भाषा म वश (Lineage) कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति वशीय है, तो इससे उत्पन्न हुई सन्तान पिता के वश मे जोडी जाती है। पिता के माध्यम से ऐसे पुत्र का वश के उत्पादन साधनो पर अधिकार होना है, चाहे ये उत्पादन साधन भूमि हो, पशु हो, या कोई छोटा-बडा व्यवसाय हो। पुत्र इन उत्पादन साधनो से अपना जीविकोपार्जन करता है। ऐसी अवस्था मे पुत्र क लिए वश के वयस्क व्यक्तियो की आज्ञा मानना आवश्यक है। यदि वश के साधनो मे कोई बँटवारा होना है, तो इसे वश के अन्य सदस्यो की सलाह से किया जाता है।

मातृ वशानुक्रम समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपना सम्बन्ध माँ के वश से रखता है। वश की सम्पत्ति पर अधिकार ऐसे समाजो मे माता का होता है। ऐसे

कुछ अपवाद मिले है जहाँ मातृवंशीय परिवारो से सम्पत्ति पर माता का अधिकार नही होता। उदाहरण के लिए घाना की अशान्ति-जाति म यद्यपि स्त्रियो को बडे आदर के साथ देखा जाता है तथापि वश की सम्पत्ति पर उसका अधिकार नही होता। ऐसी स्थिति मे निर्णायक बन्धु माँ का सबसे बडा भाई होता है।

कभी-कभी किसी समाज मे ऐसा भी होता है कि सभी पैतृक बन्धु एक ही स्थान पर एक-दूसरे के निकट रहते हैं। ऐसी स्थिति मे वश और स्थानीय समूह मे कोई अन्तर नही रहता। यहाँ दैनिक जीवन की आवश्यकताओ को लेकर वशानुक्रम समूहो मे बडा सहयोग देखने को मिलता है। बुवाई और कटाई, फसल के उतार-चढाव म सम्मिलित समूह के लोग बड सहायक सिद्ध होते हैं।

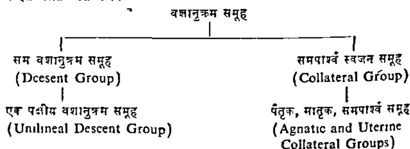
सम्मिलित समूह वस्तुत वशानुक्रम समूह की अवधारणा को लेकर मानवशास्त्री एक मत नही हैं। कुछ मानवशास्त्री वशानुक्रम समूह तथा वशानुक्रमण मे अन्तर करते हैं। इस अन्तर पर फोर्टिस ने सबसे अधिक जोर दिया है। उनके अनुसार एक व्यक्ति का अपने माता-पिता से जो सम्बन्ध है, वह वशानुक्रम है और व्यक्ति का अपने माता-पिता से ऊपर पितामह, पर पितामह और इनसे भी ऊपर वाले पूर्वजनो की वशरेखा से जो सम्बन्ध है, वह वशानुक्रम समूह है। फोर्टिस की इस बात को लीच (Leach) ने दोहराते हुए कहा है कि यदि हम वशानुक्रम शब्द का प्रयोग पूर्वजनो की कई पीढियो तक नही करत तो यह प्रयोग बेमतलब है। वशानुक्रम के लिए माता या पिता से ऊपर कई पीढियो को देखा जाता है। इसी तरह यदि वशावली की खोज मे एक पीढी म हम पितामह को देखते हैं, और दूसरी पीढी मे हम परदादी को रखते हैं, तो यह वशानुक्रम समूह नही कहलाएगा। वशानुक्रम समूह के लिए एकपक्षीय होना आवश्यक है।

फोर्टिस और लीच ने वशज समूह क कुछ और लक्षण भी दिए हैं जिनसे यह वशानुक्रम से भिन्न हो जाता है। वशानुक्रम समूह वास्तव मे एक सतत् समूह है जो वसीयत मे सम्पत्ति को लेना तथा देना है। इस समूह का दूसरा लक्षण यह है कि इसम सदस्य का वश की सम्पत्ति पर बराबर अधिकार रहता है चाहे वह कही भी निवास करता हो। सामान्यतया वशानुक्रम सदस्य एक-दूसरे के निकट रहते हैं। लेकिन यह आदर्श स्थिति है। आज एक ही वशानुक्रम समूह के सदस्य भिन्न भिन्न स्थानो पर रहते है। एक ही वशानुक्रम समूह के सदस्य जो बहुत निकट रहते हैं, लीच उन्हे स्थानीय वशानुक्रम समूह (Local Descent Group) कहते हैं।

वशानुक्रम समूह तथा वशानुक्रमण म अन्तर पीढियो की गहराई को लेकर है। इस अन्तर के होते हुए भी सभी सामाजिक मानवशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि वश एक वशानुक्रम समूह है। पितृवंशीय समाजो म वश की एकता सामान्यतया बहुत गहराई मे होती है। लोग अपने वशानुक्रम स्वजनो की कई पीढियों तक याद रखते हैं। दूसरी ओर उत्तरी घाना म तेलेन्सी जनजाति के लोग 14 पीढियों तक के पूर्वजनो को याद रखते हैं यद्यपि सामान्यतया पाँच पीढी से ऊपर क पूर्वजनो को लोग याद नही रख पाते।

वशानुक्रम समूह के दो पहलू हैं। इस समूह मे वे लोग हैं जो अपने वश का विकास अपने से ऊपर की पीढियो के साथ जोडते है। दूसरे पहले मे एक ही वश के सदस्य आपस मे भाई बहिन हैं। इस सम्बन्ध पर आधारित स्वजनो का वशानुक्रम स्वजन कहते हैं। वशानुक्रम स्वजन विवाह समूह से एक अर्थ मे बहुत भिन्न है। विवाह का उद्देश्य यौन सम्बन्धी गतिविधि पर नियन्त्रण रखना तथा प्रजनन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाना होता है। वशानुक्रम समूह कार्य अपनी वर्तमान पीढी को सांस्कृतिक व्यवहार प्रदान करना तथा समाजीकरण करना होना है। हमने देखा है कि विवाह तथा वशानुक्रम समूह के कार्यों मे जैविक कड़ियां हैं जो सदस्यो को एक सूत्र मे बाँधे रखती है। वशानुक्रम स्वजनो मे ऐसी कोई जैविक कडी नही होती जो सदस्यो को बाँधे रखे। इस अन्तर के कारण विभिन्न समाजो मे वशानुक्रम स्वजनो के सम्बन्धो मे बडा अन्तर देखने को मिलता है।

इस भाँति वशानुक्रम समूह वह समूह है जिसमे लोगो की सदस्यता स्वत जन्म से होती है, जिसमें वश का नाम एकपक्षीय, मातृ या पितृ होता है, और जो अपनी इस परम्परा को सतत् बनाए रखता है। यह सततता उत्तराधिकार और वसीयत की परम्परा से बनी रहती है। इस समूह के दो रूप हैं एक रूप वह है जिसमे सम्बन्धो का आधार वशानुक्रम न होकर एक वश की सन्तान होना है। यह समूह समपार्श्व स्वजन समूह (Collateral Group) कहा जाता है। इसे हम चित्र मे इस भाँति व्यक्त करेंगे[1]—



इस प्रकार हम देखते हैं कि बन्धुत्व के सिद्धान्त से वशानुक्रम का सिद्धान्त अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है।

पिछले 20 वर्षों म सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र मे सामाजिक सरचना के सिद्धान्त के रूप में एकपक्षीय वशानुक्रम एक अत्यन्त उपयोगी अवधारणा माना जाता है। इस सिद्धान्त पर निर्मित समाजो के बहुत से रोचक अध्ययन हुए हैं। पर विद्यार्थियो को यह नही समझना चाहिए कि यह सभी सरल समाजों की विशेषता है। बहुत से ऐसे समाज हैं, जहाँ एक पक्षीय वशानुक्रम प्रचलित नहीं है।[2]

1 डॉ शम्भूलाल दोषी : पूर्वोक्त, पृ. 159-61
2 *Lucy Mair*. op cit, p 67

वशानुक्रम और वशानुक्रम समूह का प्रयोग किस प्रकार हो, इनमे मानवशास्त्री एकमत नही है। वशानुक्रम और पितृत्व मे विभेद पर फोर्टिस ने जोर दिया है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति का अपने माता-पिता से सम्बन्ध पितृत्व है। अपने पूर्वजो के साथ ही उसके सम्बन्ध को वशानुक्रम कहा जा सकता है। काप के अनुसार दादा-दादी किसी व्यक्ति के निकटतम सम्बन्धी हैं। लीच ने भी ऐसा ही कहा है कि जब तक हम माता-पिता मे से एक ही पक्ष से रिश्ता नही जोडते, तब तक वशानुक्रम की चर्चा निरर्थक है। यदि लोग एक पीढी मे अपनी माता और दूसरी मे पिता को पूर्वज बताते है तो यह एकपक्षीय सम्बन्ध नही हुआ। रिवर्स ने 1907 मे 'ब्रिटिश एसोसिएशन' के समक्ष बन्धुत्व के अध्ययन सम्बन्धी कुछ परिभाषाएँ रखी। उसके अनुसार वशानुक्रम का तात्पर्य ऐसे समूह से है, "जिसकी सदस्यता जन्मजात है, जहाँ लोग यह निश्चित कर सकते हैं कि वे माता पिता मे से किस पक्ष मे हैं। ऐसे समूह नही मिलते, जो समय बीतने के साथ भी विशिष्टता कायम रखते है। यह स्थिति असम्भव या असुविधाजनक नही है।" बहुत से समाज इसी प्रकार सगठित हैं। पर रिवर्स और अब कैंब्रिज के कुछ मानवशास्त्रियो के अनुसार वही विशिष्ट समूह, वशानुक्रम समूह कहा जा सकता है, जो एक खास सिद्धान्त पर जन्म से अपनी सदस्यता निर्धारित करता है। एक ही सिद्धान्त को मान्यता दी जा सकती है और वह है एकपक्षीय सिद्धान्त।

सम्पत्ति एव पद सम्बन्धी अधिकार
(Inheritance and Succession)

आदिम समाजो का यदि हम गम्भीरता से अध्ययन करें तो हमे पता लगेगा कि समाज, सस्कृति एव सामाजिक संरचना की दृष्टि से वे विभिन्न चरणो पर हैं। कुछ आदिम जनजातियाँ जो औद्योगीकरण के कारण मानव सभ्यता के अधिक निकट आ गई है, उनकी सामाजिक सरचना मे बडा अन्तर आ गया है। दूसरी ओर वे समूह हैं जो आज भी सुदूर जगलो मे रहते हैं। उनकी सामाजिक सरचना यथावत् है एव उसमे कोई गम्भीर परिवर्तन नही हुआ। अतः इन समूहो के सम्पत्ति एव पद सम्बन्धी अधिकार या दूसरे शब्दो मे उत्तराधिकार एव पदोत्ताराधिकार तथा वसीयत की परम्पराएँ एक जैसी नहीं हैं। फिर भी मोटे रूप मे इन सामाजिक संस्थाओ को आदिम समाजो मे देखा जा सकता है। इसके देखने का एक परिप्रेक्ष्य वश परम्परा हो सकती है, जिसका उल्लेख हमने पिछले पृष्ठो मे किया है। ये वश हैं—पितृ और मातृ। लेकिन ऐसी जनजातियाँ भी हैं जो उभयवशीय हैं। उभयवशीय आदिम समाजो के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अभी बहुत अधूरा है। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर रहने वाली अशान्ति जनजाति मे वसीयत की पद्धति बडी विचित्र है और रुचिकर है। इस जनजाति के परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति को दो भागो मे बाँट दिया जाता है—(1) भौतिक और (2) आध्यात्मिक। इस जनजाति मे हमे व्यक्ति को वश का नाम उसके गोत्र से मिलता है तथा

सम्पत्ति, भूमि सक्षेप म सम्पूर्ण उत्तराधिकार माता से मिलता है। अपने पिता से उसे यत मे आध्यात्मिक धन (टोरो) जिसमे आत्मा, स्वास्थ्य, शक्ति और सफलता सम्मिलित है, प्राप्त होता है। यह एक प्रकार की उभयपक्षीय वसीयत है।

किसी भी प्रकार की वसीयत का या उत्तराधिकार के प्रकार का सम्बन्ध वस्तुतः परिवार की प्रकृति पर निर्भर है। ऐसे आदिम समाज भी हैं, जिनमे वसीयत का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही है। परिवार की सम्पत्ति या धन का स्थानान्तरण एक वश या दोना वशो से होता है, जबकि परिवार के अधिकारो म बडा अन्तर देखने को मिलता है। यदि किसी परिवार की परम्परा सामन्ती है तो अपने वशजो के लिए यह शायद सबसे बडी वसीयत है। जीवन प्रारम्भ करने के लिए परिवार का बडा नाम ही उत्तराधिकार मे प्राप्त होना एक महती प्राप्ति है। इस सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक पुरुष या स्त्री अपनी सन्तान को वसीयत मे क्या देती है, यह उस समाज की परम्परा पर निर्भर है जिसका वह सदस्य है। अमेरिका की उत्तर-पश्चिमी कुछ जनजातियो मे उदाहरण के लिए, सहोदर बहिर्विवाह प्रथा (Sib Exogamy) है। इसके अनुसार सहोदर स्वजनो मे विवाह सम्बन्ध नही होते। इसके लिए ये जनजातियाँ कुछ तर्क देती हैं कहती हैं कि दूसरे एक वशीय परिवार से जो धनाढ्य है लडकी लाना बढिया वसीयत है। इसी भौगोलिक क्षेत्र मे रहने वाली कुछ अन्य जनजातियाँ हैं जो सहोदर अन्तर्विवाह प्रथा (Sub Endogamy) का परिपालन करती है। इनका तर्क दूसरा है। यदि वसीयत सहोदरो म ही होती है तो पूँजी और प्रतिष्ठा का विकेन्द्रीकरण नही होता। वसीयत की यह परम्परा आने वाली पीढियो को एक सुन्दर भविष्य प्रदान करती है। यह तर्क या धारणा इन जनजातियो मे इतनी मज्बूत घर कर गई कि कुछ प्रतिष्ठित परिवारो को विवाह मे समान परिवार अपने सहोदरो मे नही मिलते और इसके परिणामस्वरूप उन्हें बाध्य होकर अपने ही भाई बहिनो से विवाह करना पडता है। मिश्र के कुछ शाही परिवारो म किसी जमाने मे वसीयत की यही परम्परा थी।

एक और विभिन्नता है। रेचार्ड (Gladus A Reichard) न अफ्रीका के काँगो क्षेत्र मे पाए जाने वाले अभिजात वर्गों (Elite) का उल्लख किया है। इसम एक अभिजात की धनाढ्य वसीयत की वस्तु नहीं होती। इसम अभिजात प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए मातृवशीय वशानुक्रम की परम्परा को बनाए रखा है। राजा इस बात के लिए बाध्य है कि वह किसी भी आम स्त्री से विवाह करे। इस विवाह से उत्पन्न सन्तानो को राजा की सम्पत्ति की वसीयत नहीं मिलती। वे सामान्य नागरिक की तरह जीवन बिताते हैं। यह एक आकस्मिक बात होगी यदि इन सन्तानों मे से कोई एक या सभी अभिजात स्थिति को प्राप्त कर सकें। दूसरी ओर राजकुमारी के लिए यह आवश्यक है कि वह आम आदमी से विवाह तो करेगी लेकिन उसकी सन्तान को वसीयत मे जो राजकुमारी का है, सब मिलेगा।

ये जनजातियाँ वसीयत की इस स्थिति का स्पष्टीकरण करती हैं। कहती हैं कि सभी राजकुमारियाँ राजा की बहिनें हैं और इसलिए राजा किसी भी राजकुमारी से विवाह नहीं कर सकता। कोई भी राजकुमारी हो, राजा की तो बहिन ही है। अतः राजा के लिए कांगो क्षेत्र में विवाह में राजकुमारी नहीं मिल सकती, चाहे वह किसी भी राजा की लड़की क्यों न हो। रेचार्ड द्वारा दिया गया यह दृष्टान्त बहुत अच्छी तरह से बताया है कि किस भाँति कुछ आदिम समाजों में बहिर्विवाह के वृत्त को इस तरह से बढ़ा दिया है कि इसमें सभी अभिजात सहोदर सम्मिलित हो जाते हैं। इसमें चाहे वास्तविक रक्त सम्बन्धी हो या न हो।

अफ्रीका के देशों में कुछ ऐसी जनजातियाँ भी हैं जिनमें वसीयत का कोई प्रश्न पैदा ही नहीं होता। जब एक परिवार का मुखिया मर जाता है तो उसके साथ साथ उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति भी नष्ट कर दी जाती है। न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। इन समाजों में वसीयत की कोई समस्या नहीं होती। दूसरी ओर इन्हीं समाजों में वसीयत के दूसरे प्रकार बराबर काम करते हैं। मछली मारने के समुद्र में अधिकार, चरागाह के अधिकार तथा इसी तरह प्राकृतिक सम्पदाओं के प्रयोग के जो अधिकार एक परिवार को होते हैं, वसीयत में सन्तानों को प्राप्त होते हैं।

मातृवंशीय परिवारों में वसीयत और उत्तराधिकार की परम्परा पितृवंशीय परिवारों से भिन्न होती है। इस परिवार में वंश की वसीयत माता के नाम पर चलती है। माता की सम्पत्ति पुत्रियों को मिलती है। लेकिन सामाजिक व्यवस्था किसी भी समाज में पूरी तरह सुचारू रूप से नहीं चलती ट्रोब्रियण्ड जनजाति में कई बार एक पिता के सामने भूमिका संघर्ष उत्पन्न होता है। वह अपने पुत्र से प्रेम करता है। कई बार पुत्र-प्रेम इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वह अपनी परम्परागत भूमिका को भूल जाता है। पिता के साथ जादू-टोने के जो भी रहस्य हैं, उन्हें उसे अपनी बहिन के लड़के को देना चाहिए। वह ऐसा नहीं करता और इन रहस्यों को अपने स्वयं के लड़के को वसीयत के रूप में दे देता है। यह मानक तोड़ना हुआ। ट्रोब्रियण्ड वासी ऐसा मानते हैं कि जादू-टोना अपने आप में सम्पूर्ण वस्तु है जिसे विभाजित नहीं किया जा सकता है। ऐसा नहीं हो सकता कि आधा जादू अपने प्यारे पुत्र को दे दिया जाए और आधा अपने बहिन के पुत्र को। जादू तो एक है, उसे आधा नहीं किया जा सकता। यदि पिता अपने प्यारे पुत्र को जादू सिखाता है तो उसकी बहिन का पुत्र इसका विरोध करेगा, निन्दा करेगा, उत्तराधिकार या वसीयत का यह भी एक प्रकार है।

अफ्रीका की जनजातियों में वंश परम्परा, वसीयत एवं उत्तराधिकार सम्बन्धित जो अनुसन्धान हाल में हुए हैं, उनके आधार पर निम्न बिन्दु स्पष्ट रूप से हमारे सामने आते हैं—

(1) वंश परम्परा पितृवंशीय, मातृवंशीय या उभयवंशीय हो सकती है। प्रत्येक वंश की परम्परा पृथक् होती है।

(2) वसीयत मे भौतिक या अभौतिक वस्तुएँ हो सकती हैं। भौतिक वस्तुओं मे भूमि उत्पादन सामग्रियां, मकान और अन्य वस्तुएँ होती हैं। अभौतिक वस्तुओं म जादू टोना या दस्तकारी का विशेष कौशल हो सकता है।

(3) प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग जो स्थानीय भौगोलिक क्षेत्र म परिवार को प्राप्त होता है उसके प्रयोग का उत्तराधिकार।

इस प्रकार उत्तराधिकार का सम्बन्ध परिवार से भी है और सम्पत्ति नामक सस्था से भी है। लेकिन उत्तराधिकार का अध्ययन परिवार के सन्दर्भ मे करना अधिक तर्कपूर्ण महसूस होता है। उत्तराधिकार का सरल अर्थ होता है—कर्त्ता के मरने के बाद उसकी सम्पत्ति का मालिक कौन बनेगा। इस सम्बन्ध मे दो प्रकार की प्रणालियां सर्वविदित हैं—पितृसत्तात्मक परिवार प्रणाली मे पुत्र उत्तराधिकारी होता है और मातृसत्तात्मक परिवार मे पुत्री उत्तराधिकारिणी बनती है। सरलतम दृष्टि से हम मातृमार्गी एव पितृमार्गी उत्तराधिकार मान सकते हैं।[1] लेकिन उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे हमे कुछ जटिलताएँ भी देखने को मिलती हैं।

उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे जो एक सरल दृष्टिकोण है उसके अनुसार केवल मृत्यु के बाद पुत्र अथवा पुत्री को हस्तान्तरण के रूप मे सम्पत्ति प्राप्त करना है। लकिन तथ्य तो यह है कि उत्तराधिकार का अभिप्राय केवल सम्पत्ति के मालिक होने से नहीं है, बल्कि जो कोई (पुरुष अथवा स्त्री) अपने पिता-माता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति का अधिकारी होता है तो उसका उत्तराधिकार केवल सम्पत्ति के स्वामित्व तक ही सीमित नहीं है, उस अमुक भौतिक वस्तु के साथ और अनेक पक्ष हैं जैसे स्थिति एवं कार्य। उस सम्पत्ति को हमे एक सांस्कृतिक एव सामाजिक परिवेश मे देखना होगा। मान लें कि आदिम समाज मे एक प्रधान या मुखिया की मृत्यु होती है तो उसका पुत्र केवल अपने पिता की सम्पत्ति का ही उत्तराधिकारी नहीं बनेगा बल्कि उसके पिता का जो पद था, उसके साथ जो अधिकार एव कर्त्तव्य जुड़ा हुआ था, उन सब का उत्तराधिकारी भी वही बनगा।

हॉबेल[2] ने उत्तराधिकार के नियम को सस्कृति सिद्धान्त (Culture Theory) के अन्तर्गत ही विश्लेषण करने को सार्थक माना है। उत्तराधिकार का अर्थ केवल सम्पत्ति का सक्रमण न होकर 'प्रस्थितियों' का भी सक्रमण है। हॉबेल ने रेडक्लिफ ब्राउन के विचारों को उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—"सामान्यतया कुछ अपवादों को छोड कर, सम्पत्ति सक्रमण उसी मार्ग का अनुसरण करता है जिसका कि पद सक्रमण करता है।"

यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि विद्वान् लोगो ने अब पद या प्रस्थिति के सक्रमण (Succession) और सम्पत्ति के उत्तराधिकार को अवधारणा की दृष्टि से अलग-अलग प्रयुक्त कर दिया है। सामान्य रूप मे रिवर्स के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम पद सक्रमण (Succession) और सम्पत्ति

1 *Murdock* : op cit., pp 37-9, 59, 328
2 *Hoebel* : op. cit., pp 457-58.

उत्तराधिकार में भेद स्थापित किया।[1] रिवर्स[2] ने सम्पत्ति सचार के लिए 'उत्तराधिकार' शब्द का प्रयोग किया है और 'पद सचरण' के लिए पदोत्तराधिकार शब्द का प्रयोग किया गया है। पदोत्तराधिकार भी दोनो प्रकार का होता है—जब एक पुरुष अपने पिता का पदोत्तराधिकारी बनता है तो वह पदोत्तराधिकार पितृवशीय कहलाता है। जब पदोत्तराधिकार माता के माध्यम से हो तो वह मातृवशीय कहलाएगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मैंने इन दो प्रकार के पदोत्तराधिकारो के सन्दर्भ मे कुछ भिन्न भाषा का प्रयोग किया है। मैंने कहा है कि एक पुरुष अपने पिता का पदोत्तराधिकारी बनता है, परन्तु पदोत्तराधिकार माता के माध्यम से होता है। यह शब्दावली इसलिए प्रयुक्त की गई है कि मातृवशीय पदोत्तराधिकार मे यह अपवादात्मक ही होता है कि एक व्यक्ति अपनी माता से सम्पत्ति या पदवी का अधिकारी बने और यही नियम सम्पत्ति के उत्तराधिकार मे लागू होता है। सामान्यत उसे सम्पत्ति या पदवी का उत्तराधिकार अपनी माता के भाई से प्राप्त होता है और यह उन कतिपय प्रमुख कार्यों मे से एक है जो मातृवशीय व्यवस्थाओ मे इस सम्बन्धी (अर्थात् माता के भाई) के कर्त्तव्यो मे माने जाते हैं।

रिवर्स[3] ने कहा है कि, "मातृवशी सम्पत्ति उत्तराधिकार और पदोत्तराधिकार का अन्य लक्षण ध्यान देने योग्य है। सम्पत्ति के स्वामी अथवा पदधारी पुरुष की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति या पदवी का उत्तराधिकार बहुधा आयु के अनुसार उसके छोटे भाई को जाता है और अन्तिम भाई की मृत्यु के बाद ही सम्पत्ति का उत्तराधिकार या पदोत्तराधिकार पितृ अधिकार के साथ भी होता है, और जब ऐसा घटित होता है तो इसे पितृ-अधिकार और मातृ-अधिकार के बीच की एक अन्तर्वर्ती प्रक्रिया माना जा सकता है।"

रिवर्स[4] ने मातृ-अधिकार के और उदाहरणस्वरूप कहा है कि "सम्पूर्ण मातृ-अधिकार का एक उत्तम उदाहरण असम की खासी जाति का है। सम्पूर्ण मातृ अधिकार के अन्य उदाहरण सुमात्रा मे मिलते हैं, जहाँ हम उस चरम स्थिति को पाते है जिसमे पति अपनी पत्नी के साथ नही रहता है। वह (पत्नी) अपने भाइयो के साथ रहती है और केवल यदा कदा उसका पति उसके घर आ जाता है। वशक्रम, सम्पत्ति उत्तराधिकार तथा पदोत्तराधिकारी सभी मातृ-वशिक होते है। तथापि सम्पत्ति और पदवी बहन की सन्तान को मिलने के पूर्व भाइयो द्वारा उपभोग की जाती है।"

आदिम समाज की आर्थिक गतिविधियो का अध्ययन हम अलग से करेंगे। सम्पत्ति और उत्तराधिकार से सम्बन्धित कुछ और प्रचलन हैं, जैसे–(i) श्रेष्ठाधिकार (Primogeniture) और (ii) कनिष्ठाधिकार (Junior Right or Ultimogeniture) कहा जाता है।

1 *Mair* : op cit, pp. 29, 73, 74, 76, 93, 02, 192.
2—4 *Rivers* : op. cit., pp. 71–73.

(1) श्रेष्ठाधिकार (Primogeniture)

सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि कर्त्ता के बाद दूसरा अधिकारी सबमे बडा पुत्र होना है। होबेल[1] कहते हैं कि भूमि सम्पत्ति के हस्तान्तरण से भी अधिक जा महत्त्वपूर्ण पक्ष है, वह है पद अथवा मुखियागीरी का हस्तान्तरण। गुणात्मक एव पदमूलक हस्तान्तरण का उदाहरण पोलीनेशिया और न्यूजीलैण्ड के मारियो समाज मे पाया जाना है। औपनिवेशिक विस्तार के लिए श्रेष्ठाधिकार ने एक प्रबल शक्ति का काय किया है क्योकि जिन समाजो के सम्बन्ध मे कहा गया है, वहाँ यह प्रचलन था कि बडा पुत्र तो मिलकियत (Estate) का मालिक होता और छोटो स कहा जाता कि अब अपने वास्ते अलग से प्रयास करके सम्पत्ति जमा करो। इस प्रचलन के दो लाभ थे–प्रथम पारिवारिक विभाजन को होने से बचाया जाता था दूसरा छोटे पुत्रो को अपने पाँव पर खडा होने के लिए बाध्य किया जाता था। आदिम समाज जिनम श्रेष्ठाधिकार का प्रचलन रहा है उन्होने प्रथम लाभ को अवश्य ही स्वीकार किया है लेकिन दूसरे लाभ के अनुसार छोटे पुत्रो को निष्कासित कर दिया जाता था। *शायद यह विचार उनके चिन्तनक्रम मे कोई स्थान नही रखता था।* आज भी पाश्चात्य देशो मे 'श्रेष्ठाधिकार' की लोकप्रियता अधिक नही है।

रिवर्स[2] महोदय ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि मैलेनेशिया मे निश्चयात्मक रूप से, और ससार के अन्य भागो मे सम्भाव्य रूप से यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र का उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे कोई विशेष अधिकार प्राप्त नही है, तो भी वह ऐसे विशेष आनुष्ठानिक समारोह का अधिकारी होता है जो उत्तरवर्ती सन्तानो के लिए नही हुआ करते हैं। इस विश्वास का कारण यह है कि ससार के कुछ भागो मे इन प्रथाओ को लोगो की पुनर्जन्म मे आस्था से सयोजित किया जा सकता है। यह विश्वास कि पिता की प्रेतात्मा अथवा बहुश, पितामह की प्रेतात्मा ज्येष्ठ बालक मे प्रविष्ट होकर पुनजन्म लेगी, ज्येष्ठ पुत्र के प्रति विशेष व्यवहार का कारण बन जाता है।"

मर्डाक[3] महोदय कहते हैं कि अगर ज्येष्ठाधिकार का स्थान विभिन्न पुत्रों मे सम्पत्ति (Estate) बटन म ले लें तो 'नवस्थानिक परिवारो' (Neo-local Family) की सख्या मे वृद्धि हो सकती है।

(2) कनिष्ठ अधिकार
(Junior Right or Ultimogeniture)

कुछ आदिम समाज हैं जिनमे एकदम विपरीत प्रचलन देखने को मिलता है।[4] कनिष्ठ अधिकार के अनुसार छोटे पुत्र को सम्पत्ति का बडा भाग मिलता है। भारत, एशिया और अफ्रीका के कुछ समाजो के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि बडा भाई

1 *Hoebel* op cit, p 461 62
2 *Rivers* op cit, pp 100-1
3 *Murdock* op cit, p 204
4 *Hoebel* op cit, p 462

अपना घर पशु एवं घरेलू सामानो से बसा लेता है और उसके विवाह मे भी परिवार कुछ खर्च करता है। इसलिए पिता की मृत्यु के बाद जो कुछ बच जाता है वह छोटे पुत्र का हिस्सा होना चाहिए क्योंकि सबसे छोटे होने के कारण यह सम्भावना है कि उसे अपना घर बसाने मे अधिक कठिनाई हो।

रिवर्स[1] महोदय ने भी यह स्वीकार किया है कि कुछ आदिम समाजो मे यह प्रचलन है जिससे कि सबसे छोटा पुत्र प्रमुख अधिकारी बनता है। रिवर्स कहते हैं कि "हमारी अपनी बारो-इगलिश की प्रथा इसी का एक उदाहरण है। किन्हीं स्थितियो मे इसका एक लक्षण इस प्रथा की उत्पत्ति का सकेत करता है। कभी-कभी ऐसा नियम होता है कि सबसे छोटे पुत्र को आवास का उत्तराधिकार प्राप्त होता है, जबकि अन्य प्रकार की सम्पत्ति ज्येष्ठ भ्राताओ को दी जाती है या सबमे विभाजित हो जाती है। यह व्यवहार उस प्रथा का परिणाम प्रतीत होता है जिसके द्वारा जैसे-जैसे पुत्रगणो का विवाह होता जाता है, वह अपनी निजी गृहस्थी बसाते जाते है, यहाँ तक कि जब पिता मरता है तो केवल सबसे छोटा पुत्र ही घर मे रहता है।"

भारतीय जनजातियाँ और वसीयत तथा उत्तराधिकार
(Indian Tribes and Inheritance and Succession)

भारतीय जनजातियो को जो सम्पूर्ण जनसख्या मे लगभग 7 प्रतिशत है, एक ही सजातीय श्रेणी मे नही रखा जा सकता है। यदि सांस्कृतिक सामाजिक श्रेणियो मे रखा जाए तो ये जनजातियाँ सैकडो की सख्या मे पहुँच जाएंगी। लेकिन स्थानीयता या भौगोलिक दृष्टि से इन जनजातियो को दो भागो मे रखा जा सकता है। एक वे जनजाति समूह हैं जो सीमान्त क्षेत्र मे रहते हैं। इनमे नागा, मीजो, गारो और खासी जनजातियाँ मुख्य हैं। ये जनजाति समूह राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। दूसरे जनजाति समूह वे हैं जो देश के आन्तरिक अचलो म पाए जाने वाले जनजातीय समूह सीमान्त समूहो की तरह विकास के विभिन्न स्तरो पर हैं। इन समूहो मे जैसा कि प्रोफेसर जी एस घुरिये (Prof G S Ghurye) कहते हैं, अधिकांश जनजातियो ने सामाजिक परिवर्तन के सघर्ष को जीत लिया है। इससे उनका तात्पर्य यह है कि ये समूह हिन्दू सामाजिक सरचना के अन्तर्गत आ गए हैं। वे जनजातियाँ जो हिन्दुओ के सम्पर्क मे है उनकी वसीयत और उत्तराधिकार की समस्याएँ परिवर्तन के परिणाम से उत्पन्न समस्याएँ हैं। सच मे देखा जाए तो न केवल वसीयत, वश परम्परा और उत्तराधिकार के क्षेत्र मे वरन् सम्पूर्ण सामाजिक सरचना के क्षेत्र मे ये समूह सामाजिक परिवर्तन और उससे उत्पन्न सघर्षो से पीडित हैं।

भारतीय जनजातियो की वसीयत व्यवस्था को समझने से पहले उनकी पारिवारिक तथा आर्थिक सरचना को ध्यान मे रखना आवश्यक है। इसके अभाव

1 *Rivers : op cit.*, p 100.

म वसीयत सम्बन्धी यह विश्लपण अधूरा रहगा। आदिवासी समाज म परिवारों के सामान्यतया तीन स्वरूप पाए जाते हैं। बहुपति परिवार, बहुपत्नी परिवार और एक पति पत्नी परिवार। इन तीनों प्रकारो मे कही भी हिन्दुओ जैसी संयुक्त परिवार व्यवस्था नही पाई जाती। जब बडा लडका विवाह कर लेता है तो वह अपने पिता से पृथक रहना आरम्भ कर देता है। यह पृथकता परिवार से जुदा रहने की है। खेती-बाडी म वह भूमि का कुछ भाग जो उसे दे दिया जाता है उसे जोतता है। इस भांति लडके के विवाह के बाद पिता से पृथक् रहकर जीविकोपार्जन करना प्रारम्भ कर देते हैं। सबसे छोटा लड़का पिता के साथ रहता है। उसे पिता का मकान वसीयत मे मिलता है। भारत के आदिवासियो ने कृषि को अपने मुख्य व्यवसाय के रूप म अपना लिया है। ऐसी अवस्था म सबसे बडी समस्या भूमि के बँटवारे की है। सामान्यतया आदिवासियो के पास बहुत थोडी भूमि कृषि योग्य होती है। औसत कोई चार पाँच बीघा आती है। इतनी भूमि के बँटवारे मे कोई कठिनाई नहीं आती। माल-असबाब या अचल सम्पत्ति आदिवासी के पास नाममात्र की होती है। उसके बँटवारे का प्रश्न भी कोई जटिलता पैदा नही करता। यदि कभी कोई विवाद उत्पन्न भी होता है तो उसका निदान आदिवासी पचायत मे हो जाता है। यह अपवाद ही होगा कि कभी कोई आदिवासी अदालत मे जाए। भूमि के बँटवारे की आदिवासी परम्परा आज विकास कार्यों म सहयोगी नही है। राज्य द्वारा स्वीकृत भूमि पट्टेदारी व्यवस्था म राज्य भूमि के स्वामित्व के अधिकार का पट्टा देती है। एक आदिवासी जिसके नाम यह पट्टा होता है, भूमि का वितरण अनौपचारिक रूप से अपने पुत्रो म कर देता है लेकिन औपचारिक रूप से सरकारी रिकार्ड म वह भूमि उसी के नाम रहती है। वह सरकार म बँटवारे सम्बन्धित सशोधना को नही रखता। कभी-कभी तो यहाँ तक होता है कि पिता मर जाता है फिर भी भूमि उसी के पट्टे पर चलती है। यह अनौपचारिक लेकिन परम्परागत व्यवस्था आज भूमि पर साख लेन मे सहायक नहीं होती। खाद, सीमेण्ट आदि कुछ ऐसी आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति ऋण द्वारा की जा सकती है। लेकिन जब तक कृषक की पृथक् पट्टेदारी नहीं होती है, वहाँ ऐसा कोई ऋण बैंक या राज्य से प्राप्त नहीं कर सकता। आज के विकास कार्यों के सन्दर्भ म आदिवासियो की यह उत्तराधिकार व्यवस्था अनुपयुक्त कही जानी चाहिए।

गरीबी मे सबसे बडा बँटवारा ऋण का होना है। आदिवासी चाहे किसी भी अचल का हो, उसकी अर्थव्यवस्था ऋण की अर्थव्यवस्था है। उसे सामाजिक कार्यों को पूरा करने के लिए ऋण की आवश्यकता होती है। फसल बिगड जाने पर वह जीविकोपार्जन के लिए ऋण लेता है। कभी कभार उसे विकास कार्यों के लिए भी ऋण की आवश्यकता होती है। आदिवासी किसान की गरीबी के बारे में बहुत कुछ कहा जाता है। लेकिन एक बात बराबर देखने को मिलती है कि जब आदिवासी ऋण लेता है तो वह उसकी अदायगी अवश्य करता है। चाहे इस

ऋण के लिए कोई लिखावट हो या न हो। ऐसी सरचना मे आदिवासी यह चाहता है कि उसकी आने वाली पीढ़ी कर्ज की अदायगी अवश्य करे। वे लडके जो पिता की भूमि के उत्तराधिकारी होते है उनमे अपेक्षित है कि वे पिता के कर्जे को चुकाएँ। किसी भी आदिवासी वसीयत का यह एक बहुत बडा भाग है।

वसीयत केवल भौतिक वस्तुओ की ही नही होती। जब तक पिता जीवित रहता है वह स्वजनो के प्रति जन्म, विवाह, मृत्यु और त्योहारो पर परम्परागत आदान-प्रदान करता है। राखी पर लडकी को आमन्त्रित करना, विवाह या मृत्यु के अवसर पर भेंट देना आदि सामाजिक सस्कार हैं। उसे इनका परिपालन भी करना पडता है। उसकी मृत्यु के बाद प्रत्येक लडका अपने-अपने स्तर पर इन सस्कारो का पालन करता है। इस सम्बन्ध मे सबसे बडे लडके का उत्तरदायित्व अधिक होता है। सामाजिक वसीयत के ऐसे मसले प्राय आदिवासी पचायत मे नही जाते। यह एक ऐसी सामाजिक विनिमय व्यवस्था है जिसका आधार समूह न होकर व्यक्ति होता है। भीलो मे यह अपेक्षित है कि अपने स्वजन की मृत्यु पर भेट रूप मे कुछ खाद्यान्न दिया जाए या विवाह के मौके पर एक निश्चित धनराशि नौत मे दी जाए। यदि कोई आदिवासी ऐसे मौको पर अपना कर्त्तव्य पूरा नही करता, तो वह आदिवासी विनिमय व्यवस्था को तोडता है। इसका उसे केवल यही दण्ड दिया जाता है कि जब उसके यहाँ ऐसे अवसर आते हैं तो उसे भी भेंट नही प्राप्त होती। पिता का जो उत्तराधिकारी है, उसके लिए यह कोई सामाजिक बाध्यता नही है यदि कोई बाध्यता है तो केवल व्यक्तिगत।

प्राकृतिक सम्पदा के प्रयोग के अधिकार आदिवासी परिवारो को होते हैं। जगल का एक निश्चित भाग और उसकी उपज कुछ परिवारो के लिए परम्परा से चली आती है। पिता की मृत्यु के बाद वसीयत मे प्राकृतिक सम्पदा का यह प्रयोग पिता की सभी सन्तानो को होता है। हिन्दुओ की तरह ऐसा नही होता कि केवल पिता का वारिस ही इन सम्पदाओ का हिस्सेदार बने।

आदिवासियो मे शक्ति का बँटवारा पैतृक हुआ करता है। एक आदिवासी मुखिया, रावत या गेमेती होता है। वह एक प्रकार का छोटा-मोटा सरदार या ठाकुर होता है। आजादी से पहले मुखिया की शक्ति बहुत बडी राजनीतिक शक्ति हुआ करती थी। उसकी आज्ञा के बिना किसी गैर-आदिवासी का गाँव मे प्रवेश करना सम्भव नही था। सरकारी अधिकारी जो इन गाँवो मे जाता था मुखिया का ही प्रनिधि होता था। गाँव के सभी कार्य उसी के नेतृत्व मे हुआ करते थे। आपसी विवादो का निपटारा भी वह कराया करता था। अब प्रजातान्त्रिक परिवर्तनो के बाद इस परम्परागत नेतृत्व का प्रभाव समाप्त हो गया है, या बहुत कमजोर पड गया है। लेकिन अब भी मुखिया का बडा लडका वसीयत मे मुखिया बनता है। मुखिया का यह स्थान वशानुक्रम मे बडे पुत्र को ही मिलता है।

आदिवासियो मे वसीयत का एक और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। आदिवासी परम्परा से आत्मवादी रहे हैं। वे भोपे के माध्यम से अपने पूर्वज या देवी-देवताओ

से सम्पर्क स्थापित करते हैं। सामान्यतया एक आदिवासी गाँव मे एक भोपा हुआ करता है। आपात् स्थिति मे गाँव के लोग भोपे के पास जाया करते हैं। वर्षा कब होगी, पशुओ मे फैली संक्रामक बिमारी कब समाप्त होगी, आदि कुछ सार्वजनिक समस्याएँ हैं जिन पर निवारणात्मक सुझाव भोपा देता है। भोपा की यह सत्ता वसीयत मे बड़े पुत्र को मिलती है। पिता भोपे की कार्य प्रणाली को अपने इस पुत्र को सिखाता है। यदि किन्ही परिस्थितियो मे बडा पुत्र अयोग्य हो तो यह वसीयत दूसरे पुत्र को प्राप्त होती है। किसी भी परिस्थिति मे यह मसला परिवार का है और पिता इसका निर्णय परम्परा के अनुसार करता है।

वसीयत या उत्तराधिकार सम्बन्धी मामलो का निर्णय सामान्यतया परिवार का मुखिया करता है। यदि परम्पराओ के निर्वहन मे कोई अन्तर हो तो स्वजनो को भी इस प्रक्रिया मे सम्मिलित कर लिया जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वसीयत सम्बन्धी समस्याओ का निदान अधिक से अधिक जनजाति पचायत तक पहुँचता है।

दत्तक पुत्र
(Adoption)

दुनिया के आदिवासियो मे कही भी दत्तक-व्यवस्था नही है। हमारे देश मे आदिवासी जो हिन्दुओ के सम्पर्क मे आए हैं, उनमे कहीं-कही पुत्र गोद लेने की परम्परा प्रारम्भ हुई है। हिन्दुओ में गोद लेने या दत्तक व्यवस्था के पीछे एक पूरा सिद्धान्त है। मोक्ष प्राप्ति के लिए पुत्र द्वारा पिण्ड-दान देना आवश्यक है। वश की परम्परा को बनाए रखना भी हिन्दुओ मे एक धार्मिक आवश्यकता है। इन्ही कुछ कारणों से हिन्दुओ मे यदि किसी परिवार मे पुत्र जन्म नही होता तो दत्तक पुत्र रखने की धार्मिक व्यवस्था है। आन्तरिक अचलो मे रहने वाले आदिवासी जो हिन्दू व्यवस्था से प्रभावित हैं, अपने भाई या निकट के स्वजनो के पुत्र को गोद रखते हैं। ऐसा करने मे आदिवासी किसी धार्मिक सिद्धान्त से प्रेरित हो, ऐसा नही लगता। उनकी सबसे बडी कठिनाई कृषि की देखभाल करना है। एक वृद्ध आदिवासी उन दोनो को देखता है जब वह काम करने योग्य नही रहेगा और उसके खेत खाली पडे रहेंगे। वृद्धावस्था के जीविकोपार्जन के लिए वह दत्तक व्यवस्था उपयोगी मानता है। इसके विकल्प मे देश की कुछ आदिम जातियाँ, सेवा विवाह परम्परा भी अपनाती हैं। घर जमाई व्यवस्था भी एक प्रकार से वसीयत के अभाव को पूरा करती है। मुखिया की मृत्यु के बाद घर जमाई औपचारिक रूप से परिवार का उत्तराधिकारी बन जाता है।

आदिम समाजों मे पाई जाने वाली वश परम्परा, वसीयत और उत्तराधिकार व्यवस्था का यदि कोई सरल विश्लेषण किया जाए तो कहना पड़ेगा वश परम्परा का आधार मातृ, पितृ या उभयपक्षीय होता है। वश परम्परा की प्रकृति के अनुसार वसीयत और उत्तराधिकार के मानक भी निश्चित होते हैं। मातृ परिवारो मे यह

वसीयत माता के नाम पर वश परम्परा चलती है। सम्पत्ति तथा आध्यात्मिक वसीयत माता से पुत्री को मिलती है। पितृवशीय परिवारो मे यह वसीयत पुत्र के नाम होती है। उभयवशीय परिवारो में उत्तराधिकार दोनों की ओर से होता है। जहां तक चल सम्पत्ति के अधिकार का प्रश्न है, आदिवासियो के पास सामान्यतया ऐसी सम्पत्ति नगण्य होती है। थोडी जमीन, शिकार के जगल या समुद्र का एक परम्परागत भाग और ऐसी ही कुछ वस्तुएँ जिन्हे वसीयत मे पिता पुत्र को या माता पुत्री को देते है। आधुनिकीकरण के प्रभाव से पितृवशीय परिवार न मातृवशीय बने है और न मातृवशीय पितृवशीय बने है। लेकिन वसीयत और उत्तराधिकार के क्षेत्र मे कुछ परिवतन आए हैं। वे आदिवासी जो ईसाई बन गए है, उन्होने सामान्यतया विदेशी मॉडल अपनाया है। इसके दृष्टान्त नागा, मीजो और गारो जनजातियाँ है। दूसरी ओर वे जनजातियाँ जो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित हैं, उन्होने हिन्दुओ की वश परम्परा, वसीयत और उत्तराधिकार व्यवस्था को अपनाया है।



3

आदिम राजनीतिक व्यवस्था

(Primitive Political System)

मानव समाज एक सामाजिक सगठन के रूप मे ससार मे पाए जाने वाले अन्य समाजो से निरन्तर प्रतिस्पर्धा करता रहता है चाहे वह समाज आदिम हो, ग्रामीण हो अथवा नगरीय हो। कोई भी समाज तब तक बना रहता है जब तक उसके सदस्य अपनी सगठनात्मक गतिविधियो के द्वारा अपनी आर्थिक, शारीरिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि आवश्यकताओ की पूर्ति करते रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक प्रकार के समाज मे किसी न किसी प्रकार का सगठन (Organization) एव व्यवस्था (System) अवश्य दिखाई देती है। इनमे से कुछ सगठन औपचारिक (Formal) हो सकते हैं जबकि कुछ अनौपचारिक (Informal) हो हो सकते हैं।

प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था मे राजनीतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए एक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था या राजनीतिक सगठन अवश्य पाया जाता है। राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत मूल मे हम समाज को नियन्त्रित करने वाली शक्तियो (Forces) को रखते हैं। दूसरे शब्दो मे राज्य या राजनीतिक सस्थाओ के पास शक्ति अथवा बल होते हैं एव इस शक्ति एव बल का प्रयोग राजनीतिक सस्थाएँ अपने राज्य के निवासियो पर सामाजिक नियन्त्रण एव व्यवस्था को बनाए रखने के लिए करती हैं।

इसी प्रकार राजनीतिक सस्थाओ के पास नियन्त्रण के लिए राजनीतिक बल का प्रयोग दो प्रमुख विधियो के द्वारा किया जाता है। इनमे से एक कानून (Law) के द्वारा होने वाला नियन्त्रण है, वही दूसरा युद्ध (War)। किसी भी समाज के लिए कानून एक बहुत बडी व्यवस्था है। *होम्स लिखते हैं 'यदि तुम्हारा* विषय कानून है तो मानवशास्त्र मे तुम्हारी सडक बहुत सीधी है क्योकि कानून का अध्ययन एक महान् मानवशास्त्री प्रयेत्न है।" दूसरी ओर युद्ध वह सगठित बल है जिसका प्रयोग राज्य, क्षेत्र एव सांस्कृतिक एकमतता को बनाए रखने के लिए किया जाता है।

का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार के उदाहरण आज से तीन सौ वर्ष पहले के दक्षिणी सूडान के नूग्रर (Nour) हैं। इस प्रकार के समाजो मे अगर किसी दूसरी जनजाति के व्यक्ति को कोई व्यक्ति घायल कर दे तो उस जनजाति के प्रत्येक व्यक्ति को उससे बदला लेने का अधिकार होता है। यह भी आवश्यक नही कि बदला उसी व्यक्ति से लिया जाए, बल्कि उसके किसी निकट सम्बन्धी की हत्या करके भी बदला ले सकता है। हत्या के बाद उन दोनो कुलांशो मे परस्पर भयकर रूप से सघर्ष की शुरूग्रात हो जाती है। इस स्थिति मे बहुत अधिक वैमनस्य ग्रा जाता है और इस स्थिति को ध्यान मे रखकर की गई हत्या को कुल वैर (Bloud Feud) कहा जाता है।[1] इस प्रकार के कुल वैर को दूर करने के उपाय भी क्षतिपूर्ति देने के रूप मे पाए जाते हैं। इवान्स प्रिटचार्ड के अनुसार क्षतिपूर्ति करना और उसे स्वीकार करना कानून की सत्ता का लक्षण है। नूग्रर जाति मे जहाँ-जहाँ ऐसे लक्षण पाए जाते हैं, इवान्स प्रिटचार्ड ने उसे जनजाति की सज्ञा दी है। जनजातियो मे होने वाले झगडे को युद्ध कहा जाता है। युद्ध मे कोई व्यक्ति अगर किसी की हत्या कर देता है, तो उसे कुछ अनुष्ठान करने होते हैं और यह माना जाता है कि इन्ही अनुष्ठानो से व उनके द्वारा होने वाले बुरे परिणामो से मुक्ति मिल जाती है। सामान्य कानून की सत्ता मानने के अर्थ मे हम नूग्रर जनजाति को एक राजनीतिक समुदाय कह सकते हैं। लेकिन सारी जाति मे एक भी ऐसा व्यक्ति नही मिल सकता, जिसका निश्चित दायित्व जाति के सार्वजनिक कार्यकलापो का समन्वय करना है।

जनजातीय समाजो मे राजनीतिक सत्ता को ग्रायु (Age) के ग्राधार पर प्रस्थिति (Status) देन मे उसकी जन्म की ग्रायु महत्त्वपूर्ण नही होती, बल्कि उसकी सामाजिक ग्रायु महत्त्वपूर्ण होती है। इस सामाजिक ग्रायु को प्राप्त करने के लिए उन्हे कुछ विशेष प्रकार की दीक्षाग्रो को पूर्ण करना होता है। यह (दीक्षा) उन समाजो मे भी पाई जाती है, जहाँ राजनीतिक कार्यों के लिए ग्रायु को महत्त्व नही दिया जाता। दीक्षा काल मे युवको को गाँव के सामान्य जन-जीवन से ग्रलग-ग्रलग रहना पडता है। तरह-तरह की यातनाग्रो के लिए ग्रपने ग्राप को तैयार करना होता है। दीक्षा काल की समाप्ति पर परीक्षा को उत्तीर्ण करना भी ग्रावश्यक हो जाता है। इस दीक्षा के पूर्ण हो जाने के उपरान्त ही उन्हे वयस्क माना जाता है। दीक्षा कई वर्षों की दूरी मे होती है। बीच के समय को 'वेदकाल' के नाम से पुकारा जाता है। दीक्षा लेने वाले विभिन्न वर्ग बन जाते हैं। प्रत्येक वर्ग को ग्रलग-ग्रलग नाम दिया जाता है। इससे उस जनजाति मे उस व्यक्ति को ग्रपनी प्रस्थिति का पता लग जाता है कि वह किससे बडा है और किससे छोटा।

पूर्वी ग्रफ्रीका की जनजातियो मे ग्रायु के ग्राधार पर ही योद्धाग्रो को ग्राक्रमण करने की एव सुरक्षा करने की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। किम स्थिति

1 मानवशास्त्रियों ने ग्रादिम राज्यों के लिए 'सामतवादी' (Feudal) शब्द का प्रयोग किया है। 'Feudal' एव 'Feud' मे काफी साम्यता है। 'Feud' की उत्पत्ति 'Foe' (शत्रु) से हुई है और 'Feudal' की 'Fee' (शुल्क) से।

पर रहना है इसका निर्णय उनके समूह के बुजुर्ग लोग करते हैं। पश्चिमी अफ्रीका की जनजातियों में आयु समूह और समितियाँ, जिनकी सदस्यता एच्छिक होती है, राज्यों तथा राज्यविहीन समाजों की राजनीतिक व्यवस्था में मिश्रित रूप में पाई जाती हैं।

आयु समूहों के आधार पर समाजों में राजनीतिक कार्यों का भार हम पूर्वी नाइजीरिया के क्रोस रिवर क्षेत्र के वासियों में देखते हैं। उमारे नामक गाँव की आबादी सन 1935 में 11,000 थी। वह चार टीलों में विभक्त थी। प्रत्येक टीला (300 से 600 घर) आयु समूहों में संगठित था। सार्वजनिक सेवाएँ इन्हीं समूहों में बँटी थी। जैसे दिन में जब सभी लोग खेत में काम करने चले जाते थे, उस समय घरों को आगजनी से बचाना, गाँव एवं खेत के बीच एवं गाँव एवं झरने के बीच की घास को साफ करना इस प्रकार की इन सेवाओं को कौन करेगा और किस आयु समूह के सदस्य करेंगे यह टीले का मुखिया निश्चित करता था।

आदिम राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए हमें दो तत्वों की विवेचना पूरी विस्तार से करनी होगी—

(1) आदिम समाजों में सरकार (Government in Primitive Societies)

(2) आदिम समाजों में कानून (Law in Primitive Societies)

(1) आदिम समाजों में सरकार

आदिम राज्य में औपचारिकता पर आधारित सरकार नहीं होती है। जैसा कि हम सभ्य समाजों में देखते हैं बहुत मोटे तौर पर कानून को क्रियान्वित करने के लिए बनाई गई संस्था को ही सरकार कहा जा सकता है। डी. एन. मजूमदार एवं टी. एन. मदान ने सरकार को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'सरकार कानून (Law) नामक संस्थात्मक क्रिया को सम्पादित करने वाली समिति को कहते हैं।'[1] सरकार तीन महत्त्वपूर्ण संस्थाओं, यथा कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका के द्वारा आधुनिक समाज में कार्य करती है। इसका कार्यक्षेत्र निश्चित भूभाग में होता है। जैसे जैसे समाज सरल से जटिल रूप में विकसित होता है वैसे वैसे इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित विभिन्न व्यवस्थाएँ भी विशेषीकरण को प्राप्त करती जाती हैं। अनेक संगठन नए सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनीतिक इत्यादि भी विशिष्ट संगठन में विकसित होते जाते हैं। जटिल समाज में सरकार ही राजनीतिक कार्यों की पूर्ति करती है। मजूमदार और मदान ने सरकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'पूरे समाज या इसके किन्हीं प्रतिनिधियों द्वारा सामाजिक प्रचलनों एवं कानूनों के समाज सम्मत प्रशासन की भूमिका का निर्वाह सरकार करती है लेकिन ये कार्य आदिम राज्य में सरकार के बिना ही पूरे होते हैं।"

इनके अनुसार सरकार में मुख्य चीज जनता या समाज है और उसी में से

1 Majumdar & Madan op cit., p 113

कुछ प्रतिनिधि व्यक्ति' समाज द्वारा बनाए गए कानून को चालित करने एवं उसे गति देने का कार्य करते है। कानून बिना सरकार के अपना कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि उसे (कानून को) समाज पर लागू तभी किया जा सकेगा, जबकि समाज मे एक शक्तिशाली सरकार होगी। सरकार द्वारा तीन प्रकार के कार्यों को किया जाता है—सांविधानिक, न्याय सम्बन्धी एवं प्रबन्धकारी कार्य। इन कार्यों को विशिष्ट राज्य के सन्दर्भ मे विशिष्ट रूप से समझा जाता है। तभी हम इनके अर्थ को पृथक् पृथक् सही रूप मे समझ सकेंगे। वैसे सामान्य रूप से अगर हम इनका अर्थ समझना चाहे तो हम कह सकते हैं कि सरकार के प्रथम पक्ष (सांविधानिक) का कार्य है कानूनो का निर्माण करना, सरकार को एक ढांचा प्रदान करना। जब सरकार का न्यायिक कार्य शुरू होता है, तो इसे हम इसका प्रकार्यात्मक ढांचा कह सकते हैं। इन दोनो कार्यों को सन्तुलित करने के लिए सरकार को एक कार्य और करना होता है वे ही उसके प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य कहलाते हैं। इन तीनो पक्षो को मिला देने से ही सरकार नाम की व्यवस्था हमारे समक्ष स्पष्ट होती है।

आदिम समाज मे जनमत (Public Opinion) और प्रथाएँ (Customs) इस कार्य को करती हैं। धर्म भी इस कार्य को करता है। मजूमदार और मदान ने कुछ ऐसे उदाहरण दिए है जिससे स्पष्ट होता है कि सरकार की कुछ विशेषताएँ आदिम समाज में भी हैं। इन्होने गोल्डन वीयर के विचार देते हुए लिखा है कि सिब या कुल (Clan) का एक पक्ष मूलभूतीयता होता है। भारत की जनजातियाँ या कुल हमेशा किसी भौगोलिक क्षेत्र से घनिष्ठतम रूप में सह-सम्बन्धित होते ही हैं।

विश्व की जनजातियो मे किसी न किसी प्रकार सरकार प्रचलन दिखाई देता है। उत्तरी अमेरिका की इण्डियन जनजाति मे जनतान्त्रिक विशेषताएँ मिलती है। अफ्रीका की जनजातियो मे भिन्न भिन्न प्रकार के शासन तन्त्र मिलते हैं जैसे—नेतृत्वविहीन घुमक्कड जनजातियाँ, सशक्त राजतन्त्रीय संस्थाओं वाली जनजातियाँ और राजाओं एवं सैनिकों के बीच बँटी सत्ता वाली जनजातियाँ। मजूमदार और मदान ने भिन्न भिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्था सरकार से सम्बन्धित बताई है।

मोर्गन, हेनरी मेन एवं अन्य मानवशास्त्रियो के अनुसार आदिम समाजो की व्यवस्था को परमाणुविक (Atomic) एवं व्यक्तिवादी मानते हैं और कहते हैं कि इन समाजो मे व्यक्ति को नातेदारी प्रथा (Kinship System) ही नियन्त्रित कर लेती है। अत इन समाजो म किसी भी प्रकार की सरकार की आवश्यकता नही है। वहाँ सरकार द्वारा किए जाने वाले कार्यों को वे आपस मे मिलकर कर डालते हैं। मोर्गन ने तो आदिम समाजो मे सरकार के प्रचलन को ही नकारा है और अपने उद्विकासीय सिद्धान्त मे भी राज्यतन्त्र को बहुत बाद मे स्थान दिया।

उन्होंने राज्यतन्त्र का सह सम्बन्ध प्रतिनिधि प्रकार की केन्द्रीय सरकार, लेखन के आविष्कार तथा ध्वन्यात्मक वर्णमाला के उपयोग, जिनका उद्विकास सभ्यता नामक सबसे बाद की अवस्था के दौरान हुआ, के साथ जोड़ा है। फिर भी,

गोल्डन वीजर एव ग्रन्य लेखको ने यह बताने की कोशिश की है कि सिब या कुल (Sib or Clan) का पक्ष भूक्षेत्रीयता होता है। भारतीय जनजातियो के सम्बन्ध रूप मे जानते हैं कि जनजातियाँ या कुल सदैव किसी भौगोलिक क्षेत्र से घनिष्ठतम रूप मे हम सम्बन्धित होते ही है।

बील्स ग्रौर हाइजर के ग्रनुसार ग्रादिम राज्य की निम्नलिखित विशेषताएँ है—

(1) ये लोग कम ग्रथवा पूर्ण रूप से परिभाषित सीमा क्षेत्र के निरन्तर साथ-साथ रहते है।
(2) इनकी सामान्य सस्कृति ग्रौर सामान्य भाषा होती है।
(3) इन लोगो मे एकता की भावना होती है जिसके द्वारा सभी सदस्य ग्रपने को बाहर के लोगो से ग्रलग समझते हैं।
(4) सदस्यो मे परस्पर एक लम्बी मित्रता के सम्बन्धो की परम्परा होती है। यद्यपि कुछ स्थानीय समूह के सदस्य परस्पर बन्धुत्व के द्वारा सम्बन्धित होते है लेकिन यह ग्रावश्यक नही है कि सभी लोग बन्धुत्व सम्बन्धो से सम्बन्धित हो।

बील्स ग्रौर हाइजर के ग्रनुसार ग्रादिम समाज मे राजनीतिक व्यवस्था एक नेता का नेताग्रो के समूह द्वारा बनाया जाता है। य समूह के सदस्यो पर प्रभुत्व रखते हैं। नेता लोग राजनीतिक समूह मे शान्ति बनाए रखते है, सामुदायिक व्यापार का सगठन ग्रौर पथ-प्रदर्शन करते है, ग्रौर समूह की गतिविधियो का सचालन करते हैं जैसे कि पडोसियो के विरुद्ध युद्ध करना। ग्रादिकालीन राजनीतिक सगठन पूर्ण रूप से बन्धुत्व सम्बन्धियो का भी हो सकता है। इनके कार्य भी इसीलिए ग्रधिक सीमित होते है।

ग्रगर हम विभिन्न जनजातियो मे देखें तो हमे प्रत्येक जनजाति मे किसी न किसी प्रकार की सरकार ग्रवश्य देखने को मिलती है। उत्तरी ग्रमेरिका की इण्डियन जनजातियो मे जनतन्त्र को बहुत ग्रधिक महत्त्व दिया जाता है। इसलिए इनके पूरे के पूरे समाज जो 'पुलिस समाज' के नाम से पहचाना जाता है। इनम कई जनजातियो मे मुखिया की सत्ता भी पाई जाती है। ग्रफ्रीका की जनजातियो मे भी कई प्रकार के शासनतन्त्र देखने को मिलते हैं। इनमे किसी भी प्रकार के नेतृत्व स विहीन घुमक्कड जनजातियो के साथ ही साथ शक्तिशाली राजतन्त्रीय सस्थाग्रो वाली जनजातियाँ पाई जाती है। राजा एव सैनिको के बीच सत्ता एव दायित्वो के वितरण वाली जनजातियाँ भी ग्रफ्रीका म देखने को मिल सकती हैं। इसी प्रकार ग्रास्ट्रेलिया की जनजातियो मे भी किसी न किसी प्रकार की प्रबन्धकारिणी ग्रधिसत्ता (Authority) पाई जाती है।

जनजातियो मे सत्ता किसके हाथ मे होगी इसमे हम विभिन्नता देखने को मिलती है। कुछ समाजो मे सत्ता दो व्यक्तियो के हाथ मे रहती है। एक व्यक्ति

सामाजिक एवं धार्मिक पक्ष मे अपने अधिकार रखता है और दूसरा पारलौकिक क्षेत्र मे अपने अधिकार रखता है। कुछ ऐसे भी समाज है, जहाँ कि सत्ता एक या दो व्यक्तियो के हाथ मे न रह कर एक परिषद् के हाथ मे रहती है, उसमे कुछ सदस्य होते है जो कि समान अधिकार रखते हैं। उन समाजो मे मुखिया भी होता है और परिषदें प्रत्येक कार्य में मुखिया की सहायता करती हैं। इन परिषदो के सदस्य समूह के वयोवृद्ध लोग होते हैं। कुछ ऐसे समाज भी पाए जाते हैं जहाँ सम्पूर्ण शासन कुछ गिने-चुने लोगो के हाथ मे पीढी दर पीढी चला आता है। इन सबके अलावा कुछ ऐसे समाज हैं जहाँ पर कि आकस्मिक नेतृत्व की बात पाई जाती है। जहाँ जीवन के विभिन्न पक्षो मे विभिन्न लोगो को नेतृत्व प्रदान किया जाता है और नेतृत्व का आधार वहाँ कुशलता होती है। उदाहरण के लिए शिकार के लिए जाते समय वे लोग शिकार सम्बन्धी कुशलता वाले व्यक्ति को अपना नेतृत्व सौंपते हैं।

(2) आदिम समाजो मे कानून

सर्वप्रथम मेलिनवॉस्की ने इस तथ्य को स्पष्ट किया था कि आदिम समाज में भी कानून व्यवस्था होती है। वैज्ञानिको का यह मानना कि आदिम समाज मे (जैसा कि मोर्गन ने कहा था) साम्यवाद (Communism) होता है, गलत धारणा है। मजूमदार और मदान ने भी लिखा है "लम्बे समय तक इस बात पर जोर दिया जाता रहा था (आरोपित तौर पर) कि अग्र हिंसा, अराजकता एव कयास (अव्यवस्था) आदिम समाज की विशेषताएँ हैं।" आदिम कानून भी प्रधानत फौजदारी कानून होता है। मेलिनवॉस्की के पहले के सभी सामाजिक वैज्ञानिको की यही धारणा थी। इन्होने कहा कि जर्मनी के आदिम कानून का अध्ययन करने वाले आदिम समाज मे 'आदिम-कामाचार' 'समूह विवाह', 'समूह उत्तरदायित्व', 'समूह न्याय', 'समूह सर्पाग्नि' का समर्थन करते थे और व्यक्तिगत अधिकार और जिम्मेदारी का अभाव आदिवासियो मे पाते थे। सभी वैज्ञानिक मोर्गन के साम्यवाद के सिद्धान्त को सही मानते थे।

फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका और अंग्रेजो के लेखों मे मेलिनवॉस्की ने यही लिखा पाया कि आदिम समाजो मे व्यक्ति पूर्ण रूप से समूह, गोत्र अथवा जनजाति द्वारा नियन्त्रित होता है। दुर्खीम ने भी यही मत जनजातियो की राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध मे व्यक्त किया था। आदिम राज्य की विशेषताओ का वैज्ञानिको ने बीसवी शताब्दी के आरम्भ तक कोई विशेष अध्ययन नही किया। मेलिनवॉस्की ने कहा कि अध्ययन नहीं करने का कारण यह नही था कि वैज्ञानिको का ध्यान इस ओर नहो गया बल्कि उसके विपरीत वैज्ञानिक यह मानकर चले थे कि वहाँ तो केवल साम्यवाद होता है, कानून जैसी कोई व्यवस्था नही होती है। लेकिन उनका ऐसा मानना गलत था।

लोवी (Lowie) ने भी पहले के वैज्ञानिको की यह धारणा गलत बताई है कि आदिम समाज मे उग्रहिंसा, आदि होती है और आदिम कानून प्रधानत फौजदारी कानून होता है। मेलिनवॉस्की, रेडक्लिफ ब्राउन और लोई का कहना

है कि आदिम समाजो मे दोनो ही कानून दीवानी और फौजदारी होते हैं। उनके अनुसार आदिम समाजो मे अन्तर-पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित प्रस्थिति द्वारा नियन्त्रित तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकार सुनिश्चित रीति रिवाजो द्वारा सचालित होता है। इसलिए इनमे सीमित रूप मे दीवानी कानून का प्रचलन भी मिलता है। मेलिनॉस्की ने अपनी पुस्तक 'क्राइम एण्ड कस्टम इन सवेज सोसाइटी' मे अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि इन समाजो मे दीवानी कानून भी होते है। लोई ने आदिम कानून की निम्नलिखित तीन मुख्य विशेषताओ का उल्लेख किया है—

(1) आदिम कानून मोटे तौर पर स्वजनता सम्बन्धो के अर्थ मे जाना जाता है,

(2) आदिम कानून न्यूनाधिक रूप मे नैतिक मानदण्डो एव जनमत के सदृश्य होता है, और

(3) आदिम कानून मे अपराध और क्षति मे अन्तर नही किया जाता है।

कानून राजनीतिक व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण साधन है जिसके द्वारा समाज मे शान्ति और सुरक्षा बनाई जाती है। आधुनिक समाज की तुलना मे आदिम समाज मे कानून का रूप सामाजिक नियम एव प्रथाओ के रूप मे होता है इसी बात को मेलिनॉस्की ने कानून की मानवशास्त्रीय परिभाषा देते हुए बताया कि कानून एक व्यक्ति के अधिकार के रूप मे समझा जाता है तथा दूसरे व्यक्ति को कर्त्तव्य मान माना जाता है। ये मनोवैज्ञानिक मान्यता प्राप्त ही नही होते है अपितु निश्चित सामाजिक व्यवस्था और प्रतिबंधित शक्ति द्वारा मान्यता प्राप्त होते है तथा पारस्परिक सेवाओ के आदेश प्रदान पर आधारित होते है।

होवेल (Hoebel) ने भी आदिम कानून की विशिष्टताओ पर प्रकाश डालते हुए कहा है—कानून एक सामाजिक नियम है जिसका उल्लघन होने पर धमकी देने या वास्तव मे शारीरिक बल का प्रयोग करने का अधिकार एक ऐसे समूह को होता है जिसे ऐसा करने का समाज द्वारा मान्य विशेषाधिकार प्राप्त है। यह कथन भी आदिम समाज की कानून सम्बन्धी विशेषताओ पर प्रकाश डालता है। कानून का रूप आदिम समाज मे, एक सामाजिक नियम के रूप मे देखा और पहचाना जाता है। उसका उल्लघन करने पर दण्ड भी दिया जाता है।

कार्डोजो (Cardojo) ने आदिम कानून को आचरण का नियम बताया है। इन्होने भी आदिम कानून को ध्यान मे रखकर कानून की निम्नलिखित व्याख्या की है—"कानून आचरण का वह सार नियम है जिसे इस निश्चय से प्रतिपादित किया जाता है कि यदि भविष्य मे उसकी सत्ता को चुनौती दी गई तो उसे अदालतो के द्वारा लागू किया जाएगा।"

आदिम समाज मे कानून का विकास प्रथाओ और रूढियो से स्वत. तथा धीरे-धीरे होता है। रेडफील्ड का कहना है कि अमेरिका और फिलिपिन्स की कुछ जनजातियो मे मुखिया द्वारा कानून मे सुधार किए जाते हैं।

साधारणतया सम्पूर्ण समाज ही कानून का निर्माण करता है। यदि कानून को (जैसा कि मेलिनॉस्की का कहना है) समाज द्वारा मान्यता प्राप्त समूह के सदस्यो के व्यवहारो के नियन्त्रण के रूप मे मान लिया जाए तो आदिम समाज के नियम भी कानून है। वहाँ पर भी समूह की अभिमति तोडने पर व्यक्ति को सजा दी जाती है। आदिम समाज की प्रथाएँ और आधुनिक समाज के कानून अपने-अपने समाज मे व्यवस्था और सुरक्षा का कार्य करते हैं। प्रथाएँ सामाजिक नियमो के साथ घुली-मिली रहती है जबकि कानून का निर्माण राज्य द्वारा किया जाता है। प्रथाएँ स्वय धीरे-धीरे विकसित होती हैं। ये सामाजिक कार्य-विधियाँ हैं जिनका विकास सामाजिक अन्त क्रिया द्वारा हाता है।

आदिम समाजो मे भी किसी न किसी प्रकार की ऐसी व्यवस्था मिलती है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने अधिकार की माँग कर सकता है और जनमत तैयार करके उसकी पूर्ति करने के लिए सम्बन्धित व्यक्ति को मजबूर कर सकता है। मेलिनॉस्की ने उस प्रकार के कुछ तरीको का वर्णन अपनी पुस्तक 'क्राइम एण्ड कस्टम इन सवेज सोसाइटी' मे किया है। ये कानून व्यवस्था के तरीके निम्न हैं—जो ट्रोब्रियेण्ड द्वीप की जनजातियो मे इन्होने पाए।

इक या काला—इसमे दो सम्बन्धित दल एक-दूसरे पर जोर-जोर से चिल्लाते है तथा अपने-अपने पक्ष मे जनमत तैयार करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते है तथा आपसी झगडे तय किए जाते हैं। लेकिन कभी-कभी इक या काला विधि के द्वारा झगडे तय होने के स्थान पर आपसी सम्बन्ध बिगड भी जाते हैं। मेलिनॉस्की ने और भी तरीको का उल्लेख किया है जैसे ब्वरापाकू, बनयटूबूटाव, ग्वारा और कयास आदि। मजूमदार और मदान ने भी कहा है कि समूह द्वारा की जाने वाली टीका-टिप्पणियो के प्रति व्यक्ति काफी सजग रहता है। आदिम समाज मे लोग कानून का पालन सामूहिक जनमत के प्रभाव के कारण करते हैं। कानून के पालन करवाने मे धर्म (Religion) का भी बहुत प्रभाव होता है। कानून या प्रथा का उल्लघन पाप माना जाता है। पाप करने पर अलौकिक शक्ति द्वारा दण्ड दिए जाने का भय होता है। यही कारण है कि निकटाभिगमन, यौनाचार और जादू-टोने आदि का लोग उल्लघन नही करते हैं। आदिम प्रथाओ को कानून जैसी शक्ति होती है।

आदिम समाज मे कानून बनाने, उसे लागू करने तथा दण्ड देने के सम्बन्ध मे उतना सुव्यवस्थित और स्पष्ट सगठन नही मिलता है जितना कि आधुनिक समाजो मे होता है। आदिम समाज के दण्ड (Punishment) का रूप भी काफी भिन्न होता है। यहाँ पर जैसे को तैसा के आधार पर दण्ड दिया जाता है। व्यक्तिगत क्षति पूर्ति का ध्यान नही रखा जाता है। इन उपरोक्त गुणों के आधार पर आदिम कानून के सम्बन्ध मे अग्रलिखित विशेषताओ को सक्षिप्त मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) आदिम समाज के कानून स्वजन सम्बन्धों पर आधारित होते हैं,
(2) साधारणतया इनकी कोई निश्चित भूभाग या भौगोलिक सीमा नहीं होती है,
(3) आदिम समाजों में जनमत का प्रभाव अधिक पाया जाता है तथा व्यक्ति को कानून का नहीं अपितु जनमत का पालन करना पड़ता है,
(4) आदिम समाज में सार्वजनिक अपराध और व्यक्तिगत अपराध में आधुनिक समाजों की भाँति अन्तर नहीं होता है,
(5) इस समाज की प्रथाओं का वही प्रभाव और नियन्त्रण होता है जो आधुनिक समाज में कानून का होता है, और
(6) आदिम समाजों में समाज विरोधी अपराध अधिक पाए जाते हैं तथा दण्ड भी अपराधी को सजा देने के लिए लिया जाता है और व्यक्तिगत हानि की पूर्ति का ध्यान नहीं रखा जाता है।

अल्प जनसंख्या वाले इन आदिम समाजों में परस्पर सामाजिक सम्बन्धों और जनमत का विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि आदिम समाज आकार में छोटे होते हैं इसीलिए इनकी राजनीतिक व्यवस्था में जनमत का विशेष स्थान होता है। मजूमदार और मदान ने कहा है कि आदिम समाजों में लोगों के जीवन पर जनमत का अत्यधिक सशक्त प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव का मूल कारण आदिम समाज का छोटे और सीमित भौगोलिक क्षेत्र में बसा होना है तथा अल्प जनसंख्या का होना है और परस्पर घनिष्ठता के सम्बन्ध का होना है। जनमत का प्रभाव शांति और सुरक्षा को बनाए रखने पर अत्यधिक पड़ता है। सभी सदस्य परस्पर बन्धुत्व सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं। अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं इसी कारण आदिवासी समाज का परम्पराओं, प्रथाओं और जनमत का पालन स्वतः करते हैं। बल के प्रयोग का डर उतना नहीं होता है जितना कि एक-दूसरे के सम्बन्ध और जनमत का प्रभाव होता है। आदिम कानून के पीछे नैतिक बल होता है मगर कोई जनमत का उल्लंघन करता है तो समाज उसका बहिष्कार कर देता है।

सदस्यों को इसका बहुत भय रहता है और उसी भय के कारण व्यक्ति समाज के नियमों का पालन करता है। आदिम कानून का पालन सदस्य इसलिए भी करते हैं क्योंकि कानून का विकास लोगों के आदर्श, नैतिक मान्यताओं और जनमत से होता है। जनमत समाज के अनुकूल होता है। मजूमदार और मदान ने लिखा है कि "न इससे (जनमत) कोई बच सकता है और न इसके विरुद्ध संरक्षण प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे समाज में कानून के हाथ काफी लम्बे होते हैं फिर भी सम्भवतः इतने लम्बे एवं निर्मम नहीं जितने हमारे अपने समाज में होते हैं।"

बील्स एवं हाइजर ने जनजातीय राजनीतिक व्यवस्था को सामान्य रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

(1) वे समाज जिनमे राजनीतिक व्यवस्था सही अर्थों मे नही है, अर्थात् जहाँ स्थानीय समूह मे व्यक्तिगत परिवारो के मुखिया से अन्य अलग से कोई निश्चित नेता नही है। ऐसे समाज छोटे आकार तथा विस्तृत क्षेत्र मे फैले हुए पाए जाते हैं।

(2) दूसरी श्रेणी में राजनीतिक रूप से सगठित राज्यो के सगठन, गिरोह अथवा कबीले आते हैं, जिनमे जनसख्या अपेक्षाकृत पहले से अधिक होती है। अर्थ व्यवस्था अधिक सुदृढ होती है किन्तु वस्तु विनिमय के लिए बचत नही होती। युद्ध अक्सर होते हैं तथा उनको महत्ता भी दी जाती है। समुदाय इससे नष्ट नही होता, विजयी समूह शत्रु को एक क्षेत्र से हटाने में सफल होता है परन्तु हारे हुए समूह का आर्थिक एव राजनीतिक पतन नही कर पाता।

(3) तीसरी श्रेणी मे वे समाज आते है जो राज्यो को जीतकर अपने आधिपत्य मे कर लेते है। जीते राज्यो को नष्ट नही किया जाता अपितु उनसे हर्जाना वसूल किया जाता है, तथा उसे राज्य का ही एक उपभाग अथवा एक निम्न वर्ग के रूप मे मान लिया जाता है। इस प्रकार मे जनसंख्या अधिक होती है तथा आर्थिक उत्पादन भी विनिमय योग्य होता है। शासन की बागडोर एक वशानुगत अभिजात वर्ग के हाथ में होती है।

भारतीय आदिम समाजो में राजनीतिक व्यवस्था
(Political System in Indian Primitive Societies)

भारतीय आदिम समाजो मे हमे अनेक प्रमुख जनजातियो की राजनीतिक व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। यद्यपि हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतवर्ष के समस्त निवासी चाहे वह किसी समूह या समुदाय के हो प्रभुता सम्पन्न भारतीय गणराज्य के नागरिक हैं एव सभी भारतीय सविधान के अन्तर्गत कार्य करते हैं। सभी पर भारतीय दण्ड सहिता (I. P C) लागू होती है। अत जब हम भारतीय समाजो मे पाई जाने वाली आदिम समाजो की जनजातियो की बात करते हैं तो हम दो बातो का विशेष ध्यान रखते हैं। प्रथम तो यह कि यह जनजाति समूह भारतीय सविधान के द्वारा ही सचालित होते हैं एवं द्वितीय यह है कि भारतीय संविधान द्वारा सचालित होने के बावजूद भी यहाँ कुछ जनजाति समूह ऐसे हैं जिनकी अपनी परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था अब भी है इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत मे जनजातियो मे दोनो प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओ का उल्लेख दिखाई देता है।

जब हम जनजातियो को भारत मे देखते हैं, तो हमे इनमे विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाएँ दिखाई देती हैं। अंडमान द्वीप की जनजातियो की राजनीतिक व्यवस्था का मुहावरा उनकी बन्धुत्व व्यवस्था (Kinship System) है। अनेक परिवार जो बन्धुत्व मे बंधे होते हैं, एक सामान्य तथा स्थाई संघ का निर्माण करते हैं। एक गांव का निश्चित भू-भाग होता है और इनमे अन्य पडौसी जनजातियाँ

कोई हस्तक्षेप नहीं करती। इस संघ में नेतृत्व उन लोगों का होता है जो शिकार या युद्ध कला में निपुण होते हैं। संघ का कार्य क्षेत्र सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करना होता है। यदि जनजाति का कोई सदस्य ऐसे कार्य करता है जो जनजाति संगठन की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाता है तो संघ उसे दण्ड देता है। यह संघ हत्यारों और अन्य अपराधियों को भी दण्ड देता है। वैसे सामान्यतया अंडमान की जनजातियों के इस संघ का कार्य क्षेत्र अब मात्र सामाजिक और सांस्कृतिक अधिक है।

यहाँ हम कुछ प्रमुख भारतीय जनजातियों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का उल्लेख करेंगे—

(1) संथाल जनजाति की राजनीतिक व्यवस्था (Political System of Santhal Tribe)—संथाल जनजाति में प्रशासन का सारा कार्य मुख्यतः मुखिया एवं उसके सहायकों के हाथ में रहता है। मुखिया को माँझी कहा जाता है जिसे गाँव के लोग चुनते हैं। कोई त्योहार एवं उत्सव एवं विवाह वगैर माँझी की अनुमति एवं उसकी अनुपस्थिति में सम्पन्न नहीं हो सकता है। गाँव के समस्त बाहरी एवं आन्तरिक मामलों में उसका प्रतिनिधित्व रहता है। वह गाँव वालों से लगान भी वसूल करता है। यदि संथाल गाँव का मुखिया संथाल न होकर किसी अन्य जाति का होता है तो संथाल जाति का ही एक मुखिया होता है जिसे हादी माँझी कहते हैं, जो लगान वसूल करने तथा वे कार्य, जो कि सरकार मुखिया के मार्फत करवाती है, के अतिरिक्त सभी कार्यों को करता है।

मुखिया का सहायक परमानिक (Parmanik) जोग माँझी—माँझी के दो सहायक होते हैं—परमानिक माँझी का प्रमुख सहायक होता है तथा उसी (माँझी) के द्वारा ही उसकी नियुक्ति होती है। यदि नि सन्तान रहते हुए माँझी की मृत्यु हो जाती है अथवा यदि माँझी के कोई भाई न हो तो ऐसी स्थिति में परमानिक ही उसका कार्य सम्भालता है। अपने सामाजिक प्रकार्यों में माँझी को जोग माँझी द्वारा सहायता मिलती है। जोग माँझी का प्रमुख कार्य बिरादरी में लोगों के आचरण पर ध्यान रखना है। विवाह सम्बन्धी विषयों का सुलझाना भी जोग माँझी का ही कार्य है। जोग माँझी का भी एक सहायक होता है जिसे जोग परमानिक कहा जाता है जो कि जोग माँझी की अनुपस्थिति में उसका कार्यभार सम्भालता है।

गोदेत (Goddet)—गाँव के मुखिया का चपरासी होता है, जो मुखिया का सन्देश लोगों तक पहुँचाता है और उन्हें किसी सभा, उत्सव आदि के लिए बुलाकर एकत्र करता है।

परगनैत (Parganait)—यह व्यक्ति अनेक गाँवों का मुखिया होता है। जिस प्रकार माँझी का एक सहायक होता है, उसी प्रकार परगनैत का भी एक सहायक होता है जिसे देश माँझी कहते हैं। परगनैत चाकलादारों की नियुक्ति भी करता है जो कि सन्देश वाहकों का कार्य करते हैं।

सन्थाल जनजाति मे सबसे बडा राजनीतिक सगठन बग्लो (Bunglow) होता है। प्रत्येक बग्लो मे दो परिषदें(Council)होती हैं। अपर परिषद् को पचायत कहा जाता है जिसका उच्चस्त अधिकारी बग्लो का परगनैत होता है तथा गाँव के मुखिया इस पचायत के सदस्य होते है। पंचायत जनजाति सम्बन्धी महत्वपूर्ण मसलो पर निर्णय लेती है।

परिषद् का दूसरा प्रकार कुलीडूप (Kulidrup) होता है। कुलीडूप को निचली सभा कहा जाता है। कुलीडूप मे गाँव के परिवारो का प्रतिनिधित्व होता है एवं प्रत्येक परिवार का मुखिया कुलीडूप मे शामिल होता है तथा गाँव का मुखिया परिषद् का अध्यक्ष होता है। गाँव के अन्य अधिकारी इस सदन के सदस्य होते हैं। छोटे-मोटे झगडो का निपटारा किसी निचली सभा द्वारा किया जाता है।

(2) उराँव जनजाति की राजनीतिक व्यवस्था (Political System of Oranv)—सुन्दर वन की उराँव जनजाति मे पहले ग्राम पचायत तथा परहा पचायत दोनो थी परन्तु परहा पचायत का अस्तित्व धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। ग्राम पचायत छोटे छोटे धार्मिक सामाजिक विवादो का निपटारा करती है तथा परहा पचायत जो कि कई ग्रामो को मिलकर बनी है, दो गाँवो के बीच एक विवाद के बारे मे विचार करती है।

ग्राम पचायत में बुजुर्गों एव प्रभावशाली व्यक्तियो को ही मान्यता दी जाती है। प्राचीन समय मे इन पचायतो का अधिकार क्षेत्र अधिक व्यापक था तथा पचायत के निर्णय का पालन किया जाता था, परन्तु अब जनजातीय पचायतों का महत्त्व कम हो गया है क्योकि छोटे-छोटे विषयो पर भी ये लोग अदालतो मे अपील करने लग गए हैं। ऐसा अक्सर तब होता है जबकि ग्राम पचायत का निर्णय उन्हे अमान्य होता है। उराँव पंचायत का गठन इस प्रकार होता है—

(1) राजमोरल—मुखिया।
(2) मन्त्री—राजमोरल का सहायक एव परामर्शदाता।
(3) सदस्य गण—सख्या निश्चित नही होती।
(4) चौकीदार—सवाद वाहक।

पचायत का मुखिया आमतौर पर वशानुगत होता है। उसकी मृत्यु के बाद उसका सबसे बडा लडका राजमोरल बनता है। राजमोरल मन्त्री की नियुक्ति करता है तथा वह, गाँव के सयाने लोगो तथा मन्त्री की सलाह से सदस्यो का चुनाव करता है। चौकीदार का चुनाव पचायत करती है। चुनाव के बाद पंचायत के अधिकारी ईश्वर के नाम पर समस्त प्रभावशाली लोगो के समक्ष शपथ ग्रहण करते हैं। ग्राम पचायत मुख्यतया अब निम्न विषयो से सम्बन्धित झगडो को निपटाने का कार्य करती है—

(1) मारपीट के मामले,
(2) जमीन के मामले,

सम्पर्क मे आने के परिणामस्वरूप परम्परागत रीति-रिवाजो एव प्राचीन विधि व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ गए है तथा जनजातीय नेतागण स्वय जनजातीय नियमों एव कानूनो का उल्लघन करने लगे हैं तथा अपनी विशिष्ट स्थिति का दुरुपयोग करते हैं। इन लोगो ने ही जनजातीय स्थानीय पचायतो का विघटन करने का प्रयास किया है। इनमे मन्की तथा मुण्डा दो शाखाएँ होती है जो कि मध्यस्थ के रूप मे कार्य करती है। उक्त प्रदेशो मे नियुक्त सरकारी कर्मचारी ग्राम पचायत तथा मुखिया के कार्यों पर एव उनके द्वारा दिए गए निर्णयो पर निगरानी रखते है। परन्तु अब शहरी हस्तक्षेप के बगैर आपसी मालमो को सुलझाना अधिक कठिन प्रतीत होता है तथा जनजातीय न्याय अब अपनी पूर्व मान्यता धीरे-धीरे खो रही है।

(6) राजस्थान की 'भील' जनजाति मे गाँव स्तर,पर पच होते हैं, पचो का कोई चुनाव नही होता। गाँवो के कुछ नेता जिनमे झगडे सुलझाने की सूझ बूझ होती है, इस पचायत के सदस्य होते हैं। पचायत की अध्यक्षता गाँव के रावत की होती है। रावत गाँव का मुखिया होता है और उसका यह स्थान जन्म जात है। गाँव स्तर के झगडो का निर्णय पचायत करती है। गाँव से बाहर और सभी भील गाँवो के लिए पाल सगठन है। एक ही भौगोलिक सांस्कृतिक क्षेत्र को पाल कहते है। पाल मे कई गाँव होते हैं। पाल मे जो प्रभावशाली व्यक्ति होता है, परम्परा से ही वह पाल का मुखिया बन जाता है। अन्तर्ग्रामीण झगडो का निर्णय पाल करती है। आजकल जब चुनाव के मौके होते हैं तो कभी-कभी पाल किसी एक निश्चित राजनीतिक दल को सहायता देने का निर्णय भी करती है। पचायती राज म पाल और भील ग्रामीण परम्परागत पचायत का महत्त्वपूर्ण कार्य है। पाल और पचायत दोनो ही राष्ट्रीय राजनीति मे सक्रिय रूप से कार्य करते है।

प्रमुख जनजातीय राजनीतिक आन्दोलन
(Major Tribal Political Movements)

भारतीय जनजातियो की राजनीतिक व्यवस्था का कोई भी अध्ययन तब तक पूरा नही माना जा सकता, जब तक कि हम कुछ प्रमुख जनजातीय राजनीतिक आन्दोलनो का उल्लेख न करे। यदि हम भारतीय जनजातियो की विगत दो शताब्दियो के इतिहास को देखें तो हमे प्रतीत होगा कि भारतीय आदिवासियो ने सामन्तवाद एव बाद मे ब्रिटिश राज के खिलाफ किसी न किसी कारण को लेकर आन्दोलन अवश्य किए हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी कुछ प्रमुख जनजातीय राजनीनिक आन्दोलन हुए हैं। 18वी एव 19वी शताब्दियो मे अनेक प्रमुख भारतीय जनजातीय राजनीतिक आन्दोलन हुए। मुण्डावो का बिर्सा आन्दोलन सन्थाल एव नागाओ का आन्दोलन, उडीसा तथा छोटा नागपुर की जनजातियो ने स्वायत्त राज्य के लिए आन्दोलन किया था असख्य पहाडियो मे रहने वाली जनजातियो ने भी इसी तरह का आन्दोलन चलाया। प्रमुख रूप से भारत मे जनजातियो द्वारा किए गए दो आन्दोलन हमे दिखाई देते हैं जो अग्रलिखित है—

(1) नागालैण्ड का नागा आन्दोलन
(2) बिहार का झारखण्ड आन्दोलन

(1) नागालैण्ड का नागा आन्दोलन (Naga Movement of Nagaland)—नागालैण्ड राज्य देश का उत्तर पूर्वी भाग है। इस राज्य मे लगभग 700 गाँव है। इसमे पाए जाने वाले आदिवासी समूहो मे मुख्य रूप से आओ, सेमा, अगामी, चख सग, ल्होटा, चेंग, फोक, सघटम, खिनमुनघन, रेंगमा और जेलिय हैं। नागाओ के इन समूहों के अतिरिक्त लगभग एक लाख से ऊपर नागा ब्रह्म की सीमा पर रहते हैं।

नागाओ का मुख्य खाद्यान्न चावल है। यह जनजाति बहादुर मानी जाती है। मुण्ड आखेट इस समूह के समाज मे आदर और प्रतिष्ठा का प्रतीक है। ग्रामीण सभा इनमे सर्व शक्तिशाली समझी जाती है।

नागा आदिवासी बराबर हुकूमत से विद्रोह करते आए हैं। किसी भी बाहरी शक्ति को उन्होंने बिना सघर्ष के अपने ऊपर हावी नही होने दिया। आजादी से पहले नागाओ ने ब्रिटिश सरकार का विरोध किया था और आजाद हिन्दुस्तान मे भी उनके विक्षोभ ने शान्ति नही ली है। नागा स्वतन्त्र रहना चाहते हैं और किसी बाहरी प्रशासन को अपने अनुकूल नही पाते। उनकी यह चरम स्वतन्त्रता, हो सकता है, सवेगात्मक हो या वास्तविक। लेकिन यह बहुत स्पष्ट है कि नागा आदिवासी बाहर के प्रशासन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। नागालैण्ड राज्य की स्थापना आदिवासियो की इस ऐतिहासिक माँग की पूर्ति का प्रतीक है। लेकिन अपना राज्य बन जाने के बाद भी नागाओ का विक्षोभ एकदम समाप्त हो गया हो, ऐसा नहीं है। आज भी नागालैण्ड राज्य की राजनीति अस्थिर है। वहाँ सरकार ने स्थायित्व ग्रहण नही किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर बसी होने के कारण नागा जनजाति की राजनीति देश के लिए बहुत नाजुक हो जाती है।

(2) बिहार का झारखण्ड आन्दोलन (Jharkband Movement of Bihar)—झारखण्ड आन्दोलन वस्तुत बिहार के आरांव, मुण्डा और हो जनजातीय समूहो का पृथक् आदिवासी राज्य की स्थापना की माँग का आन्दोलन है। यह आन्दोलन लगभग चार दशक पुराना है। बिहार मे जनजातियो की जनसख्या लगभग 42 लाख है जो राज्य की सम्पूर्ण जनसख्या का 9 05 प्रतिशत है। छोटा नागपुर, राँची और सिहभूमि मे जनजातियो का प्रतिशत आधे से भी बहुत अधिक है। ये आदिवासी समूह भूमि पर स्थायित्व के अधिकार तथा सस्कृति और भाषा के क्षेत्र मे हिन्दू कृषको और कारीगरो से भिन्न हैं। गैर-आदिवासी समूहों को ये लोग डीकू कहते हैं।

झारखण्ड आन्दोलन का प्रारम्भ आदिवासी सभा के निर्माण से है। 1938 ई. मे आदिवासी सभा ने घोषित किया कि वह आदिवासियो के हितो की रक्षा के लिए एक राजनीतिक दल की तरह काम करेगी। इस सभा ने स्पष्ट किया कि आदिवासी अपनी शारीरिक बनावट, सस्कृति, भाषा और जीवन के मूल्यों मे

एक पृथक् नृजाति समूह है। आदिवासी क्षेत्र से जो खनिज सम्पदा प्राप्त होनी है उसका बहुत थोडा भाग इन समूहों के कल्याण मे लगाया जाता है। हिन्दी भाषा एक बाजारू भाषा है और इसके कारण आदिवासी अपनी सामाजिक शिनाख्त को शीघ्रता से खो रहे है। ये कुछ तथ्य झारखण्ड आन्दोलन की प्रकृति को बताते हैं। इस आन्दोलन की माँग है कि छोटा नागपुर, सिंहभूमि, राँची, सन्थाल परगना और हजारीबाग आदि क्षेत्रो मे जहाँ आदिवासी बहुसंख्या मे हैं, एक पृथक् आदिवासी राज्य की स्थापना होनी चाहिए। आन्दोलन का विश्वास है कि आदिवासियो का कल्याण डीकू समूहो द्वारा नही हो सकता। नागालैण्ड और मिजोरम राज्यो की तरह झारखण्ड आन्दोलन भी एक पृथक् राज्य के लक्ष्य को लेकर चला है। यह राज्य भारतीय सघ व्यवस्था का एक अग होगा।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय जनजातियो मे भी कुछ प्रमुख राजनीतिक आन्दोलन हुए हैं। सुरजीत सिन्हा (Surjit Sinha) का मानना है कि जनजातियो के यह आन्दोलन कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि सीमान्त क्षेत्र मे रहने वाले समूह भारतीय सघ से सम्बन्ध विच्छेद करने के प्रयास मे हैं। इसमे नागा, नेशनल फ्रण्ट आन्दोलन एव मिजो नेशनल फ्रण्ट आन्दोलन प्रमुख हैं, जबकि कुछ जनजातीय समूह भारतीय सघ मे ही पृथक् आदिवासी राज्य की माँग कर रहे हैं। ऐसे समूहों मे झारखण्ड आन्दोलन तथा गारो एव खासी जनजातियो के प्रमुख आन्दोलन हैं। निर्मल कुमार बोस (Nirmal K Bose) का मानना है कि जनजातियो के लिए भी राजनीतिक आन्दोलन उप-राष्ट्रीयता को बताते हैं। बोस का कहना है कि ऐसे आन्दोलन सामान्यतया विकासशील देश के आर्थिक रूप से पिछड़े हुए समुदायों द्वारा किए जाते हैं। इन समूहो के राजनेता सामान्य आदिवासी कृषकों को सगठित करके अपनी सीमित वर्ग महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करना चाहते है।

रॉय बर्मन (Roy Burman) आदिवासियो के राजनीतिक आन्दोलनो का अन्य प्रकार से विश्लेषण करते हैं। वे निर्मल कुमार बोस से सहमत नही हैं। बर्मन का कहना है कि आदिवासियो के आन्दोलन की दिशा अधःराष्ट्रीयता (Infra Nationalism) की ओर है। इसका तात्पर्य यह है कि आदिवासी जन जातिवाद से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता की ओर आगे बढ़ रहे हैं।



4

आदिम अर्थव्यवस्था

(Primitive Economic System)

सामाजिक संगठन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष अर्थव्यवस्था है। प्राय: अर्थ-व्यवस्था पर छोटे समाजो मे अधिक ध्यान दिया जाता है। अनेक लोग जो अर्थव्यवस्था मे अनिवार्यत मुद्रा (Money) एव मूल्य को सम्मिलित करते हैं वे वडे विश्वास के साथ यह मानते है कि आदिम अथवा छोटे समाजो मे कोई अर्थव्यवस्था नही है, क्योकि वहाँ मुद्रा नही है। लेकिन यह धारणा गलत है। जिस प्रकार राजनीति मे यह धारणा गलत थी कि राज्य (State) के बिना राजनीति (Politics) नही होती, उसी प्रकार यह धारणा भी गलत है कि आदिम समाजो मे अर्थव्यवस्था नही होती।

अर्थव्यवस्था का अध्ययन मूलत अर्थशास्त्र (Economics) मे किया जाता है। अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाएँ विभिन्न विद्वानो ने अपने-अपने ढग से प्रस्तुत की हैं। इनके अनुसार अर्थशास्त्र सम्पूर्ण जीवन को अपने अध्ययन मे सम्मिलित करता है। वस्तुत इसे न्यूनतम साधन का प्रतिस्पर्धात्मक उद्देश्यो के लिए बँटवारा करना कहा जाना चाहिए। एक अन्य परिभाषा के अनुसार वह विधि जिसके द्वारा स्रोतो, तकनीकी एव कार्यो को इस भाँति परस्पर आपस मे जोडा जाए कि वह मनुष्य और सामाजिक समूहो की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे सक्षम हो उसे अर्थशास्त्र कहते हैं।[1]

सामान्यत अर्थशास्त्री स्रोत, तकनीकी एव कार्यो को इस प्रकार सम्बन्धित करते है कि इसी के आधार पर आर्थिक व्यवहार को वस्तुनिष्ठ ढग से स्थापित किया जाए। शायद मानव-वैज्ञानिक अर्थशास्त्र को थोडे अन्तर के साथ देखते हैं। वस्तु स्थिति यह है कि आदिम समाज के सदस्य के स्रोत बहुत सीमित हैं, वह शिकार कर सकता है, मछली पकड सकता है, या सामान्य स्तर पर खेती कर सकता है। इन सीमित साधनो से ही उसे जीविकोपार्जन करना होता है, उसकी तकनीकी भी अविकसित होती है। इस अवस्था मे जनजातियो का अर्थशास्त्र

1 डॉ. शम्भूलाल दोषी : पूर्वोक्त, पृ. 174.

विशिष्ट (Specific) है । यहाँ हम स्पष्टत यह कहेंगे कि जनजातियो की अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त सामान्य आर्थिक सिद्धान्तो से भिन्न नही है । सामान्य आर्थिक सिद्धान्त सभी समाजो पर लागू होते हैं । कोई भी ऐसा समाज नही है जिसमे उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपयोग की विधियाँ न हो । कोई ऐसा समूह नही होगा जिसमे वस्तुओ के मूल्य को लेकर कोई अभिव्यक्ति न हो । यह हो सकता है कि यह मूल्य किसी मुद्रा के प्रतीक रूप मे न हो । यह भी नही हो सकता कि किसी समाज मे श्रम का कोई विशिष्टीकरण न हो और श्रम के बदले मे कोई पारितोपिक या भुगतान की व्यवस्था न हो । वास्तव मे आदिम समाज की अर्थव्यवस्था की तकनीकी सभ्य समाज से भिन्न है । इस तकनीकी के प्रयोग से ही उत्पादन बढता है, और इसी के परिणामस्वरूप मुनाफा (Profit) और आर्थिक असमानता के सामाजिक पक्ष सामने आते हैं ।

आदिम अर्थव्यवस्था का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Primitive Economic System)

आदिम अथवा छोटे समाजो मे भी निश्चित रूप से अर्थव्यवस्था का प्रचलन होता है । आदिम अर्थव्यवस्था आदिम समाज के सदस्यो के जीविका पालन एव जीवन धारणा से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है । सामाजिक मानवशास्त्रियो ने आदिम अर्थव्यवस्था का पर्याप्त अध्ययन किया है । हरस्कोविट्स (Herskovitz) जैसे प्रख्यात मानवशास्त्री ने आर्थिक मानवशास्त्र (Economic Anthropology) नामक एक पृथक् विज्ञान का ही निर्माण कर डाला है । पॉल बोहनन (Paul Bohanun) ने आर्थिक गतिविधि की परिस्थिति (Ecology) के सन्दर्भ मे देखते हैं ।

अर्थव्यवस्था को विभिन्न मानवशास्त्रियो ने अपने-अपने मतानुसार परिभाषित किया है ।

लॉवी का कहना है कि "यह ज्ञान की वह शाखा है जो कि उन सामाजिक विषयो का अध्ययन करती है जो कि व्यक्ति तथा सगठित समूह को भौतिक आवश्यकताओ के प्रबन्ध के चारो ओर रहते है ।" दूसरे शब्दो मे, "यह उत्पादन, उपभोग और धन के वितरण का अध्ययन करता है । इस शब्द के विभिन्न अर्थ हैं और वह विभिन्न मानवीय आवश्यकताओ से व्यवहार रखता है ।"[1]

राल्फ पिडिंगटन ने अनुसार, "आर्थिक प्रणाली लोगो की भौतिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए, उत्पाद की व्यवस्था, वितरण पर नियन्त्रण तथा समुदाय मे स्वामित्व के अधिकारो व दावो को निर्धारित करती है ।"[2]

लूसी मेयर "अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध उन कार्यकलापो से है, जिनसे लोग

1 *Robert H Lowie* . Social Organization, p. 22.
2 *Ralph Piddington* . op. cit , p. 18.

अपने साधनो, भौतिक तथा अभौतिक दोनों की व्यवस्था करते है और उनके विभिन्न उपयोगो मे से कुछ को चुनते हैं, ताकि प्रतिद्वन्द्वी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सीमित साधनो का आवटन किया जा सके।"[1]

बील्स एव हाइज़र लिखते हैं कि "आर्थिक अर्थव्यवस्था व्यवहारो के प्रतिमान हैं और समाज का वह परिणामस्वरूप सगठन है जो कि वस्तुओ व सेवाओ के उत्पादन वितरण तथा उपभोग से सम्बन्धित है।"[2]

डी एन. मजूमदार एव मदान ने अर्थव्यवस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "अर्थव्यवस्था से हमारा तात्पर्य मानवीय सम्बन्धों एव मानवीय सुप्रयासो को इस रूप मे सुव्यवस्थित एवं संगठित करना है कि न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो सके। सगठित प्रयास से सीमिततम साधनो से रोजमर्रा जीवन की अधिक से अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव हो सके। संगठित प्रयासो से सीमिततम साधनो द्वारा असीमित लक्ष्यो का अधिकतम परितोष प्राप्त करने का नाम ही आर्थिक सगठन है।"[3]

रूथ बुनजेल ने अर्थव्यवस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "शारीरिक अस्तित्व की समस्याओ से सम्बन्धित व्यवहार के सम्पूर्ण सगठन को अर्थव्यवस्था कहते हैं।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अर्थव्यवस्था वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज या समूह के एक विशिष्ट प्राकृतिक पर्यावरण प्रौद्योगिकीय स्तर और सांस्कृतिक परिस्थितियो की सीमाओ के अन्तर्गत भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए किए गए समस्त कार्यों का समावेश होना है।

रेमण्ड फर्थ (Raymond Firth) के अनुसार "यह मानव कार्यकलापों का वह विस्तृत क्षेत्र है जिसका सम्बन्ध साधनो के परिसीमित उपयोग एव सरक्षण मे है। इस प्रकार मनुष्य विवेक के द्वारा आवश्यकताओ मे तारतम्य स्थापित करता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि "अर्थव्यवस्था वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज या एक समूह के एक विशिष्ट प्राकृतिक पर्यावरण प्रौद्योगिकीय स्तर और सांस्कृतिक परिस्थितियो की सीमाओं के अन्दर भौतिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए किए गए समस्त कार्यों का समावेश होता है।"[4] आर एन मुखर्जी की यह परिभाषा सामान्यत प्रत्येक प्रकार के आदिम या आधुनिक समाज की अर्थव्यवस्था की व्याख्या प्रस्तुत करती है। लेकिन प्रत्येक समाज की अर्थव्यवस्था मे कुछ न कुछ भिन्नता इसलिए होती है

1 *Lucy Mair* op cit., p 150
2 *Beals & Hoijer* op. cit, p 227.
3 *D. N Majumdar & T N Madan*, op cit, p 188
4 आर. एन मुखर्जी : भारतीय जनता एव सस्थाएँ, पृ 55

क्योंकि अर्थव्यवस्था को कुछ सीमाओं के अन्तर्गत करना होता है। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही सगठित करना होना है। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत वे सभी संस्थाएँ सम्मिलित की जाती हैं जो समाज मे उत्पादन, उपभोग एवं धन के वितरण से जुड़ी हैं। ये संस्थाएँ मूलभूत आवश्यकताओं के साथ ही अन्य द्वितीयक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करती हैं।

प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों का अस्तित्व कायम रखने के लिए उनकी मूल आवश्यकता की पूर्ति अपने-अपने तरीके से करता है। प्रकृति जो उनकी प्रथा, परम्परा एव जनांककीय गठन पर निर्भर करती है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति मे सहायक होती है। अतः उन लोगो द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक ही प्राकृतिक वातावरण मे भी विभिन्न आर्थिक विधियों का विकास हुआ है परन्तु विस्तृत परिभाषाओं के आधार पर बहुत से विद्वानो ने उनमे विस्तृत रूप से वितरित जीविका कमाने के तरीको को वर्गीकृत कर दिया है।

सभी यह मानते हैं कि छोटे आकार वाले समाजो मे वस्तुओं का उत्पादन, विनिमय और उपयोग होता है। कुछ लोग यह नही मानते कि वे आर्थिक हिसाब-किताब करते हैं। कहा जाता है कि इनमे दूरदृष्टि का अभाव है सापेक्ष मूल्यों का कोई ज्ञान नही है, वे वर्तमान उपभोग को भविष्य के लिए स्थगित नही कर सकते और उनका आदर्श व्यावसायिक व्यक्ति नहीं होता। बहुत से अर्थशास्त्री, जो निम्न आय वाले देशो का उत्पादन बढाने के इच्छुक है, इस प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं। कुछ लोग अपनी कठिनाइयों का कारण जनता मे अर्थबोध का अभाव बतलाते हैं।

समकालीन मानवशास्त्री की सभी पुस्तकों मे इस प्रश्न का विश्लेषण नही पाया जाता। सभी सामाजिक मानवशास्त्रियों से अपेक्षा की जाती है कि वे लोगो की जीविका, खाद्य-साधन, परिवेश मे पाए जाने वाले साधनो का उपयोग, श्रम-सगठन, कार्य-विभाजन तथा उनकी बहुमूल्य सम्पत्ति का अध्ययन करेंगे। तकनीक का विवरण सामान्यत सस्कृति के अध्येताओं पर छोड दिया जाता है। इस प्रकार के विवरण को खाद के विषय मे निरर्थक बकवास की सज्ञा दी गई है। कुछ मानवशास्त्री यह हिसाब करते हैं कि किस काम मे कितना समय लगता है। विभिन्न वस्तुओं के कार्यकलापों का वर्णन, वर्ष भर के दैनिक कार्यक्रम की विभिन्नता का विवरण, आधुनिक क्षेत्रीय शोध-प्रतिवेदन के लिए अनिवार्य है। अधिक सूक्ष्म विश्लेषण के लिए प्रशिक्षित अर्थशास्त्री की विचार पद्धति आवश्यक है जो कि कुछ ही मानवशास्त्रियों मे पाई जाती है। इन लोगों ने जो काम किया है, उसे सभी छोटे समाजो के अध्येताओं को समझना चाहिए।

इन समाजो मे निर्वाह अर्थव्यवस्था (Substantive Economy) विद्यमान है। इसका अर्थ यह नही कि वे सिर्फ निर्वाह के लिए ही उत्पादन करते हैं, बल्कि वे अपने उत्पादन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा करते हैं। वे उनको

मुद्रा के माध्यम से दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए बदलने मे रुचि नही रखते, जैसा औद्योगिक-जगत् की विनिमय पर आधारिक अर्थव्यवस्थाओं मे होता है। मानवशास्त्रियो ने बहुत दिनों से तीन प्रकार की निर्वाह अर्थव्यवस्थाओ का उल्लेख किया है—एक, जो जगली पशुओ के शिकार तथा जगली कन्द और फलो के सचय पर निर्भर है, दूसरी, जो पालतू पशुओ पर निर्भर है और तीसरी, जो कृषि या पशुपालन मिश्रित कृषि पर आधारित है। ये तीन प्रकार मानव विकास के भिन्न साधनो का प्रतिनिधित्व करते हैं। अब उन्हे एक तर्कसगत योजना के रूप मे देखा जा सकता है, जिसमे प्राविधिक ज्ञान के भिन्न भिन्न स्तरो मे अन्तर परिलक्षित हो सकता है। सूक्ष्म अर्थशास्त्रीय विश्लेषण सिर्फ कृपक समाजो मे हुआ है।[1]

आदिम समाज की अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ (Main Characteristics of Economic System of Primitive Society)

आदिम समाज की अर्थव्यवस्था को सामान्यत जीविका अर्थव्यवस्था कहा जाता है। लेकिन इसका आशय यह नही है कि आदिम समाज के सदस्य केवल उतना ही उत्पादन करते हैं जितना कि उनके लिए आवश्यक है, लेकिन यह अवश्य है कि वे इतना उत्पादन अवश्य करना चाहते हैं जिससे उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाए। वे अपने उत्पादन का व्यवसाय नहीं करना चाहते अर्थात् अर्थशास्त्र मे जिसे विनिमय (Exchange) कहा जाता है उसे नही करना चाहते। साधारणतः यह भी माना जाता है कि लगभग प्रत्येक स्थिति मे जनजातियो के बीच मिश्रित अर्थव्यवस्था है। लेकिन वस्तुत किसी भी भारतीय जनजाति की अर्थव्यवस्था किसी भी दशा मे एक विशेष वर्ग के अन्दर नही रखी जा सकती। यह यथार्थ है कि एक जनजाति के लोग जीविकोपार्जन के लिए अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए निमिन अनेक साधनो का उपयोग करते हैं। वे जगल मे पैदा होने वाली विभिन्न वस्तुओं के सग्रह को कृषि या कृषि के साथ स्थानान्तरण को समावेशित करते हैं। अर्थात् सिर्फ खाद्य सग्रह के साथ साथ कृषि लोगो की जटिल अर्थव्यवस्था का अपना प्राथमिक साधन है और यह उनके वर्गीकरण को विशेषीकृत करता है। मानवशास्त्रियो ने आदिम समाज की जीविका अर्थव्यवस्था को मुख्यतया तीन प्रकारो मे रखा है। पहला प्रकार वह है जिसमे आदिम समाज के लोग जगली जानवरो के शिकार और खाद्य सग्रह द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं। दूसरी जीविका अर्थव्यवस्था पशुपालन है। जीविका अर्थव्यवस्था का तीसरा स्वरूप कृषि है। कभी कभी इन तीनो अवस्थाओ को उद्विकास मे भी देखा जाता है। आज के सन्दर्भ मे इसे तार्किक रूप मे देखना चाहिए जिससे कि हम आदिवासियो के तकनीकी ज्ञान के विभिन्न स्तरो मे अन्तर कर सकें।

1 *Lucy Mair* · op cit, p 150-151

सामान्यतः भारत एव अन्यत्र पाए जाने वाली आदिम अर्थव्यवस्था मे निम्नांकित विशेषताएँ है—

(1) आदिम अर्थव्यवस्था मे प्राकृतिक साधनो के प्रयोग मे तकनीकी उपकरणो के उपयोग का अभाव रहता है। इसलिए अक्षम, अपर्याप्त एव अपव्ययी होती। जैसे कुल्हाडा कृषि के सम्बन्ध मे द्रष्टव्य है। फलस्वरूप आदिम लोग अपने भरण पोषण की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी कठिनाई से पूरी कर पाते है।

(2) आदिम समाजो मे प्राय. सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओ को धर्म और जादू-टोना से मिला देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। अर्थात् उनका विश्वास है कि धर्म और जादू के बिना आर्थिक क्रियाओ मे सफलता असम्भव है।

(3) आदिम अर्थव्यवस्था मे उत्पादन तथा वितरण पर जितना बल दिया जाता है उतना विनिमय पर नही और न ही विनिमय के महत्व को जानते हैं।

(4) आर्थिक वस्तुओ का उत्पादन विनिमय के लिए नही होता। इसलिए मुद्रा का उपयोग भी उतने व्यापक रूप से नही होता जितना आधुनिक समाज मे। जनजाति के आन्तरिक आर्थिक सम्बन्ध 'बारटर' (Barter) के रूप मे प्रचलित है।

(5) इनमे मुनाफा वृत्ति का अभाव है। ऐसा पारस्परिक दायित्व, सहभागिता एव सामूहिक सुदृढता की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है।

(6) इन समाजो मे इनोवेशन की प्रवृत्ति कम होती है। फलस्वरूप इनमे द्रुत प्रगतिशीलता कम स्थिरता अधिक होती है।

(7) आदिम अर्थव्यवस्था के नियमित बाजार का सस्थात्मक रूप नही पाया जाता। यहाँ साप्ताहिक हाट या त्योहारो पर लगने वाले बाजार अवश्य देखे जाते है।

(8) आदिम लोगो की अधिकांश आर्थिक क्रियाएँ उपभोक्ता वस्तुओ पर केन्द्रित रहती हैं न कि उत्पादन वस्तुओ पर। उपभोक्ता वस्तुओ का उपभोग किया जाता है न कि बचा कर रखा जाता या सग्रह किया जाता हैं।

(9) विशेषीकरण का अभाव है किन्तु श्रम-विभाजन व्यापक रूप से पाया जाता है।

(10) व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति की धारणा प्रत्येक आदिम समाज मे किसी रूप मे पाई जाती है, विशेषकर, उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे जो एक व्यक्ति या परिवार बनाता हैं।

(11) आदिम समाजो मे उपहार विनिमय का एक माध्यम होता है। इन समाजो मे मुद्रा के स्थान पर उपहार ही विनिमय का आधार माना जाता है।

(12) आदिम समाजो मे आतिथ्य सत्कार आर्थिक सेवा के रूप मे देखने को मिलता है।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था को समझने के लिए हमे उत्पादन सगठन (Production Organization) को समझना अनिवार्य है। लगभग सभी मानवशास्त्री यह मानते है कि छोटे आकार वाले समाजो मे वस्तुओ का उत्पादन, विनिमय और उपभोग होता है। यद्यपि कुछ लोग यह नही मानते कि वे आर्थिक हिसाब-किताब करते। कहा जाता है कि उनमे दूरदृष्टि का अभाव है, सापेक्ष मूल्यो का कोई ज्ञान नहीं है, वे वर्तमान उपयोग को भविष्य के लिए उपयोग नही करते और उनका आदर्श व्यावसायिक व्यक्ति नही होता। सामाजिक मानवशास्त्रियो से यह अपेक्षा की जाती है। वे ऐसे छोटे समाजो के लोगो की जीविका खाद्य साधन परिवेश मे पाए जाने वाले साधनो का उपयोग श्रम-सगठन, कार्य-विभाजन तथा उनकी सस्कृति सम्पत्ति का अध्ययन करें। कुछ मानवशास्त्री यह हिसाब करते है कि किस काम मे कितना समय लगता है।

लूसी मेयर ने अपनी कृति 'एन इन्ट्रोडक्शन ऑफ सोशियल एन्थ्रोपोलोजी' मे आदिम समाजो की अर्थव्यवस्था का उल्लेख उत्पादन सगठन के रूप मे किया है। उत्पादन सगठन के निम्नांकित महत्वपूर्ण बिन्दुओ का उल्लेख लूसी मेयर ने किया। हम यहाँ वह उद्धृत कर रहे है।[1]

(1) श्रम-विभाजन (Division of Labour)

इस विषय पर अपनी पुस्तक मे इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim) ने पहले पहल विभिन्न प्राविधिक स्तरो पर उत्पादन-सगठन के गूढ अर्थ का विवेचन किया। अर्थशास्त्रीय शब्दो मे दुर्खीम विशेषज्ञो वाले तथा विशेषज्ञ रहित समाजो मे अन्तर करता है। दूसरे प्रकार के समाज मे आर्थिक सहयोग का अर्थ गैर-विशेषज्ञो का एकत्र होना है। पहले मे विशेषज्ञो का सहयोग होता है। प्रत्येक का सहयोग उस काम की सफलता के लिए अत्यावश्यक है। सारी आर्थिक व्यवस्था को कायम रखना भी उसी का काम है। पहले मे यदि आधे श्रमिक काम पर नही आएँ तो भी काम धीरे-धीरे पूरा हो सकता है, पर दूसरे मे काम ठप्प हो जाएगा। पहले मे यदि दुर्खेइदम पूरा-पूरा हिसाब लगाता है तो पता चलता है कि अधिकांशत छोटी इकाइयो द्वारा स्वतन्त्र रूप से उत्पादन होता है। ऐसी इकाइयाँ परिवार या घर है, जिनकी सरचना एक ही प्रकार की है और सभी एक ही प्रकार का कार्य करते हैं।

पर वास्तव मे कार्यों के आवटन और क्षमता म सम्बन्ध हुआ करता है। सामाजिक विभेदीकरण के सिलसिले मे पुरुष और स्त्री के बीच कार्य-विभाजन का उल्लेख किया जा चुका है। कभी-कभी इनका समोदन धार्मिक या जादुई विचारो से होता है, जैसे यह धारणा कि स्त्रियो का मर्जेनियो म सम्पर्क होने म विपत्ति की सम्भावना है। अधिकांश समाजो मे स्त्रियाँ कुछ कामो के लिए अक्षम समझी जाती हैं। न्यूगिनी के सियान (Siane) समझते हैं कि स्त्रियाँ कुल्हाडी

1 *Lucy Mair* op cit, p 151-160

नहीं चला सकती । कुछ काम मर्द अपनी मर्यादा के विरुद्ध मानते हैं । अफ्रीका के कुछ भागों में सम्पूर्ण कृषि या उसके कुछ कामों को इसी वर्ग में रखा जाता है। बच्चे अपनी उम्र के योग्य काम करते हैं। जहाँ स्कूल नहीं हैं वहाँ वे इसी प्रकार प्रशिक्षित होते हैं। छोटे बच्चे बकरियाँ चराते हैं, लड़कियाँ पानी लाती हैं या छोटे बच्चों को सम्भालती है। जंबिया की बैंबा जाति में खेत की उर्वरता बढ़ाने के लिए चलाएं जाने के हेतु ऊँचे वृक्षों की डाल काटने का काम, क्रियाशील युवकों को दिया जाता है।

(2) विशेषज्ञ (Specialist)

कोई ऐसा समाज नहीं है जिसमें बुनकर, कुम्हार और बढ़ई जैसे विशेषज्ञ नहीं हैं। यह औद्योगिक समाज के विशेषज्ञों से भिन्न है, क्योंकि इनका निर्वाह अपनी बनाई हुई वस्तुओं के बदले में भोजन और आवास प्राप्त करके नहीं होता। प्रत्येक कारीगर अपनी खाद्य-सामग्री भी जुटाता है। वह अपना दैनिक निर्वाह नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक गृहस्थ अपनी ही खाद्य-सामग्री का प्रबन्ध करता है। कारीगर अपने अवकाश के समय में काम करते हैं, जब बाहर के काम से, जैसे जानवर चराने और शिकार करने से, अवकाश मिलता है। दूसरे लोग मामूली चीजें बनाते रहते हैं या गप्पें मारते और मदिरापान करते रहते हैं। वे बिरले ही अपनी वस्तुओं की संख्या बढ़ाते हैं, जिससे वे दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। वे न तो उनका प्रदर्शन करते है, फेरी लगाते हैं। उनकी वस्तुएँ यों ही पड़ी रहती है। जंबिया के टोंगाओं में यह विचित्र विश्वास प्रचलित है कि कारीगर का कौशल पूर्वजों की देन है। यदि वह इसका प्रयोग नहीं करता तो पूर्वज क्रुद्ध होंगे। अतएव वह सदा काम करता रहता है और अपनी बनाई हुई चीजों को अपने सम्बन्धियों को देता है।

कई अफ्रीकी समाजों में कारीगर राजदरबार से सम्बद्ध रहते थे और वे अपने कौशल से निर्मित वस्तुएँ शासकों को देते थे। इससे अफ्रीकी कला को निश्चय ही बहुत प्रोत्साहन मिलता था। विशिष्टीकरण के विकास का दूसरा कारण व्यापारिक सम्बन्धों का विस्तृत क्षेत्र था। पश्चिमी अफ्रीका में बने खासकर स्वर्णधूल और चमड़े के सामान रोमन काल से ही भूमध्यसागर के तट पर पहुँचने आए थे। जब अरब उत्तरी अफ्रीका में आए और सहारा के आर-पार कारवाँ मार्ग विकसित हुए तो विस्तृत व्यापार आरम्भ हुआ। इससे यूरोप-वासियों को इस अनजान क्षेत्र के अपार धन का पता चला।

इस क्षेत्र के कारीगर श्रेणियों में संगठित थे। ऐसी समितियाँ मध्यकालीन यूरोप में पाई जाती थी और उन्हें अपने कौशल के कारण विशेष अधिकार प्राप्त थे। अशांटी सुनार वे आभूषण पहन सकते थे, जो केवल मुख्य शासकों के लिए बनाए जाते थे। कहीं-कहीं सारे गाँव में एक ही दस्तकारी पाई जाती थी और आज भी नाइजीरिया में हम बुनकरों के पूरे गाँव पाते हैं। शहरों में मध्य यूरोप की तरह प्रत्येक श्रेणी अपने मुहल्ले में रहती थी। सन् 1934–36 में अध्ययन के आधार

पर एस एफ नडेल ने उत्तरी नाइजीरिया के नूप राज्य मे श्रेणियो के कार्यकलापो का विस्तृत वर्णन किया है। वहाँ लुहार, कसेरा, चाँदी, शीशा और मनको का काम करने वाले तथा बुनकर प्रत्येक शहर मे श्रेणियो मे सगठित थे। श्रेणी की सदस्यता पैतृक थी, क्योकि पुत्र अपने पिता का ही काम करता था। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान होता था। इसके पद की पहचान उसकी उपाधि से होती थी। कचहरी के किसी भी मामले मे वह अपने सदस्यो की ओर से बोलता था। राजा उसी के द्वारा श्रेणी को काम देते थे। 1935 मे नूप राजा ने एक नया घर बनवाया, जिसके लिए कीटियाँ और अन्य सामान लुहारो की श्रेणी द्वारा बनाया गया। पुरस्कार के रूप म शासक ने श्रमिको को खाद्य-सामग्री दी।

भारत मे जाति-व्यवस्था क माध्यम से सिद्धान्तत: सारे लोग विशिष्ट पेशो मे विभक्त हैं। लेकिन जैसा पहले कहा जा चुका है, सभी लोग वही काम नही करते, जो उनकी जाति का पेशा है। वस्तुतः जाति इसी अर्थ मे विशिष्टीकरण निर्धारित करती है, जिसमे उच्च वर्ग के लोग ऐसे पेशो मे न जाएँ, जिनसे उनके अनुष्ठान अपवित्र हो। ग्रामीण समुदाय मे श्रम-विभाजन इसी व्यवस्था के आधार पर है। बेली ने उडीसा मे बिसीपाडा ग्राम में व्यवस्था का वर्णन किया है। इस गाँव की भूमि के परम्परागत स्वामी योद्धा जाति के लोग थे, जिनका वहाँ के चावल-उत्पादन पर नियन्त्रण था। दूसरी जातियो के लोग गाँव के सेवक थे। ब्राह्मणो की जाति सबसे ऊँची थी, फिर भी वे पूजा-पाठ के द्वारा गाँव की सेवा करते थे। नाई, धोबी, मन्दिर के पुजारी, भंगी और ग्वाले अपनी सेवा के बदले फसल के समय उपज का एक हिस्सा पाते थे। विशेष सेवाओ के लिए उन्हें अलग से चावल दिया जाता था। खेत मे काम करने वाले अस्पृश्यो को श्रमिको के रूप म भूमिपति अपने पास रखते थे और उन्हें भण्डार से खिलाते थे। यद्यपि विश्व-व्यापार के सम्पर्क से इन सम्बन्धों मे कुछ परिवर्तन हुए हैं, फिर भी यह वर्णन प्राय सत्य ही है और दिखलाता है कि जाति-व्यवस्था पहले कैसे काम करती थी।

छोटे समाजो मे उत्पादन की विशेषता यह है कि कारीगर कुछ अर्थ म जादूगर भी होते हैं। यदि ऐसा नही भी है तो उसका काम ऐसे नियमो और पूर्व-विधानो मे घिरा हुआ है, जिसे जादुई कहा जा सकता है और जिसका वर्णन वे जादुई सन्दर्भ मे करते हैं। इसके ज्वलन्त उदाहरण दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त महासागर मे पाए जाते हैं। 'ट्रोब्रियण्ड द्वीप' मे समुद्री डोंगी बनाते के समय कई मन्त्रो का उच्चारण करना पड़ता है, जिससे वह तज चले, समुद्र मे जा सके और अपने स्वामी के लिए यशोपार्जन करे। टिकोपिया मे नाव बनाने के समय तथा मछली मारने वाला जाल बनाने के समय कुछ रस्मे की जाती हैं। दोनो को देवताओ के सरक्षण मे औपचारिक रूप से सौंपा जाता है और बनाने के कार्यक्रम मे बीच-बीच मे इस प्रकार की रस्मे होती हैं। देवताओ से यह आशीर्वाद माँगा जाता है कि वे अपने काम मे चतुर हों। अफ्रीका म प्राविधिक कार्यकलापों को जादू से तीव्रतर बनाने की प्रक्रिया कम पाई जाती है। पर लुहारो और कुम्हारो जैसे काम निषेधो

तथा आनुष्ठानिक पूर्व-चिन्ताओ से घिरे होते हैं। स्त्रियो को कार्यरत लुहार के पास जाने की मनाही है।

मेलिनांस्की ने स्पष्ट रूप से यह दर्शाया कि इन कार्यकलापो का मतलब यह नहीं है कि आदिम जातियाँ अपने व्यावहारिक कामो मे जादू टोना पर ही निर्भर रहती हैं और उन्हे प्राविधिक सिद्धान्तो की समझ नही है। उसने बतलाया कि ट्रोब्रियड-निवासी नाव को स्थिर बनाना अच्छी तरह जानते थे। विभिन्न लकडियो के लक्षण भी वे जानते थे और नौका-निर्माण-अनुष्ठानो से निर्माताओ को अपने काम की सफलता मे विश्वास प्राप्त होता था। फर्थ इससे सहमत है पर कहना है कि अनुष्ठान प्राविधिक कार्यक्षमता मे बाधक हो सकता है। उसमे जो समय लगा, वह काम खत्म करने मे लग सकता था। इससे लोग नए तरीको का प्रयोग नही कर सकते, क्योकि ऐसा करने से यदि असफलता मिली तो उसका कारण प्राविधिक त्रुटियो को न मानकर अनुष्ठानो को पूर्ण करने मे त्रुटियाँ माना जाएगा। पर नौका निर्माण के सिलसिले मे वह हमारा ध्यान धार्मिक विश्वास के एक पहलू की ओर आकर्षित करता है, जो बराबर काम के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। वह यह धारणा है कि जिस देवता को नाव अर्पित की गई है, वह उसे भग्न अवस्था मे देखकर नाराज होता है।

(3) श्रम संगठन (Labour Organization)

किसी भी समाज मे, चाहे वह कितना भी जटिल क्यो न हो, प्रत्येक व्यक्ति विशेषज्ञ नही होता। एक छोटी गृहस्थी से बडी श्रम-शक्ति का सगठन, विशेषज्ञो के कौशल तथा अकुशल श्रमिको की शारीरिक शक्ति के एकीकरण पर निर्भर है। अर्थशास्त्रियो ने यह प्रश्न उठाया है कि मुद्राविहीन समाजो मे श्रमिक कैसे भर्ती होते हैं, निर्देशित और पुरस्कृत होते हैं।

श्रमिको की भर्ती के लिए उचित दर पर विज्ञापन नही निकाला जाता और न आवेदन-पत्र लिए जाते हैं। कोई अपने खेत मे काम करे या मछली मारे या अपने पडोसी का घर बनाने मे मदद करे, वह भौतिक लाभ के हिसाब-किताब पर निर्भर न होकर सामाजिक सम्बन्धो पर निर्भर होता है।

अफ्रीका के बहुत-से भागो मे जब काम जल्दी करवाना होता है, खास करके बरसात के आरम्भ होने के समय खेत को बुवाई के योग्य बनाने के लिए, कृषक समाजो मे लोग अपने पडोसियो से सहायता की अपेक्षा करते हैं, चाहे वे कुलांश-बन्धु हो या न हो। पश्चिमी केनिया की गुसी जाति (Gusii Caste) मे सहकारी समूह का नाम 'रिका' (Rika) है। वे गाँवो मे नही रहते, बिखरे घरो मे रहते हैं। 'रिका' का अर्थ 'उस क्षेत्र के लोग' है, जो आवश्यकता पडने पर मदद के लिए आ सकते हैं। इसी क्षेत्र मे रहने वाले किपसिगी (Kipsigis) मे ऐसे ग्राम अधिकारी हैं, जो यह तय करते है कि किसके खेत पर काम करने की बारी है। युवक कही-कही टोलो बनाकर अपनी सेनाएँ अर्पित करते हैं। विवाहेच्छु युवक

अपने आयु समूह के लोगों के साथ अपने भावी ससुर के खेतों में काम करता है। सहकारिता परिस्थिति पर निर्भर होती है और उस सामाजिक सम्बन्ध पर, जो मदद देने वाले और मदद पाने वाले के बीच है। एकात्मक परिवार तथा घर जैसे छोटे कार्य समूह में काम करने वालों को फल की आशा नहीं रहती। इसी प्रकार परिवार का काम चलता है और वह दूसरों के प्रति अपना दायित्व निभाता है। बाहरी लोग, जिनको यह विकल्प रहता है कि सहयोग का दायित्व पूरा करें या नहीं या उन पर ऐसा दायित्व है भी या नहीं, उन्हें भोजन और पेय दिया जाता है। ऐसे भी उदाहरण हैं कि काम स्त्रियाँ करती हैं और पुरस्कार में उनके पतियों को शराब की पार्टी दी जाती है।

जिन मानवशास्त्रियों ने ऐसी बातें लिखी हैं, वे अर्थशास्त्री नहीं हैं। सहकारी श्रम के संगठन और पुरस्कार का अर्थशास्त्रीय विश्लेषण हम पहले मेलिनॉस्की के ट्रोब्रियंड द्वीप के अध्ययन में पाते हैं। मैलीनेशियन क्षेत्र में इस प्रकार के अन्य अध्ययन भी इसके बाद हुए हैं।

नाव निर्माण और उसका उपयोग, जो इस भाग की विशेषता है, सहकारी उत्पादन, उपक्रम (Entrepreneurship) श्रम प्राप्त करने और उसके पुरस्कार के तरीकों के विश्लेषण के लिए अच्छी सामग्री प्रस्तुत करता है। नाव के निर्माण और उसकी मरम्मत में काफी श्रम लगता है और बिना नाविकों के वह समुद्र तो क्या, तटवर्ती पानी में भी मछली मारने नहीं जा सकती।

श्रमिक या नाविक कौन होते हैं और उन्हें क्या मिलता है? उसका स्वामी कौन है? क्या वही उसके लिए पैसा भी देता है और वह भी किस अर्थ में? वह ऐसा कैसे बन जाता है? टिकोपिया में कोई गृहपति नाव-निर्माण का संगठन कर सकता है पर केवल उच्चपदस्थ लोग ही अपने नावों को देवताओं और पूर्वजों को अर्पित करते हैं। अर्पण का काम शासक या कुल का प्रधान ही कर सकता है। पवित्र नाव को समय समय पर देवताओं को चढ़ाना पड़ता है। इससे शासक को उस पर अधिकार प्राप्त हो जाता है, इसलिए नहीं कि नाव के निर्माण में उसकी आर्थिक देन अधिक है, बल्कि इसलिए कि आवश्यक अनुष्ठान पर उसका एकाधिकार है। केवल विशाल आकार में बनाई गई, गहरे समुद्र में मछली पकड़ने के काम आने वाली नावें ही देवार्पित होती हैं। अर्पण के लिए उन्हें फिर अलंकृत किया जाता है, जो तकनीकी दक्षता के लिए आवश्यक नहीं है।

रेमण्ड फर्थ ने एक पवित्र नाव की मरम्मत होते देखा था। यह नाव काफिला के अरिकी (प्रधान) के कहने पर बनी थी। इसलिए वह इसका स्वामी था। उसने अपने निकट सम्बन्धी तथा पड़ोसियों को इस काम के लिए निमन्त्रण दिया। उसने कुशल बढ़इयों की सेवाएँ भी प्राप्त कीं। इसमें उसका भांजा भी था। जब दूसरे लोगों ने सुना कि काम चालू है तो वे उसमें सम्मिलित हुए।

शासक और उसके पुत्र ने एक पेड़ को काटकर गिराया। जिस व्यक्ति की भूमि में पेड़ था, उसे कुछ दिया नहीं गया। इस पर कुछ आलोचना हुई, पर पेड़ को 'मुफ्त

की वस्तु' मान लिया गया। लकडी की आपूर्ति पर अधिकार होने से ही शासक यह काम शुरू नहीं कर सका। लकडी का कुंदा बीस आदमियों द्वारा खींचकर तट पर लाया गया। इन आदमियों को शासक और उसके पुत्र ने सहायता देने के लिए कहा था। ये लोग उनके कुल-बन्धु नहीं थे, पर सभी पडोसी एवं मातृपक्षीय बन्धु और विवाह-जन्य बन्धु थे। उन्हें तुरत तोडे गए नारियल के फलों से पुरस्कृत किया गया।

टाउमाको कुल के एक आदमी ने कुशल नक्काशी का काम किया। उसके पास एक जादुई छेनी थी, जिसमे यह गुण था कि जिस काठ पर उसे चलाया जाता था, उसके कीडे मर जाते थे। इस आदमी का भाई शुरू मे नौका-निर्माण का कुशल बढई था। चार आदमी इसके निर्देशन मे नैया बनाने मे लगे थे। जब उसे नाव मे लगाना था तो छ आदमी उसे उठाने मे लगे और उसे नाव के सिरे पर पकडे रहे। काफी लोग चारो ओर जमा थे। एक समय तो उनकी संख्या छब्बीस थी। वे बारी-बारी से काम करते थे। कुछ लोग श्रमिक दल के लिए भोजन बनाने मे लगे थे। इन लोगो के लिए जो अतिरिक्त भोजन आवश्यक था, उसे शासक के विवाह-जन्य बन्धुओ ने दिया था। उसे पकाना भी उन्हीं का काम था। वहाँ जो भी मौजूद थे, चाहे उन्होंने काम किया हो या नहीं, भोज मे सम्मिलित हुए।

(4) श्रम के लिए पुरस्कार (Gift for Labour)

जब काम खत्म हो गया तो शासक के निकट सम्बन्धियो को छोडकर सभी को घर ले जाने के लिए एक-एक टोकरी भोजन दिया गया। नक्काशी मे पारगत व्यक्ति को वृक्ष की छाल का एक बडल दिया गया और टाउमाको कुल के प्रधान को छेनी के मालिक होने के नाते भोजन का उपहार भेजा गया। नैया बनाने के लिए जिस व्यक्ति ने पेड काटकर गिराने मे शासक की मदद की थी, उसे पेड की छाल का एक टुकडा मिला। काठ मे छेद करने वाले बरमा के मालिक को भी भोजन का उपहार भेजा गया।

काम के बदले मे या तो शासक की ओर से लोगो को भोजन मिला या विशेष योगदान के लिए उपहार दिया गया। पर स्पष्टतया लोगो ने अन्य काम छोडकर इस काम मे सिर्फ इसलिए हाथ नहीं बटाया कि उन्हें भोजन मिले। फर्थ के विचार से वे अभौतिक बातो से प्रभावित थे, जैसे बन्धुत्व और पडोस के दायित्व, शासक की इच्छाओ के प्रति जनता का सम्मान, बाद मे मछली-मारक अभियान की सदस्यता की आशा। इन बातो को प्रबल बनाने के लिए यह धार्मिक विश्वास था कि देवताओ को अर्पित नाव को अच्छी दशा म रखना चाहिए। दायित्वो से कुछ प्रतिबन्ध उत्पन्न होते हैं, लेकिन दायित्व पूर्ण करने से आत्म सन्तोष होता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। नाव निर्माण करने वाला व्यक्ति कोई दूसरा काम करके अधिक भौतिक लाभ प्राप्त कर सकता था, लेकिन वह यह नहीं सोचता कि इसमे उसे उतना ही भौतिक लाभ हो, जितना उसने खो दिया है।

गृह निर्माण के लिए भी श्रम के बदले मे पुरस्कार इसी सिद्धान्त पर दिया जाता है। घर के निर्माण मे बहुत कुशल कारीगर लगते हैं, जिन्हे वक्कल वस्त्र तथा चटाइयाँ देकर पुरस्कृत किया जाता है। काम समाप्त होने पर वे और अकुशल सहायक एक साथ खाना खाते हैं। आसपास जो लोग रहते हैं उन्हे भी भोजन मिलता है। यह नही पूछा जाता कि उन्होने इसमे काम किया है या नही। जिस आदमी का घर बनता है, उसके विवाह जन्य बन्धु अतिरिक्त भोजन की आपूर्ति करते है।

(5) आदिम उद्यमी

(Primitive Entrepreneur)

ट्रोब्रियड द्वीप मे गाँव का मुखिया या ग्राम समूह का शासक समुद्री नाव के निर्माण का आयोजन करता है। वही कुशल और अकुशल श्रमिक एकत्र करता है और उन्हे पुरस्कृत करता है। वह अपने निकट बन्धुओ से आशा करता है कि वे काम खत्म हो जाने तक लगातार काम करते जाएँगे। पर जब अधिक श्रमिको की आवश्यकता होगी तो सारा गाँव या बाहर के लोगो को भी बुलाया जाएगा। काठ के कुंदे को छीलना, काटना कुशल निर्माता या काम शुरू करने वाले मुखिया के निकट बन्धुओ और पडोसियो का काम है। वे अपने अवकाश मे यह काम करते हैं और इसम दो से छ महीने तक लग सकते हैं। तब निर्माण का दूसरा चरण शुरू होता है। इसमे एक बडे श्रमिक दल को कुछ दिनो के लिए निर्माण रगने के काम एव पाल बुनाने मे लगाया जाता है। नाव के समुद्र मे प्रवेश करने के समय औपचारिक रूप से लोगो मे भोजन बाँटा जाता है और श्रमिक अपना पुरस्कार पाते हैं।

ट्रोब्रियड और निकटवर्ती द्वीपो मे समुद्री यात्राओ का उद्देश्य बहुमूल्य वस्तुओ का औपचारिक विनिमय है, जिसका वर्णन अगले अध्याय मे किया जाएगा। कभी कभी गाँव की सभी नावें एक व्यक्ति के नेतृत्व मे साथ मिलकर यात्रा पर निकलती हैं। जब ऐसा जल पोत निकलता है तो एक दिन की यात्रा के बाद इसका नेता प्रत्येक नाव को बारी बारी से औपचारिक रूप से भोजन वितरित करता है। यह यात्रा काल मे निष्ठापूर्ण मित्रता के लिए अग्रिम पुरस्कार है। इससे वे आभारी बन जाते हैं और चाहे मौसम खराब हो या कोई विपत्ति आए, वे लौट नही सकते।

ऐसे उद्योगो के अधिष्ठाताओ के पास फालतू भोजन का प्रचुर भण्डार होना चाहिए। ट्रोब्रियड शासक को आवश्यकतानुसार अपने बन्धुओ तथा विवाह जन्य सम्बन्धियो से कद और सुअर प्राप्त हो जाते हैं। वह एक ग्राम-समूह का शासक इसलिए है कि सभी गाँवो के साथ उसके वैवाहिक सम्बन्ध हैं। उसकी पत्नियो के भाइयो का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी बहनो को अपने खेतो की उपज दें। एक विवाही पुरुष ऐसी व्यवस्था से लाभान्वित नही हो सकता, क्योंकि उसे अपनी बहन के लिए खेत की उपज भेजनी पडती है, पर बहु पत्नी विवाह वाले पुरुष इससे काफी लाभ उठाते हैं। उनके बन्धु उसे हिस्सा इसलिए देते हैं कि उसकी उदारता से जो प्रतिष्ठा मिलती है, उससे वे गौरवान्वित होते हैं। दूसरे मेलानेसियन

समाजो मे जो लोग सामुदायिक कामो का संगठन करते हैं, जैसे गृह-निर्माण या उसकी मरम्मत, वे अपनी ही शक्ति या भोजन एकत्र करने की अपने सम्बन्धियो की क्षमता पर निर्भर रहते है।

मेलिनॉस्की का कहना था कि अपनी ससुराल से प्राप्त खाद्य-उपहार को शासक का कर मानना चाहिए और शासक एक प्रकार से जनजातीय अधिकोष होता है। यह विवरण उन अफ्रीकी शासको के लिए ठीक है, जो अपनी राजनीतिक स्थिति के आधार पर लोगो से वसूल करते हैं और इससे अभावग्रस्त प्रजा की सहायता करते है। अकाल के समय वे एकत्र अनाज को बाँटते हैं। इस प्रकार का शासक एक अधिकोष माना जा सकता है। उसके पास साधन जमा रहते है, जिसे बाद मे निकाला जा सकता है। जिन मेलानेसियन समाजो मे पद नही होते, वहाँ ट्रोब्रियड शासक या बडे आदमी, जो किसी काम मे हिस्सा लेने वाले लोगो म बाँटने के लिए अनाज इकट्ठा करते हैं, एक प्रकार से वित्त प्रबन्धक हैं। कुछ लेखको ने इन्हे उद्यमी या प्रबन्धक की सज्ञा दी है।

यह स्पष्ट है कि कुछ ही लोग इस स्थिति मे हैं कि इन बडे पैमाने वाले कार्यों के लिए सम्पत्ति जुटा सकें। पर इन लोगो से मालिको का एक अलग वर्ग नही बनता। बहुत से लोग श्रमिक छोडकर कुछ नही हो सकते, लेकिन जो लोग बडे पैमाने के कार्य करने की स्थिति मे है, वे ऐसा नही सोचते कि उन्हे शारीरिक श्रम नहीं करना। उदाहरण के लिए फर्थ ने देखा कि शासक दो पुत्र और लोगो के साथ लकडी के कुन्दे को तट पर घसीटकर ले आए। कृषक अर्थव्यवस्था वाले समाज (जहाँ समुद्र का पूरा व्यवहार होता है) का उदाहरण हम मलाया का ले सकते हैं। मछली मारने वाली नाव का मालिक दूसरे नाविको के साथ स्वय भी मछली मारने जाता है। हर्स कोविट्स लिखता है कि डाहोमी का राजा भी कृषि के श्रम से मुक्त नही था। यद्यपि यह सभी अफ्रीकी राजाओ के लिए सत्य नही था, पर उनकी स्त्रियो को साधारण स्त्रियो की तरह खेतो मे काम करना पडता था।

नूप की अत्यन्त विभेदीकृत अर्थव्यवस्था का वर्णन नाडेल ने किया है। अध्ययन के समय दस्तकारी के सामान नकद बिकते थे। वहाँ के लोग पश्चिमी अर्थ मे उद्यमी प्रतीत होते हैं। बहुत से शिल्पो मे विस्तृत परिवार कार्य का इकाई होता था। बडे लोग कच्चा माल खरीदते थे और मूल्य प्राप्त करते थे। लुहारो मे विस्तृत परिवार से कही बडी इकाई आवश्यक थी। श्रेणी का प्रधान किसी भी सदस्य को लोहा खरीदने के लिए पैसा देता था। दरबार सबसे बडा ग्राहक था। जब दरबार से कोई काम मिलता था तो वह उसे कई कारखानो मे बाँट देता था। जब देय प्राप्त होता था तो आधे से कुछ अधिक अपने पास रखकर बाकी वह बाँट देता था। वह आधुनिक उद्यमी से इस रूप मे भिन्न था कि वह स्वय कुशल कारीगर था। देय मे उसका हिस्सा श्रेणी के सदस्यो को कुशल निर्देशन और परामर्श देने के लिए मिलता था और इसलिए भी कि उसने काम के लिए धन का प्रबन्ध किया था।

आदिम समाज मे आर्थिक दृष्टिकोण से अर्थव्यवस्था की उपयुक्त महत्वपूर्ण तथ्यो के अलावा जिन्हे हमने उत्पादन सगठन मे रखा, कुछ और भी महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं इनमे से प्रमुख निम्नांकित हैं—

(1) वस्तुओ का विनिमय (Barter)
(2) आदिम मुद्राएँ (Primitve Money)
(3) पूँजी (Capital)

यहाँ हम इन्हे थोडा विस्तार से विश्लेषित करेंगे।

(1) **वस्तुओं का विनिमय (Barter)**—आदिम समाजो के अर्थव्यवस्था के विभिन्न पक्षो को देखने से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इन समाजो मे वस्तु विनिमय प्रमुख रूप से दिखाई देता है। आर एफ सालजबरी ने लिखा है कि "अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत इन लोगो के क्रियाकलाप आते हैं जिसमे लोग अपने व्यवहार की ऐसी व्यवस्था करते हैं, वस्तुओ एवं सेवाओ के उत्पादन विनिमय और उपभोग का विवेकपूर्ण हिसाब लगाया जाए और इस तरह प्रतिद्वन्द्वी उद्देश्यो की पूर्ति कम से कम साधनो से हो सके। छोटे पैमाने वाले समाज छोटे इसलिए हैं कि उनमे दूर-संचार की व्यवस्था नही है। उनमे विनिमय के एक सामान्य माध्यम की भी कमी है। इससे वे क्रय-विक्रय का काम नहीं कर सकते, खासकर ऐसे लेनदेन, जिसमे दोनो पक्ष या तो मिलते ही नही या थोडी देर के लिए दुकान पर मिलते हैं। श्रमिक और मालिक के बीच एकसूत्री सम्बन्ध काम रखने के लिए भी उनके पास साधन नही है। मुद्रारहित समाजो मे सभी विनिमय ऐसे लोगो के बीच होते हैं, जिनके सम्बन्ध शाश्वत एव बहुसूत्री हैं।"

ऐसे विनिमय म अर्थशास्त्री सर्वप्रथम उसे स्थान देते हैं जिसमे एक पक्ष अपने बचे हुए सामान को दूसरे को इसलिए देता है कि उसके पास इसका अभाव है। अधिकतर ऐसे सामान बदल लिए जाते है, पर उनम भी बराबरी की कुछ भावना रहती है। कुछ समाजो मे वस्तुओ के विनिमय के ऐसे अवसरो का महत्व नही है।

वस्तुओ के विनिमय मे परस्परता (Reciprocity) की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है परस्परता वस्तु के वितरण या बँटवारे की वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत हम देखते हैं कि वस्तुओ का विनिमय लोगो के बीच हो रहा है। यह उन परिस्थितियो म नही होता जिनमे बाजार विनिमय होता है। इन परिस्थितियो मे विनिमय करने वाले लोगो मे सम्बन्ध सोपानिक भी नही होते हैं। अतः विनिमय से सामाजिक सम्बन्ध नहीं बनते बरन् सामाजिक सम्बन्धो से विनिमय की सम्भावनाएं बढती हैं। परस्परता के लिए अच्छा उदाहरण अपने बन्धुओं या स्वजनो के बीच वस्तुओ का आदान-प्रदान हो सकता है। विनिमय का दूसरा स्वरूप पुर्नवितरण का है। पोलानी के अनुसार पुर्नवितरण वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत वस्तुएँ प्रशासन के केन्द्र द्वारा एकत्रित कर ली जाती हैं और फिर केन्द्रीय अधिकारी उन वस्तुओ का पुनः बँटवारा करते हैं। वर्तमान मे इसका सबसे अच्छा उदाहरण कर-व्यवस्था है अर्थात्

राज्य कर वसूल करता है और फिर एकत्रित करके पुन वितरित करता है। इसी प्रकार विनिमय का तीसरा स्वरूप बाजार विनिमय है। बाजार विनिमय वस्तुओ का ऐसा विनिमय है जो माँग एव पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित होता है। विनिमय की दरें भी माँग एव पूर्ति के साथ ही वस्तु की मात्रा की उपलब्धता के आधार पर निर्धारित होती है।

जनजातियो मे वस्तु विनिमय मुख्यत उपहारो के आदान प्रदान (Gift Exchange) के रूप मे देखा जा सकता है। सरल समाजो मे उपहारो के महत्त्व पर दुर्खीम के शिष्य मार्शल मॉस ने एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। अपने सिद्धान्त मे उसने दो प्रमुख उदाहरण दिए थे कुला (Kula) एव पोटलैंक (Potlach)। मेलिनोस्की ने ट्रोब्रियड द्वीपो के अध्ययन के सिलसिले मे शख आभूषणो के आदान-प्रदान के लिए कुला समुद्री अभियानो का वर्णन किया है। उत्तर-पश्चिमी अमेरिका की कुछ जनजातियो मे सम्पत्ति के स्पर्धापूर्ण वितरण को पोटलैंक कहते हैं। मॉस के लेख के बाद उपहारो के आदान-प्रदान वाली कई व्यवस्थाओ का अध्ययन हुआ है। मानवशास्त्रियो ने उन उपहारो की सामाजिक महत्ता के विषय मे अपना ज्ञानवर्द्धन किया है, जिनके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रतिदान नही होता।

जनजातियो मे उपहार एव अतिथि-सत्कार आदि द्वारा वस्तुओ का आदान-प्रदान उनकी अर्थव्यवस्था का सामान्य अग है। उपहारों का उद्देश्य उत्पादन के वितरण द्वारा व्यक्तिगत एव सामूहिक सम्बन्धो मे स्थायित्व प्रदान करना ही प्रमुख होता है। अत उपहार आर्थिक एव सामाजिक दोनो दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण होता है। पिडिंगटन उपहार मे पारस्परिकता के सिद्धान्त को देखते हैं। इसके अन्तर्गत उपहार या वस्तु प्राप्त करने वाले का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह वस्तु देने वाले को लगभग उतनी ही वस्तु लौटाएगा। यह उसे तत्काल नहीं करना होता वरन् किसी उत्सव, त्यौहार अथवा मौका विशेष पर यह दायित्व निभाना होता है। इसमे प्राप्त करने और देखने वाले, दोनो मे घनिष्ठता एव कर्त्तव्य बोध पैदा होता है।

छोटे समाजो मे भी उपहार उन्ही सिद्धान्तो पर दिए जाते हैं। उनमे मोल-भाव नहीं होता। जो कुछ दिया जाता है, उसे नम्रता से स्वीकारा जाता है। यदि वह आपकी आशा से कम हुआ तो मन ही मन आप नाराज हो सकते हैं और फिर आप निश्चित करते हैं कि उसके बदले मे क्या दिया जाए। उन्हे विभिन्न वस्तुओ के सापेक्ष मूल्य का सामान्य ज्ञान तो रहता ही है। वे यह भी जानते हैं कि किस चीज को तुच्छ समझा जाता है।

यदि पश्चिमी समाज मे उपहार को हम इस दृष्टि से देखें और समझें कि वह देने वाले के स्वाभाविक स्नेह की अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् समाज द्वारा स्वीकृत विशेष सम्बन्धो का अपेक्षित अग है, तो सरल समाजो मे इसका महत्त्व हम आसानी से समझ जाएँगे। इवान्स प्रिटचार्ड का कहना था कि भौतिक वस्तुओ की श्रृंखला पर ही सामाजिक सम्बन्ध निर्भर हैं। प्रत्येक समाज मे सामाजिक सम्बन्धो को कायम

रखने मे उपहारो का बडा महत्व है। छोटे समाजो मे यह महत्त्व कई गुना अधिक है।

सिर्फ छोटे समाजो मे ही उपहार की वस्तुए दैनिक प्रयोग की वस्तुओ से भिन्न नही होती। पश्चिमी जगत् मे घरेलू इस्तेमाल के सामान अच्छे उपहार के रूप मे नही दिए जाते। इसका अर्थ यह होगा कि पाने वाला उन चीजों को खरीदने में असमर्थ था। उपहार ऐसा होना चाहिए, जिसे अपने लिए खरीदना फिजूलखर्ची मानी जाएगी (यदि उसका बदला भी वस्तु ही मे दिया जाय, जैसे एक परिवार मे दो साले-बहनोइयो ने एक दूसरे को क्रिसमस के अवसर पर एक बोतल शैंपेन दिया)। इसी प्रकार छोटे समाजो मे अनौपचारिक उपहार में बहुमूल्य वस्तुएँ दी जाती हैं और कभी कभी इन वस्तुओ की उपयोगिता सिर्फ इतनी होती है कि उन्हे दूसरे उपहारो के बदले मे दिया जा सकता है। उपहार मे दी गई वस्तुओ का मूल्य आंका जाता है। पर वह सामाजिक सम्बन्ध, जो उपहारो के आदान प्रदान पर आधारित होता है, कम महत्त्वपूर्ण नही।

मार्शल मॉस के सिद्धान्त के दोनों प्रमुख तत्त्वो या उदाहरणो कुला एव पाटलैक की विवेचना हम विनिमय वाले अध्याय मे विस्तार से कर आए हैं। यहाँ हम मैलिनॉस्की के ट्रोब्रियड द्वीप के अध्ययन मे पायी जाने वाली उपहार विनिमय की संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

ट्रोबियन्ड द्वीपवासियो मे भाई खेती आदि द्वारा उत्पन्न वस्तुओ को समारोहपूर्वक याम बनाकर (एक झोपडा जिसमे बहन को दी जाने वाली चीजें रखी जाती हैं) गाँव के लोगो को देखने के लिए बुलाया जाता है और फिर बहन के परिवार को भेंट कर दिया जाता है। इसी प्रकार अन्य जनजातियो मे भी वस्तु विनिमय का कोई न कोई स्वरूप, उपहार भेंट, अतिथि सत्कार एव अन्य, अवश्य विद्यमान रहता है।

जनजाति समाजो मे अधिकांश उत्पादन व्यक्ति या समूह द्वारा उपयोग मे लाया जाता है, लेकिन वह कभी कभी अपनी तात्कालिक आवश्यकताओ को स्थगित करके सामाजिक, धार्मिक एव अन्य अवसरो पर अपने पडोसी समूह को भी उपभोग के लिए देता है। ट्रोब्रियड द्वीपवासी भेंट विनिमय करते हैं लेकिन इसमे सौदेबाजी का दृष्टिकोण नही होता। कही यह विनिमय खाद्यान्नो के बीच होता है तो कही सग्रहणीय वस्तुओ मे होता है। कही यह स्वजन व्यवस्था पर आश्रित है तो कही यह सोपानिक व्यवस्था से जुडा है।

ट्रोब्रियड द्वीपो मे कुछ गाँव ऐसे हैं जिन्हें मछली मारने का अधिकार नही है, लेकिन भूमि पर अधिकार रखते हैं। जबकि कुछ ऐसे गाँव हैं जो समुद्र के किनारे हैं और जिन्हे मछली मारने का अधिकार है लेकिन भूमि पर कोई अधिकार नहीं है। इन दोनों प्रकार के गाँवो मे वस्तुओ की परस्परता, वस्तुओ के निश्चित दामों के सन्दर्भ म, देखी जा सकती हैं। इस विनिमय की वसी नामक व्यवस्था के

अन्तर्गत गांवो का एक समूह मछलियां देता है तो विनिमय के अन्तर्गत दूसरा समूह खाद्य पदार्थ देता है।

विनिमय की अन्य व्यवस्था 'कूला' (Kula) के अन्तर्गत सग्रहणीय वस्तुओं का आदान प्रदान किया जाता है। इसमे स्थायी एव मूल्यवान वस्तुओ का विनिमय होता है जिससे व्यक्ति की सोपानिक स्थिति ऊँची होती है। अत यह व्यवस्था सामान्य लोगो मे नही देखी जा सकती। लेकिन जब खाद्यान्नो के अतिरिक्त सामान्य वस्तुओ का विनिमय किया जाता है तो उसे 'नियमावली' कहा जाता है। इसम सौदेबाजी होती है। इसी प्रकार विनिमय की कई व्यवस्थाओ मे अलग अलग प्रकार की एव अलग अलग कार्यो से विभिन्न जनजाति समाजो मे देखी जा सकती है।

आदिम जनजाति समाजो मे बाजार विनिमय की व्यवस्था अवश्य देखी जा सकती है, हालांकि सभ्य समाजो की तरह प्रबलता नही होती। अधिकांश जनजातियां मात्र उपभोग जितनी वस्तुओ का ही उत्पादन कर पाती हैं लेकिन फिर भी कुछ जनजातियां ऐसी भी हैं जो अतिरिक्त उत्पादन करती हैं अर्थात् सम्पूर्ण उत्पादन का उपभोग नही करती। अफ्रीका की जनजातियो मे बाजार ज्यादा सक्रिय होता है हालांकि अधिकांश लोग जीविका अर्थव्यवस्था पर आश्रित होते हैं।

जीविका अर्थव्यवस्था मे क्योकि वस्तुओ के सौदे के लिए सभ्य समाजो की तरह के बाजार नही होते, फिर भी बाजार का कार्य कुछ सामाजिक संस्थाएँ—श्रम, भूमि एव पूंजी करती है। इन्हें आर्थिक सस्थाए कहा जाता है और ये काम भी वही करती हैं जो कि बाजार व्यवस्था मे होता है। जनजातियो मे बाजार के परम्परागत स्थान होते हैं जहां सप्ताह, महीने अथवा वर्ष मे कुछ निश्चित दिन बहुत बडी सख्या मे जनजातिया के लोग खरीदने या वस्तुओ को बेचने के लिए एकत्रित होते हैं। भारत की कई जनजातीय समाजो मे साप्ताहिक हाट लगाते हैं जहां दैनिक जीवन की आवश्यकता की चीजें मिलती हैं। पालतू जानवरो को खरीदने बेचने के लिए वर्ष मे एक बार निश्चित दिन मेला सा लगता है। इसी प्रकार अफ्रीका के कई समाजो मे भी परम्परागत बाजार के स्थान होते हैं। केनियम की कीकूयू जनजाति मे ऐसे बाजारो मे लोग बहुत बडी सख्या मे आते हैं। घाना म विभिन्न मध्यान्तरो पर दैनिक जीवन मे उपयोगी एव विशिष्ट वस्तुओ के आदान प्रदान के लिए बाजार लगते है।

जनजाति समाजा के बाजारो मे अधिकांश सामग्रिया ही आती थी जिनकी बिक्री न होने पर उसका उपभोग परिवार मे ही कर लिया जाता था। अत माल बेचने के लिए लोग मजबूर नही थे। आज के सन्दर्भ बाजार का अर्थ आदिम समाजो के बाजार म नही था। मुनाफा कमाना उनकी प्रवृत्ति नही थी। यह प्रवृत्ति जनजातियो के लोगो मे अभी भी सभ्य समाज के लोगो की तरह तीव्र नही है।

(2) आदिम मुद्राएँ (Primitive Money)—न्यूगिनी मे अनेक जातियाँ शेल-मुद्राएँ (Shell Money) प्रयोग करती हैं। शेल क टुकडे गुँथे हुए रहते है। औपचारिक देय तथा बाजार मे लेन-देन के लिए भी उनका प्रयोग किया जाता है। यह मूल्य सग्रह (Store of Value) भी है क्योंकि इसी काम के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। न्यूब्रिटेन के तोलाई (Tolai) इस शेल-मुद्रा को टंबू (Tombu) कहते हैं। शेल को लम्बे धागे मे गुँथा जाता है। उन्हे छोटे टुकडो मे भी बाँटा जाता है। प्रत्येक मे शेल की सख्या निश्चित होती है। उनके नाम होते हैं और उनसे अपनी जाति के किसी भी व्यक्ति से कुछ भी खरीदा जा सकता है पर विदेशी व्यापारियो से नही। उसके अनुष्ठानिक पक्ष भी है। इसलिए वे अर्थशास्त्रीय अर्थ म मुद्रा नही है। अन्त्येष्टि क्रियाओ म टम्बू बाँटा जाता है। लोग उन्हे चालू पूँजी के लिए नही प्राप्त करते बल्कि इसलिए कि उनके मरणोपरान्त उन्हें अधिक परिमाण म बाँटा जा सके। जब काफी सख्या मे टम्बू इकट्ठा हो जाता है तो उसे अलग रख दिया जाता है। समय के पूर्व उसमे कोई हाथ नही लगाता। देय के रूप मे टम्बू को सदा स्वीकार किया जा सकता है, पर मुद्रा का नही। कभी कभी किसी चीज को बेचने के लिए लोग टम्बू की माँग करते हैं। उस समय वह इतना हिसाब नही करता कि नकद बिक्री से उसे अधिक लाभ होगा या नही। मुद्रा होने के लिए किसी भी चीज म दो गुण होने चाहिए—विनिमय के लिए मूल्य मापने की क्षमता और साधना पर अधिकार मापने की क्षमता। इसके अतिरिक्त इसका एक विशेष महत्त्व भी है जो अर्थशास्त्रियो की परिभाषा के अनुसार मुद्रा की विशेषता नही है। टम्बू के माध्यम स लोग विनिमय मे लाभ प्राप्त करने की मनोवृत्ति नही रखते। कुछ दिन पहले एक जर्मन मानवशास्त्री ने लिखा था—'यह देखने मे रोचक लगता है कि जब टम्बू मे देय दिए जाते हैं और भोज के समय टम्बू का वितरण होता है तो लोग पूर्ण उदासीनता से उन्हे स्वीकार करते हैं। वे उधर देखते तक नही, पर उन्हे अपने पास रखने देते हैं जैसे उन्हे उठाने मे कोई आन्तरिक आपत्ति हो।" एक समकालीन पर्यवेक्षक ने देखा कि बाजार मे सब्जी बेचने वाली स्त्रियों मे भी यही चलन है। अक्सर जो स्त्री एक के बाद बैठी रहती है वही बिक्री के बाद पैसा उठाती है और बाद मे उसे देती है। इससे प्रतीत होता है कि वह स्त्री पैसा उठाने के लिए उतावली नही है। ग्राहकों को आकर्षित करना भी अच्छा नही समझा जाता।

दूसरा उदाहरण अफ्रीका का है। कांगो राज्य के दक्षिण-पश्चिम मे कसाई के लेले (Lele) जाति के लोग रहते हैं। वे राफिया नामक वस्त्र तन्तु के बने कपडे पहनते हैं। उन्हे गाँव के मर्द और बच्चे बनाते हैं। उससे सामाजिक सम्बन्धो का निर्माण होता है, उसे विवाह के अन्त मे, किसी आयु समूह मे दीक्षा के समय, किसी सम्प्रदाय मे प्रवेश के समय और ओझाओ और वैद्यो को पुरस्कृत करने मे तथा अपराधो के लिए हर्जाना देने मे काम लाया जाता है। वे वही काम करते हैं जो पशुपालक-समाज मे मवेशी करते हैं। कुछ अर्थ मे वे मवेशी की अपेक्षा अर्थशास्त्रियो की मुद्रा की कसौटी पर खरे उतरते हैं, क्योंकि उनकी सख्या बढती नही, उनकी

देख-रेख करना और उन्हे खिलाना नही पडता ।-पर यदि वे मरते नही, फटते तो जरूर हैं। बराबर प्रयोग होने से वे जल्द फटते हैं और नए को बनाने मे काफी समय लगता है ।

राफिया वल्कतन्तु के कपडे लेले प्रदेश के बाहर बनी वस्तुओ से बदले जाते हैं। विशेषज्ञो द्वारा बनाई गई वस्तुओ से वे देश के अन्दर बदले जाते हैं। मवेशियो का विनिमय इस रूप मे सम्भव नही है। पर अपने प्रदेश के अन्दर ऐसे लेन देन बिरले ही होते है और अगर होते भी हैं तो सुदूर रहने वाले पक्षो से, जो सम्बन्धी नही होते। बहुत-से कारीगर अपने बन्धुओ को अपनी वस्तुएँ देते हैं और इसके बदले मे कुछ भी सामान स्वीकार कर लेते हैं। एक या दो कपडे सेवा के प्रतिदान के रूप मे दिए जाते है। इसके द्वारा बन्धुत्व के सम्बन्ध की मान्यता प्रदान की जाती है। पर यह आवश्यक नही कि वह पाई हुई वस्तु के भौतिक मूल्य के बराबर हो। कारीगर अपरिचित व्यक्ति से कही अधिक वस्तु माँगेगा।

राफिया कपडे की आपूर्ति सीमित है, कुछ इसलिए कि जो समय लोग बुनने मे लगाते, उसे दूसरे काम मे लगाते हैं। खासकर उन्हे कर देने के लिए कुछ द्रव्य कमाना पडता है। लोग इसका हिसाब रखते हैं कि उन्हे दूसरो से क्या मिलना बाकी है और जैसे ही कोई कर्जदार कपडे प्राप्त करता है, वे उस पर झपटते है। यहाँ भी वे कपडे के बदले मे कुल्हाडी, बकरियाँ, कपडे रंगने वाली लकडी और फ्रैंक सिक्के भी स्वीकार कर लेते है।

रॉसेल द्वीप मे विनिमय का जो माध्यम है, उसे ही अर्थशास्त्री मुद्रा कह सकते हैं। दक्षिण-पश्चिम प्रशान्त महासागर मे स्थित इस द्वीप के लोग बाहरी दुनिया से बिलकुल कटे हुए हैं। वे द्वीप के बाहर यात्राएँ नही करते और दूसरे द्वीपो के लोग वहाँ न ही जाते। 1921 मे जब पपुआ से आर्मस्ट्रांग नामक एक मानवशास्त्री वहाँ पहुँचा तो उनकी जनसख्या 1500 थी। इतनी कम जनसख्या मे भी लोग बहुत-सी वस्तुओ की अदला-बदली शैल से करते थे। शैल का प्रयोग सिर्फ समारोहो तक ही सीमित नही था। वे सभी वस्तुओ को दो प्रकारो मे नही बाँटते थे, जिनमे कुछ का विनिमय शैल के माध्यम से हो और कुछ का नही। आर्मस्ट्रांग के विवरण का विश्लेषण लोरेन बारिक ने किया है। उसके अनुसार रॉसेल द्वीप मे लेन-देन की प्रक्रिया को क्रय विक्रय की सज्ञा देना उचित है। लोग उसी से जमीन, मकान, नाव, जाल, सुअर, कुत्ते और अनुष्ठानिक भोजो के लिए आदमी तथा तम्बाकू, सागो और टारो खरीदते थे।

शैल रूपी सिक्के दो प्रकार के होते थे—श्रेष्ठ और निकृष्ट। वे एक दूसरे से बदले नही जा सकते थे। श्रेष्ठ किस्म के सिक्के, जिन्हे नडेप (Ndap) कहा जाता था, बडे-बडे स्पोण्डीलस (Spondylus) शैल की पट्टियो के होते थे। जब आर्मस्ट्रांग वहाँ था तो ऐसे एक हजार शैल थे। कहा जाता था कि वे सृष्टि के आरम्भ से चले आ रहे थे और उनकी सख्या मे कोई परिवर्तन नही हुआ था। कुला आभूषणो की तरह वे अपने आकार और रग की विशिष्टता के कारण पहचाने

जाते थे। सिक्के बाईस प्रकार के होते थे। उनका मूल्यक्रम निश्चित था। सबसे ऊपर वाले चार वर्ग अभिजात वर्ग के समझे जाते थे। वे मुखियों के पास रहते थे और कभी बाहर नहीं निकाले जाते थे। मूल्यक्रम के होते हुए भी ऊँचे सिक्के का मूल्य छोटे सिक्कों में नहीं व्यक्त किया जा सकता था। इन सिक्कों के बदले वस्तुओं का सापेक्ष विनिमय-मूल्य नहीं मापा जा सकता था। विभिन्न विनिमय अलग अलग लेन-देन के रूप में देखे जाते थे। विवाह करने के लिए किसी व्यक्ति के पास यह रहना ही, इसकी सम्भावना कम होती थी।

(3) ऋण और उधार (Loan and Credit)—इस व्यवस्था का परिणाम यह था कि लोगों को अपनी आवश्यकता के अनुसार उचित सिक्का प्राप्त करना पड़ता था। अब प्रश्न यह उठता है कि मुद्रा रहित समाजों में क्या हम उधार और सूद की बात कर सकते हैं? यह स्पष्ट है कि हम ऋण की बात कर सकते हैं। अफ्रीका में वधू धन तब तक पूरा नहीं चुकाया जाता, जब तक दम्पत्ति न अपना घर स्थापित न कर लिया हो। कभी-कभी बाकी मवेशी तब तक रोक रखे जाते हैं, जब तक इस दम्पत्ति की पुत्री के लिए मवेशी न दिए जाएँ। वैर का अन्त करने के लिए हत्या धन देने का वचन दिया जाता है लेकिन वास्तव में उसे बहुत दिनों बाद दिया जाता है। बर्मा की पहाड़ियों तथा और अनेक जगहों में क्षतिपूर्ति के विषय में भी ऐसी ही बात है। लेले इस बात का हिसाब रखते हैं कि किसने उनसे कब कर्ज लिया। प्रत्येक गाँव में एक अधिकारी होता है, जिसका काम यह याद रखना होता है कि दूसरे लोगों के यहाँ इस गाँव का कितना कर्ज बाकी है।

इस प्रकार के कर्ज माँग कर नहीं लिए जाते। जहाँ लोग कर्ज लेते हैं, वहाँ क्या परिस्थिति है? यह विचार करना महत्त्वपूर्ण है कि जमीन किस परिस्थिति में बन्धक रखी जा सकती है। जब तक कर्ज लौटाया नहीं जाता, भूमि कर्जदाता के पास रहती है। पुराने जमाने में घाना में कर्जदार महाजन को बुना हुआ कपड़ा पहनने को देता था। वह तब तक पहना जाता था, जब तक वह फट न जाए। यहाँ निश्चय ही यह भावना है कि सेवा का बदला आवश्यक है। पर कर्ज में दी गई वस्तु और बन्धक की वस्तु के सापेक्ष मूल्यों का क्या कोई हिसाब होता है? क्या बन्धक वास्तव में एक प्रतिभूति है—ऐसी चीज, जो ऋण नहीं अदा होने पर महाजन की हो जाएगी? क्या ऐसी भी धारणा है कि वापस होने वाली रकम समय बीतने के साथ घटती जाएगी?

स्पष्टतः यह ऐसी स्थिति में सम्भव नहीं, जहाँ ऋण और बन्धक का आदान-प्रदान एक ही बार होता है। यह कहा जा सकता है कि कपड़े, जो महाजन पहनता है, वह समय के साथ पुराना पड़ जाता है और यह ब्याज का प्रतिरूप है। पर ऋण की अदायगी के पहले यदि पहला कपड़ा फट जाएगा तो दूसरा माँगने का प्रश्न नहीं है। पश्चिमी अफ्रीका में अन्य मनोवृत्तियाँ ऋण और ब्याज के व्यापारिक पक्ष के सर्वथा प्रतिकूल हैं। बन्धक रखी भूमि को लेना अच्छा नहीं समझा जाता।

कुला और पोटलैच गैर व्यावसायिक समाजों में हमें ऋण और सूद के प्रतिरूपों की खोज करनी है। रॉसेल द्वीप में इसके प्रमुख उदाहरण हैं। वहाँ सूद

की स्पष्ट धारणा है। जो भी एक सिक्का माँगता था, उसे उससे अधिक लौटाना होता था। सिक्को की आपूर्ति सीमित होने के कारण यह नियम अधिक दिनो तक चल नही पाता। इस स्थिति से निकलने का एक ही रास्ता था और वह कुना-विनिमय के किस्म का था दूसरे व्यावसायिक लन-देन की तरह नही, कर्जदार एक मुखिया से एक अभिजात बग का सिक्का माग कर अपने महाजनो को देता था। ऋण की अदायगी से महाजनो की क्रय शक्ति बढनी नही थी। उन्हे वैसा ही सन्तोष प्राप्त होता था जैसा कुला वस्तु के प्राप्त होने से। मुखिया को कोई भौतिक प्रतिदान नही मिला, उसे सिर्फ इतनी प्रतिष्ठा मिली, जो उसके पद पर लोगो का मिलती है—इस विचार से कि उसके अनुग्रह का बदला दिया नही जा सकता। यहाँ प्रतिभूति की धारणा नही थी, क्योकि महाजन को कुल्हाडी या दूसरा सिक्का दिया जा सकता था। बाद वाली बात से रॉसल द्वीप की मुद्रा और विनिमय के माध्यम के रूप मे दूसरी मुद्राओ मे अन्तर समझा जा सकता है। प्रत्येक लेन देन मे एक विशेष प्रकार के सिक्के की आवश्यकता थी, कर्जदार प्रतिभूति के रूप मे कर्ज लिए गए सिक्के से ऊँचे मूल्य का सिक्का दे सकता था।

ऋण कितना बढाकर लौटाया जाएगा, इसका हिसाब किसी निश्चित सिद्धान्त पर नही होता था, बल्कि प्रत्येक अवसर पर आपस मे तय किया जाता था। कर्ज लौटाने की अवधि और लौटाई गई रकम मे सम्बन्ध माना जाता था और प्रतिदान की कुछ दर भी थी। कुछ लोगो ने इस व्यवस्था से मुनाफा किया, उन्हे अर्थ प्रबन्धक कहा जा सकता है। रॉसेल द्वीप मे उन्हे नामक विशेष सज्ञा दी जाती थी। ऐसा विश्वास था कि य लोग जादू के प्रयोग से ऐसे कर्जदारो से कर्ज वसूल कर लेते थे जो कम सूद देते थे और ऊँची दर पर वे उस रकम को लगाते थे। वे चाहे किसी भी तरह काम करते उनका उद्देश्य एक नाव खरीदने लायक शेल-मुद्रा एकत्र करना था, जिससे व मुखिया का पद प्राप्त कर सकते थे। नाव के बिना कोई भी आदमी मुखिया नही बन सकता था।

(4) पूंजी (Capital)—क्या मुद्रारहित समाजो मे पूंजी होती है, और यदि होती है तो उसे कैसे पहचाना जा सकता है? थर्नवाल्ड ने यह समझा था कि गैर पश्चिमी समाजो मे फसल और मवेशी ही पूंजी है, क्योकि पूंजी से ही सूद उत्पन्न होता है। फर्थ के अनुसार पूंजी सम्पत्ति का वह भाग है, जो उत्पादन के काम मे लगाया जाता है। वह दिखलाता है कि टिकोपिया जैसे सीमित प्राविधिक ज्ञान वाले लोगो के पास भी ऐसी वस्तुओ की भरमार हो सकती है, जैसे जाल, मछली मारने वाली बंशी, नाव, कुल्हाडी, जमीन खोदने वाली छडियाँ और नारियल छीलने वाले औजार। नाव मे लगने वाली वस्तुएँ भी पूंजी मानी जा सकती है। पर वह यह भी कहता है कि एक ही चीज एक समय उत्पादन सामग्री और दूसरे समय उपभोग सामग्री बन सकती है। जो वस्तुएँ सीधे उत्पादन के काम मे नही लगती, उन्हे श्रम के बदले पुरस्कार देने के काम मे लाया जाता है। बिछाने वाली चटाइयाँ, वल्कल वस्त्र और खाद्य सामग्री का इस तरह प्रयोग होता है।

ऐसी अर्थव्यवस्था में उधार की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लोग काम में आने वाली वस्तुओं को उत्पादन के काम में लगाकर पूँजी का निर्माण करते हैं। साल्जबरी का कहना है कि मुद्रारहित समाज में पूँजी के सदृश्य 6 वस्तुओं का वह भण्डार है, जो उत्पादन क्रिया सम्पन्न होने के पहले से विद्यमान है। उत्पादन में उसका उपयोग होता है और उत्पादन क्रिया के चलने तक प्रत्यक्ष उपभोग से उसे दूर रखा जाता है। उत्पादन के द्वारा वस्तुओं के भण्डार में जो वृद्धि होती है, वितरण और उपभोग होता है, वही आमदनी है। इस परिभाषा के अनुसार वस्तुओं में प्राकृतिक साधन तथा बनाए गए सामान और कौशल तथा ज्ञान सम्मिलित है। साल्जबरी ने बताया कि पूँजी के अन्तर्गत उगाए वस्तुओं को, जैसे बहुमूल्य सामान, औजार, कुल्हाडी, खोदने की छड़ियाँ, हड्डियों की सुइयाँ, घर, कपड़े, वृक्ष, बगीचे और रज्जुतंतु के ढेर (इन्हें कच्चा माल या अर्धनिर्मित वस्तुएँ कहा जा सकता है) सम्मिलित थे। वस्तुओं को बनाने में जो श्रम लगता था, उसी को उनका मूल्य माना जाता था। उसका कहना है कि समय ही ऐसा साधन है, जिसे सियान प्रतिद्वन्द्वी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लगाते हैं। 'क' के काम में 'ख' समय देता है, इसका बदला 'क' 'ख' के काम में मदद करके देता है। कोई यह नहीं पूछता कि 'क' अधिक उत्पादनशील है या 'ख'। वे यह भी हिसाब नहीं रखते कि कितने कितने घण्टे का काम किया। सहकारी काम में सभी से अपेक्षा रहती है कि आने के बाद वह सारा दिन काम करेगा।

रेमण्ड फर्थ ने सुझाव दिया है कि इन प्रश्नों पर विचार करने के समय कृषक तथा आदिम, दोनों प्रकार के समाजों का विश्लेषण करना अच्छा होगा। इससे हम भारत, मैक्सिको और चीन के ग्रामीण क्षेत्रों की सामग्री की भी चर्चा कर सकते हैं, जहाँ मुद्रा का सीमित प्रयोग होता है। कृषक समाज से उसका तात्पर्य ऐसी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था से है, जिसमें अल्प पैमाने वाले उत्पादन अपेक्षाकृत सरल गैर औद्योगिक प्रविधि के सहारे काम करते हैं। ऐसा समाज एक वृहद् इकाई का भाग होता है और उसमें वस्तुएँ बेची जाती हैं।

अर्थशास्त्री, उन वस्तुओं और सेवाओं को पूँजी कहते हैं जिनका उपभोग तत्काल नहीं होता, पर जो भविष्य में उपभोग के लिए वस्तुओं की वृद्धि में लगाई जाती है। सिर्फ जमा किया हुआ सामान पूँजी नहीं है, पर जिन वस्तुओं का इस प्रकार प्रयोग हो, वह पूँजी है। इसमें प्राविधिक ज्ञान' कौशल तथा भौतिक वस्तुओं का समावेश है। सामाजिक मानवशास्त्री और अर्थशास्त्री दोनों यह जानना चाहते हैं कि क्यों और कब चीजें तत्काल उपभोग से हटा ली जाती हैं। फर्थ ने यह दिखलाया है कि मुद्रारहित समाज या अल्प मुद्रासमाज में पूँजी के रूप ऐसे हैं, जिनकी कल्पना कोई अर्थशास्त्री नहीं कर सकता। जब टिकोपिया में एक मुखिया विशेष खाद्य सामग्री का उपभोग निषिद्ध कर देता है, ताकि कुछ दिन बाद होने वाले उत्सव के समय प्रचुर भोजन रह सके, तो वह पूँजी के रूप में खेत के कद

और पेड पर के नारियलो का प्रयोग करता है। क्वाकिवटल मुखिया पोटलैंक के पहले जो कम्बल जमा करना है, उसके बारे मे भी हम यही कह सकते हैं।

पाश्चात्य अर्थशास्त्री पोटलैंक या टोब्रियड अत्येष्टि के समय के वितरण को सुस्पष्ट उपभोग कहेगा, जैसे किसी व्यवसायी द्वारा भोज का उदारतापूर्ण आयोजन। हम इन दोनो मे फर्क करते हैं। फर्थ कहना है कि हमारी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन की वृद्धि के लिए इतने बडे पैमाने पर साधनो को लगाया जा सकता है कि व्यवसायी इसके द्वारा जो लाभ प्राप्त करना है, वह पूंजी नियोजन पर मुनाफे के हिसाब मे अत्यन्त तुच्छ है।

मलय जैसे कुछ कृपक समाजो मे पूंजी और आमदनी मे भेद करने के शब्द विद्यमान है। टिकोपिया मे ऐसे शब्द नहीं हैं, पर बहुमूल्य वस्तुओ तथा प्रतिदान की वस्तुओ का प्रयोग और जिस प्रकार वे सेवा और प्रथम उपहार के लिए बदला देने की बात करते हैं, उससे फर्थ के विचार मे यही अर्थ निकलता है कि वे पूंजी-नियोजन पर प्रतिदान का हिसाब लगाते हैं।

वर्तमान उपभोग से कुछ वस्तुओ को अलग करने की प्रक्रिया को बहुत लोग आर्थिक कार्य नहीं मानेंगे, क्योकि वे बडे पैमाने पर होने वाले धार्मिक उत्सव मे लगाए जाते हैं, जिन्हे टिकोपिया 'देवताओ का कार्य' कहते है। इस उत्सव के साथ एक विश्वास जुडा हुआ है कि विभिन्न वंशानुक्रम समूहो के देवता प्रमुख खाद्यान्नो के उत्पादन की देख-रख करते हैं। प्रत्येक देवता एक वस्तु के लिए जिम्मेदार होता है। यदि लोग यह विश्वास करते हैं कि बातें दैवी शक्तियो के वश मे हैं और केवल दुर्दिन मे ही उनका आह्वान नहीं करते तो इसे आर्थिक कार्यकलापो की श्रेणी मे भी रखा जाएगा। दूसरे प्रकार के स्पष्ट आर्थिक काम, जैसे नाव के निर्माण या मरम्मत म समय-समय पर आनुष्ठानिक क्रियाएँ होती रहती हैं और इस काम के लिए जो भोजन जमा रहता है, वह उपयुक्त देवताओ के चढावे मे लगा दिया जाता है (यह भोजन भी मनुष्य ही के काम आता है)।

क्या यह समझा जा सकता है कि नाव-उद्यमी के विवाह-जन्य सम्बन्धी, जो श्रमिको को पुरस्कार देने के लिए जलावन की लकडी और भोज के लिए कच्ची खाद्य सामग्री लाते हैं, पूंजी-नियोजन कर रहे हैं? टिकोपिया मे ऐसा करना उनका कर्तव्य है, क्योकि उनका विवाह उसकी बहन या बेटियो से हुआ है और जब डोंगी चलने लायक हो जाएगी तो उसके प्रयोग मे उन्हे प्राथमिकता नहीं दी जाएगी। पर दूसरे अवसरो पर उनम से प्रत्येक आदमी इस प्रकार के सम्बन्धियों से ऐसी सहायता मांग सकता है। यहाँ पूंजी नियोजन पर कोई प्रत्यक्ष प्रतिदान नहीं मिलता। पारस्परिक दायित्वो की शृंखला सेवाओ और सहायता के आदान प्रदान मे सन्तुलन स्थापित कर देती है।

पशुओ को पूंजी, या कम से कम बचत के रूप मे माना जा सकता है। जावा का कृषक फालतू पैसे होने पर भैंस खरीद सकता है और बाद मे नकद की आवश्यकता पडने पर उसे बेच सकता है। दक्षिणी ईरान के बसेरियो के विषय मे

फ्रेडरिक बार्थ ने ऐसा ही लिखा है। वे भेड और बकरियाँ पालते हैं या मक्खन, ऊन और चमडे बेचकर द्रव्य की आवश्यकता पूरी करते हैं। वह हिसाब लगाता है कि एक परिवार को स्वतन्त्र रूप से रहने के लिए सांड, भेड या बकरिया को खरीदने लायक कितनी पूँजी चाहिए। बसेरी मे पशु पूँजी माने जाते हैं क्योकि आवश्यक सख्या से अधिक पशुओ का मालिक पशुओ के प्रबन्ध के अतिरिक्त दूसरे काम भी कर सकता है जैसे घोडो का प्रशिक्षण, शिकार राजनीतिक चर्चाओ मे भाग लेना। उसकी पत्नी और लडकियाँ कालीन बनाती है (जो बिक्री के लिए नही, परिवार की सुविधा के लिए होता है)। इस अर्थ मे आमदनी पूँजी के सरल अनुपात में नही बढती। यदि पशुओ की सख्या बहुत बढ जाती है तो एक चरवाहा रखा जाता है। जैसा सभी समाजो मे होता है, चरवाहा पशुओ की उतनी परवाह नही करता, जितना उनका मालिक करता है। कभी कभी वह पशुओ को चुराता भी है। इसलिए कोई आदमी जितने अधिक चरवाहे रखता है उसकी आय उतनी कम हो जाती है। केवल मक्खन, चमडे और ऊन की बिक्री से प्राप्त आमदनी को जमीन खरीदने मे लगाया जा सकता है। इसम अनाज उपजाया जा सकता है, जिस पैसे से खरीदना पडता है या दूसरे किसानो को लगान पर दिया जा सकता है।

आदिम जनजातियो की अर्थव्यवस्था का वर्गीकरण
(Classification of Primitive Economic System)

प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यो का अस्तित्व बनाए रखने के लिए उनकी मूल आवश्यकताओ की पूर्ति अपने अपने तरीके से करता है। प्रकृति जो उनकी प्रथा, परम्परा एव जनांकिकीय सरचना पर निर्भर करती है उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक होती है, अत उन लोगो द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक ही प्राकृतिक वातावरण मे विभिन्न आर्थिक विधियो का विकास हुआ। परन्तु विस्तृत परिभाषाओ के आधार पर अनेक विद्वानो ने उनम विस्तृत रूप से वितरित जीविका कमाने के तरीको को कुछ श्रेणियो म वर्गीकृत किया है। फिर भी यह सत्य है कि भारतीय जनजाति की अर्थ व्यवस्था को किसी भी दशा मे एक विशेष वग के अन्दर वर्गीकृत नही किया जा सकता। यह यथार्थ है कि एक जनजाति क लोग जीविकोपाजन के लिए अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के निमित्त अनेक साधनो का उपयोग करत हैं। व जगल म पैदा होने वाली विभिन्न वस्तुओ के सग्रह का कृषि या स्थानान्तर कृषि के साथ समावेशित करत हैं अर्थात् सिर्फ खाद्य सग्रह के साथ साथ कृषि, लोगो की जटिल अर्थ व्यवस्था का अपना प्राथमिक साधन है और यह उनके वर्गीकरण को विशेषीकृत करता है।

थर्नवाल्ड ने आदिम जनजातियो की अर्थ व्यवस्था को वर्गीकृत किया है। थर्नवाल्ड के अनुसार आदिम जनजातियो की अर्थ व्यवस्था को सात आधारो पर वर्गीकृत किया जा सकता है[1]—

1 *R Thurnwald* Economics in Primitive Communities, p 32

1. शिकारी,
2. आखेटक, फंदा, शिकारी एव कृषको का समरूपी समुदाय,
3. आखेटक, फंदा, फदा शिकारी कृषक एव दस्तकारो का स्तरीकृत समाज,
4. पशुपालक,
5. समरूपी, आखेटक एव पशुपालक,
6. प्रजातीय दृष्टिकोण से स्तरीकृत पशुपालक एव व्यापारी,
7. सामाजिक दृष्टि से स्तरीकृत पशुपालक तथा आखेटक, कृषक एव दस्तकारी समूह।

फोर्ड तथा हर्षकॉविट्स (Forde & Herskovits) ने आर्थिक व्यवस्था को पाँच भागो मे बाँटा है—

1. सकलन,
2. शिकार,
3. मछली मारना,
4. कृषि,
5. पशुपालन।

जैकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने आदिकालीन अर्थव्यवस्था को दो भागो मे बाँटा है और प्रत्येक को दो उपभागो मे भी बाँटा है—

1. शिकार करने मछली मारने तथा भोजन एकत्र करने वाली अर्थ-व्यवस्था—
   (अ) भोजन संकलन की सरल अर्थव्यवस्था।
   (ब) दूसरे भोजन सकलन की विकसित अर्थव्यवस्था।
2. कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी अर्थव्यवस्था,
   (अ) कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी सरल अर्थव्यवस्था।
   (ब) कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी विकसित अर्थव्यवस्था।

डी. एन मजूमदार (D N Majumdar) ने 1966 मे भारतीय जनजातियो का इनके जीवन एव पेशे के आधार पर एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया जो निम्नांकित है—

1. शिकार एव सग्रह की अवस्था,
2. स्थानान्तर या झूम कृषि, लकडी काटना, सामग्री-उत्पादन, करघा आदि,
3. व्यवस्थित कृषक, जो मुर्गी तथा जानवर रखते हैं, बुनना एव कातना जानते हैं तथा टीले पर खेती करना चाहते हैं।

मजूमदार ने टी. एन. मदान (T. N Madan) के साथ 1970 मे

भारतीय जनजातियो के अर्थव्यवस्था का एक और वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसे उन्होने छ वर्गों मे वर्गीकृत किया है जो कि निम्नांकित हैं—

1 खाद्य सग्रह वर्ग,
2 कृषि वर्ग,
3 खोदकर स्थानान्तर कृषि वर्ग,
4 दस्तकारी वर्ग,
5 चरागाही वर्ग,
6 औद्योगिक श्रमिक वर्ग ।

योगेश अटल (Yogesh Atal) ने 1965 मे जनजाति अर्थव्यवस्था को चार भागो मे वर्गीकृत किया है—

1 भोजन सग्रह,
2 भोजन सग्रह के साथ स्थानान्तर कृषि,
3 व्यापार एव घूमन्तू जीवन,
4 पशुचारी ।

दास ने 1967 मे जनजातियो की अर्थव्यवस्था को पाँच भागो मे वर्गीकृत किया है—

1 घूमन्तु खाद्य सग्रहकर्त्ता एव चरागाही,
2 पहाडी ढलान के स्थानान्तर कृषक,
3 पठार एव तराई क्षेत्र मे हल के द्वारा उत्पाद करने वाले,
4 वे जनजातियाँ जो अंशतः हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से जुडी हुई हैं और
5 पूर्ण रूप से सम्मिलित जनजातियाँ जिन्होने हिन्दुओ के बीच अच्छी सामाजिक स्थिति प्राप्त कर ली है ।

जे एच. हट्टन (J H Hutton) ने भारतीय जनजातियो मे तीन प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओ का उल्लेख किया जो निम्नांकित है—

1. जनजातियाँ जो वन से खाद्य सामग्रियो का सग्रह करती हैं,
2 जनजातियाँ जो पशुचारी अवस्थाओ मे हैं, और
3 जनजातियाँ जो कृषि, शिकार, मछली मारने एव उद्योग पर आश्रित हैं ।

एस सी दुबे (S C Dubey) ने 1969 मे भारतीय जनजाति की आर्थिक प्रणाली को दो महत्वपूर्ण वर्गों एव विभिन्न उपवर्गों मे प्रस्तुत किया है—

1. महत्वपूर्ण
   (क) भोजन सग्रह की अवस्था,

(ख) अव्यवस्थित प्राथमिक कृषि की अवस्था,
(ग) व्यवस्थित प्राथमिक कृषि की अवस्था ।

2. अर्द्ध-महत्त्वपूर्ण
(क) पशुचारी,
(ख) निर्दिष्ट काश्तकारी एवं उद्योग से जीविकोपार्जन करती हुई जनजातियाँ,
(ग) वे जनजातियाँ जिनके लिए अपराध जीविका स्रोत की तरह है ।

भारत के विभिन्न भागों की जनजातियों को चिन्हित करने के लिए उनकी परिस्थिति की, अर्थ व्यवस्था, समन्वय के स्तर और परिवर्तन.के क्रमों को ध्यान मे रखते हुए उनका वर्गीकरण डॉ. एल पी. विद्यार्थी ने किया था । मूलत. वर्गीकरण पर विचार एवं उसका सूत्रीकरण 1958 ई मे किया गया जो चार प्रकार का था लेकिन बाद मे भारत मे हुए विभिन्न सेमीनारों मे इनको विवेचित किया गया एवं बाद मे सात प्रकार के संशोधित वर्गों मे इन्हे प्रस्तुत किया गया जो निम्नांकित हैं[1]—

1 'वन मे शिकार करने वाले,
2. पहाड पर खेती करने वाले,
3. समतल कृषक,
4 सरल कारीगर,
5. पशुचारी,
6. कृषि एवं गैर-कृषि श्रमिक (परम्परागत रूप से जनजातियाँ समतल कृषि एवं सरल कारीगर वर्गों की हैं),
7. कार्यालयो, अस्पतालों, कारखानों आदि मे काम करता हुआ कुशल एवं सफेदपोश नौकरी पेशा वर्ग ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त वर्गीकरण मे शिकार एवं खाद्य संग्रह से लेकर औद्योगिक चरण तक की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है । यहाँ हम जनजातियो का उपयुक्त कोई एक वर्गीकरण प्रस्तुत न कर उसे मुख्यत पाँच वर्गों मे वर्गीकृत कर प्रस्तुत कर रहे हैं जो कि निम्नांकित है—

1. खाद्य संग्रहीता,
2. चरागाही जनजातियाँ,
3. कृषि जीविका
(क) स्थानान्तरण कृषक,
(ख) स्थायी कृषक,
4. शिल्पी कला एवं घरेलू उद्योग-धन्धे,
5. औद्योगिक श्रमिक

1 डॉ. ललित प्रसाद विद्यार्थी : भारतीय आदिवासी, पृष्ठ 114-115.

1. खाद्य सग्रहीता—खाद्य सामग्री का सचय बिना किसी अधिक कठोर परिश्रम के करना ही इस खाद्य सग्रहीता व्यवस्था की विशिष्टता है। जगली पदार्थों, जैसे जडे, फल, फूल, पत्ते आदि एकत्र करना, मछली पकडना व शिकार करना आदि इस व्यवस्था के प्रमुख आर्थिक कार्य हैं। लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर (केवल एक निश्चित भू भाग मे) भोजन सामग्री की तलाश मे जाते हैं। छोटा नागपुर मे राँची जिले की बिरहोर जनजाति, उडीसा के ज्वाँग, मध्य प्रदेश के कोरवा, ट्रावनकोर कोचीन के कादर तथा महाराष्ट्र की कतकारी जनजाति के लोग इस प्रकार की खाद्य सग्रहीता व्यवस्था मे रखे जा सकते है। कुछ जनजातियाँ जैसे कतकारी अर्ध खानाबदोशी हैं जो कि वर्षा ऋतु मे एक ही स्थान पर रहते हैं तथा अन्य ऋतुओ मे खानाबदोश जीवन बिताते है। ज्वाँग जनजाति के लोग सभी प्रकार के जानवरो का मांस खाते हैं। यहाँ तक कि जहरीले साँपो का मांस भी विषहीन करके खा जाते हैं। जीविका का प्रधान साधन जगलो मे लकडी काटना व बेचना है। इसी प्रकार कोया जनजाति के लोग बाँस प्रेमी हैं, जगलो से फल-फूल सग्रह करते हैं तथा बाँस की चटाई बनाते हैं। कभी कभी तो इन्हे केवल जगली फलो पर ही जीवन निर्वाह करना पडता है। भारत के दक्षिणी तट पर रहने वाली मिनीकोय जनजाति (मालाबार के पास) के लोगो की सबसे बडी फसल नारियल (Coconut) है। चूँकि इससे गुजर नही हो सकता, अत सभी लोग मछलियाँ भी पकडते हैं। यह लोग नौकाएँ बनाने मे कुशल हैं। एक नाव के लोग कभी कभी पाँच सौ रुपये से लेकर 3–4 हजार रुपये तक एक दिन में मछलियाँ पकड कर कमा लेते हैं। आर्थिक दृष्टि से ये अनेक जनजातियो से अधिक सम्पन्न हैं।

'हो' जनजाति में सर्वप्रथम बालक को यही शिक्षा दी जाती है कि वह किस प्रकार शिकार (Hunting) का आयोजन करे। उडीसा की डोम्बो जनजाति तथा उसकी अन्य उपजातियाँ जैसे ओदिया, ओनोमिया, मन्दिरी, मीरगान तथा कोहारा जिसके गोत्रों के नाम पशुओ पर होते हैं, अपने गोत्रज पशु को छोडकर सब प्रकार के मांस का सेवन करते हैं। ट्रावनकोर की मलपतरम व मदुरा की पाली और पानीयान जनजाति मे भी खाद्य सग्रह करना प्रमुख पेशे के रूप मे चला आ रहा है।

2 चरागाही जनजातियाँ—जनजातीय अर्थ-व्यवस्था का दूसरा प्रमुख प्रकार चरवाहा है। चरवाहा या चरागाहा जनजातियाँ सामान्यतः पशुपालन पर आधारित होती हैं।

चरवाहे लोग बहुधा पालतू जानवरो से ही अपना जीवन यापन करते हैं तथा अच्छे चरागाहो की तलाश मे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं। कभी-कभी ये लोग मौसम के अनुसार भी स्थान परिवर्तित करते हैं। हिमालय की घाटियो मे रहने वाली भोटिया जनजाति तथा दक्षिण मे नीलगिरि की टोडा जनजाति के लोग इस प्रकार की जनजातियो के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। भोटिया लोग

सर्दी के मौसम मे अपने जानवरो को लेकर निचली घाटियो की ओर आ जाते हैं तथा गर्मी मे पुन अपने मूल निवास स्थानो मे ही रहते हैं। ऊन तथा ऊनी वस्त्रो के व्यापार के साथ साथ नमक, हीग, जीरा, जम्बू तथा सुहागा आदि चीजे बेचकर ये अपनी आजीविका चलाते हैं।

भोटिया लोगो की अर्थव्यवस्था मे स्त्रियो की स्थिति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। इस जनजाति की स्त्रियाँ ऊनी वस्त्र जैसे कम्बल, गलीचे, पखी एव अन्य प्रकार के वस्त्रो का निर्माण करती हैं। एक भोटिया लडकी अपने सम्पूर्ण वस्त्रो को स्वय बनाना अपना गौरव समझती है। पुरुष अक्सर जानवरो को चराने अथवा गाँवो मे जाकर तैयार किया गया सामान बेचने मे व्यस्त रहते हैं।

दक्षिणी भारत की नीलगिरि की टोडा जनजाति का प्रमुख व्यवसाय पशु-पालन है। इन लोगो मे भैंसें पालना ही प्रमुख पेशा है। ये लोग निरामिष भोजी है। मुख्य खाद्य दूध घी व मक्खन है। इन लोगो मे सामान्यत यह माना जाता है कि जिसके पास जितनी भैंसें होती हैं, उसे उतना ही अधिक धनी समझा जाता है। यद्यपि पशुपालन इन लोगो का मुख्य व्यवसाय अभी तक बना हुआ है परन्तु अब उससे इनकी जीविका का पालन नही हो पाता है, अत थोडी बहुत मात्रा मे कृषि को भी ये लोग अपनाने लगे हैं। वर्तमान मे यह कहना कठिन है कि केवल पशुओ के सहारे ही कोई जनजाति अपना जीवनयापन कर रही है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि एक ही कार्य से इतनी आमदनी नही हो पाती है कि आर्थिक आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें अत साथ ही साथ अन्य व्यवसाय भी अपनाए जाने लगे हैं। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि उपरोक्त जनजातियो का प्रमुख व्यवसाय अभी तक पशुपालन है।

3 कृषि जीविका (Subsistence Farming)—जनगणना के आँकडो से यह जानकारी होती है कि जनजातियो की आबादी मे से अधिकांश लोग कृषि पर निर्भर हैं। अत कृषि जनजातियो का प्रमुख व्यवसाय है।

जनजातीय कृषि व्यवस्था को सामान्य दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है, जो निम्नांकित हैं—

(क) स्थानान्तरण कृषि व्यवस्था—जो कि जनजातियो मे दाही, कोमान, पेंदा, पोडू, बेगार व झूम आदि नामो से प्रचलित है।

(ख) स्थाई कृषि व्यवस्था (आधुनिक प्रकार की कृषि व्यवस्था)—स्थाई कृषि व्यवस्था स्थानान्तरण कृषि व्यवस्था के विपरीत होती है। इसमे हल-बैल की सहायता से एक निश्चित स्थान पर ही अन्य सभ्य जातियो की भाँति कृषि कार्य किया जाता है। वह कृषि स्थाई प्रकार की होती है।

(क) स्थानान्तरण कृषि (Shifting Cultivation) —इसमे कोई सन्देह नही कि प्राचीन काल मे कृषि कार्य साधारण तौर पर बिना अधिक परिश्रम के

ही किया जाता था। धीरे-धीरे कृषि का प्रचलन बढा और मानव जातियाँ जो कि पहले कन्द मूल फल खाकर तथा जगली जानवरो के शिकार पर ही जीवनयापन करती थी, कृषि कार्य को अपनाने लगी। सर्वप्रथम कृषि कार्य इस प्रकार का था जिसमे कम परिश्रम की आवश्यकता थी।

ऐसा माना जाता है कि स्थानान्तरण कृषि व्यवस्था का आरम्भ नियोलिथिक काल मे, आज से करीब दस हजार वर्ष पूर्व हुआ था। आज विश्व के उष्ण तथा उप-उष्ण प्रदेशो मे स्थानान्तरण कृषि प्रणाली का प्रचलन अनेकों जनजातियो मे पाया जाता है। दक्षिण अमेरिका के अन्य प्रदेशो मे रहने वाली जनजातियो मे कुछ समय पूर्व तक इसका अत्यधिक प्रचलन था। इसी भांति अफ्रीका के कुछ हिस्सो, मोरिशस, मेलीनेशिया, एटलाण्टिक द्वीप समूहो में भी स्थानान्तरण कृषि का प्रचलन विद्यमान है। दक्षिण-पश्चिम अमेजन प्रान्त की बोरो जनजाति के लोग जगलो म आग लगाकर भूमि को साफ करते हैं तो दूसरे स्थान मे जाकर फिर एक नए जगल को जलाते हैं तथा उसमे खेती करना प्रारम्भ कर देते हैं। यही स्थानान्तरण कृषि है। मगोलिया की अनेक जनजातियो मे भी स्थानान्तरण कृषि (Shifting Cultivation) का प्रचलन रहा है।

भारत मे मध्य प्रदेश तथा असम प्रान्त मे स्थानान्तरण कृषि अथवा झूम खेती का प्रचलन जिन जनजातियो मे पाया जाता है, उनमे प्रमुख हैं—गोड, भील, भील दास, कोरकूज और बेगा। ये जनजातियाँ मूलत स्थानान्तरण कृषि कार्य करती हैं। इनमे से प्रत्येक जनजाति के रहन-सहन का अपना एक विशिष्ट तरीका है। लेकिन अब उन्होने निकटवर्ती हिन्दुओ के सम्पर्क मे आकर उनकी अनेक बातो को अपना लिया है तथा आर्थिक दृष्टिकोण मे भी परिवर्तन आ गया है। भारतीय जनजातियो मे शनै-शनैः स्थानान्तरण कृषि का महत्त्व कम होने लगा है।

स्थानान्तरण कृषि का आशय है जब जमीन के किसी भाग मे अस्थाई समय के लिए कृषि कार्य करके उसे छोड देना तथा फिर अन्य दूसरे भाग मे कृषि करना। इस पद्धति में कुल्हाडी से घने जगलो को काटकर गिरा दिया जाता है। जब पेड की टहनियाँ एव पत्तियाँ सूख जाती हैं तो उसमे आग लगा दी जाती है और कुछ समय बाद उस राख को एक समान कर उस पर बीज बो दिए जाते हैं। सामान्यत गर्मी के मौसम मे जगलो को काटा जाता है और वर्षा ऋतु से पूर्व उसमे फसलें बो दी जाती हैं। इस प्रकार सामान्यत एक स्थान पर दो या तीन फसलें उगाई जाती हैं। इसके बाद दूसरे स्थान पर इसी प्रणाली के अनुसार कृषि कार्य सम्पन्न किया जाता है। अर्थात् वहाँ पुन पेडो को काटकर उनमे आग लगाकर बीज बोए जाते हैं। इस प्रकार स्थान परिवर्तन करने के कारण ही इसे स्थानान्तरण कृषि कहा जाता है। इस बीच उन खेतो पर जिस पर 2-3 फसलें उगाई गई थी और अब खाली पडे हुए हैं, धीरे धीरे वनस्पति उग जाती है और कुछ वर्षो बाद यह

एक जगल का रूप धारण कर लेता है, तथा, पुन इसमे भी उपरोक्त पद्धति से कृषि कार्य सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार की कृषि प्रणाली को बेरियर एल्विन ने 'ऐक्स कल्टीवेशन' (Axe Cultivation) अर्थात् कुल्हाडी द्वारा की जाने वाली कृषि के नाम की सज्ञा दी है।

माडिया जनजाति मे यह प्रणाली 'पेंदा' के नाम से प्रसिद्ध है। असम की गारो जनजाति मे इस प्रणाली को 'झूम कृषि' कहा जाता है, झूम का अर्थ स्थान परिवर्तन से है। बैगा जनजाति म इस प्रकार की कृषि बेवार कहलाती है। भूमियाँ जनजाति के लोग इसे दो प्रतिरूपो म विभक्त करते है—दाही और कोमान। गोंड इसे 'मलुवा' नाम से सम्बोन्धित करते है। जसपुर की पहाडी कोरवा जनजाति मे इसे 'ब्योरा' नाम की सज्ञा दी जाती है। दक्षिण उडीसा में इसका प्रचलन 'गूदिया' अथवा 'पोडू' अथवा 'डोगर चास' के नाम से है। दक्षिण के पठार की जनजातियो मे इसे 'पोडू' के नाम से जाना जाता है।

मध्यप्रदेश मे 1967 तक स्थानान्तरण कृषि का प्रचलन वहाँ की जनजातियो मे बिना किसी रोक-टोक के था।

मध्यप्रदेश के बस्तर जिले मे स्थानान्तरण कृषि का प्रचलन सर्वाधिक था और वर्तमान समय मे भी कुछ जनजातियाँ इस पद्धति को थोडी बहुत मात्रा मे अपना रही हैं। इस पद्धति मे व्यक्तिगत रूप से नही अपितु सामूहिक रूप से कृषि कार्य किया जाता है। अत उत्पादन को भी समान रूप से सभी के मध्य वितरित कर लिया जाता है। कार्यारम्भ से पूर्व एक धार्मिक उत्सव मनाया जाता है, जिसमे अच्छी फसल की कामना की जाती है। जमीन का वितरण स्वय कबीले के व्यक्ति प्रत्येक परिवार की आवश्यकता के अनुसार करते है, हालांकि कार्य सामान्यतया साथ-साथ किया जाता है। पर्वतीय खडिया (Hill Kharias) जनजाति के लोगो ने कृषि कार्य की वर्तमान प्रणाली को पूर्ण रूप से स्वीकार नही किया है। इसमे से वे लोग जो झूम कृषि अपनाते हैं, अपने जीविकोपार्जन के लिए अन्य कार्य जैसे शहद, फल तथा वन्य उत्पादक वस्तुओ का सचय करते हैं।

मध्य प्रदेश के विलासपुर तथा उसके आसपास के प्रदेश की बैगा जनजाति मे भी स्थानान्तरण कृषि का प्रचलन रहा है। इस जनजाति मे इस कृषि को बेवार कहा जाता है। बैगा लोग हल से खेती करना पाप समझते हैं। धरती को वे माँ के समान समझते हैं, अत. नुकीले हल से धरती को चीरने का कार्य एक अपराधी का कार्य समझते हैं। परन्तु शनैः-शनैः समय परिवर्तन के साथ-साथ तथा सरकारी एव गैर-सरकारी सुधार सस्थाओ के निरन्तर प्रयास से अब इन लोगो की धारणा मे परिवर्तन आ गया है तथा इन्होने कृषि की सामान्य स्थाई प्रणाली को अपना लिया है।

उड़ीसा मे स्थानान्तरण संस्कृति का एक दूसरा स्वरूप दिखाई देता है।

यहाँ यह कृषि एक प्रकार के परिपूरक उद्योग (Supplementary Industry) के रूप में बदल गई है। 'सवारा' जनजाति के लोग, जो कि मैदानी भाग में वर्तमान प्रणाली से कृषि कार्य करते हैं। कभी कभी निकटवर्ती पहाड़ी ढालों पर स्थानान्तरण कृषि कार्य करके विशेष प्रकार की फसलें पैदा करते हैं जिनकी कि निकटवर्ती लोगों को आवश्यकता होती है।

असम की अबोर जनजाति में, जिनके जीवन का मुख्य आधार कृषि है, 'आदिम्रविक' अथवा भूम खेती का अब भी प्रचुर मात्रा में प्रचलन है। यद्यपि वर्तमान में इनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ है।

नेफा प्रदेश की अनेक जनजातियाँ आज भी भूम कृषि प्रणाली अपनाती हैं। यह प्रणाली उनकी सामाजिक प्रथा, पौराणिक गाथा एवं धर्म से सम्बन्धित है।

लगभग सभी लोगों द्वारा स्थानान्तरित कृषि की कड़ी आलोचना की गई है। इसे अक्षम, अलाभकर और अपव्ययी बताया गया है, इससे वन नष्ट होते हैं और इसी कारण यह भूमि के कटाव तथा बाढ़ों का कारण भी है। यहाँ तक कि कीमती सागवान भी काट के जलाकर राख कर दिया जाता है। वैसे इस तरह की कृषि के बारे में जनजातीय लोगों के अपने तर्क भी हैं, जो अधिकांशत मिथकीय प्रकार के हैं। जैसे कि बैगा कहते हैं, भगवान ने उनके पूर्वज नानगा बैगा को आदेश दिया था कि हिन्दुओं और गोंडों की तरह जमीन को हल से न जोतें क्योंकि ऐसा करने का अर्थ धरती माता की छाती चीरना बताया जाता है। यहाँ यह बताना दिलचस्प होगा कि मनु ने भी ब्राह्मणों के लिए कृषि व्यवसाय इसी दृष्टि से वर्जित किया था कि हल जोतने और पौध स्थानान्तरण आदि कृषि क्रियाओं में जमीन की सतह के नीचे रहने वाले जीव मरते हैं।

बताया जाता है कि यदि स्थानान्तरित कृषि को रोका नहीं जाता है तो इससे जनजातियाँ आर्थिक सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी रह जाएँगी। लेकिन फिर भी यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि स्थानान्तरित कृषि को स्थायी कृषि में एकाएक परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोगों का आर्थिक जीवन उनके जीवन के अन्य पक्षों के साथ घनिष्ठ रूप में गुंथा-जुड़ा रहता है।

यहाँ जल्दबाजी में यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि कृषि में रत सभी भारतीय जनजातियाँ स्थानान्तरित कृषि करती हैं। रेंगमा जैसे कुछ नागा कबीले सीढ़ीदार कृषि करने में काफी दक्ष हैं। पहाड़ी ढलानों पर ये आसानी से ऐसी कृषि कर लेते हैं। भील, गोंड, मुण्डा, संथाल खासी एवं कई अन्य जनजातियाँ हल जोतकर स्थाई कृषि कार्य भी करती हैं, जैसी कि गैर जनजातीय गाँवों में की जाती है।

अनेक राज्य सरकारों की ओर से यह भी प्रयत्न हुआ है कि इन जनजातियों को मैदानी भागों में जमीन देकर बसाया जाए, केवल इस आशा में कि वे स्थानान्तरण कृषि का त्याग कर देंगे एवं स्थाई कृषि को अपना लेंगे। इस

दिशा मे थोडी-बहुत सफलता मिली भी परन्तु कुछ कमियाँ दोनो ओर से रही। वर्तमान समय मे असम के कुछ पहाडी क्षेत्रों, मध्य प्रदेश व बिहार के छोटे-छोटे भागो को छोडकर यह पद्धति करीब-करीब समाप्त सी हो गई है। परन्तु वर्तमान मे समस्या इस बात की है कि इसका जनजातीय आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पडा। कही-कही मानवशास्त्रियो के विवरणो से यह ज्ञात होता है कि लम्बे समय तक कुछ जनजातियाँ झूम कृषि के लिए संघर्ष करती रही हैं और सरकार की नीति को कई बार उन्होंने चुनौती भी दी। लेकिन फिर भी अन्त मे विवश होकर उन्होंने सामान्य स्थाई कृषि व्यवस्था को ही अपनाया। कुछ स्थानो मे वे स्थानीय सेठ-साहूकारो के शिकार बने। जनजातियो के लोगो को कर्जा लेकर इतना अधिक बाध्य होना पडा कि कर्ज न चुका सकने के कारण उन्होंने अपनी जमीन भी अन्त मे इन सेठो के हवाले कर दी और स्वयं कही के न रहे। अत केवल मुआवजा देकर अथवा जमीन देकर ही उनको आर्थिक विभिन्नताओ से नही बचाया जा सकता है। उनको स्थानीय शोषण कर्ताओ से भी बचाना आवश्यक होगा।

इस जनजातियो मे स्थानान्तरण कृषि के पीछे कुछ धार्मिक एव परम्परागत विचार भी दिखाई देते हैं। केवल आर्थिक प्रलोभन से उनका त्याग करने को वे कभी उत्सुक नही दिखाई दिए। अतः इन जनजातियो की भावनाओ को समझना तथा उनसे एक प्रकार का विश्वास पैदा करना भी अधिक आवश्यक है। शिक्षा के माध्यम से ऐसी समस्याओ को थोडा-बहुत सुलझाया जा सकता है। जनजातियो को इस बात का ज्ञान कराया जाए तथा वे यह स्वीकार करें कि वास्तव में स्थानान्तरण कृषि भूमि कटाव का परिणाम होना है, बनो को नुकसान पहुँचता है, वन राष्ट्र की सम्पत्ति हैं, उन्हे सुरक्षित रखने पर देश को अधिक लाभ हो सकता है। स्थानान्तरण कृषि के बारे मे उनके धार्मिक अन्धविश्वासो एवं धरती को माँ मानने जैसी धारणाओ को भी इसी प्रकार समाप्त किया जा सकता है क्योंकि जनजातियाँ आज परिवर्तन के मोड पर हैं जिनमे आधुनिक समाज की आकांक्षाओ के साथ-साथ आदिम समाज की भावनाएँ भी निहित हैं, जिनका वे पूर्ण रूप से त्याग नही कर पाए हैं।

(ख) स्थाई कृषि व्यवस्था (Permanent Agriculture)—स्थाई कृषि व्यवस्था मे कृषि कार्य उसी प्रकार से किया जाता है जिस प्रकार कि अन्य सभ्य जातियो मे सम्पन्न किया जाता है। यह कृषि स्थानान्तरण कृषि के विपरीत होती है। कृषि कार्य मे हल-बैलो की सहायता ली जाती है। इनकी समस्याएँ अन्य कृषक वर्गों की तरह ही हैं। संख्या के अनुसार जनजातियो मे यह वर्ग सबसे बडा है। जिन जनजातियो ने स्थाई कृषि कार्य को अपनाया है, उनकी स्थिति अब पहले से अधिक अच्छी है। असम के आगामी नागाओ की आर्थिक स्थिति सीमा नागाओ से अच्छी होने का कारण यह है कि उन्होंने झूम प्रणाली को छोडकर अब वर्तमान कृषि व्यवस्था को अपना लिया है। ये लोग सिंचाई के साधनो का प्रयोग करते हैं

तथा खेतों मे खाद आदि का उपयोग करते हैं जबकि झूम प्रणाली मे इन सब चीजों का अभाव था।

जो जनजातियाँ स्थाई रूप से कृषि-कार्य करती हैं, उनमे अधिकांश लोग मैदानी भागो मे रहते हैं। कभी कभी एक ही गाँव मे जनजातीय लोग तथा अन्य हिन्दू-मुसलमान व ईसाइयो की बस्तियाँ साथ साथ पाई जाती है। ये लोग हिन्दुओं के तथा अन्य सभ्य जातियो के सम्पर्क मे सबसे अधिक आए हैं। खेती उनके सामाजिक व सांस्कृतिक पर्वों मे स्थान पा चुकी है। फसलें बोने एव काटने के अवसर पर अनेक पर्वों का आयोजन किया जाता है। 'हेर', 'मुण्डा' और 'कोलो' के 'हेर', 'बा', 'साधे' पर्व इस बात के प्रमाण हैं। 'हेर' का प्रयोजन उनकी भाषा मे 'बोना' है।

इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की शिल्पकला तथा घरेलू उद्योग एव औद्योगिक श्रमिक के रूप मे भी जनजाति के लोग व्यस्त हैं।

4 शिल्पकला तथा घरेलू उद्योग-धन्धे (**Architects and Home Industries**)—लकडी, मिट्टी आदि से शिल्पगत वस्तुएँ बनाना, टोकरी बनाना, सूत कातना तथा बुनना, रस्सी व चटाई निर्माण एव घरेलू बर्तन बनाना आदि जनजातियो के प्रमुख उद्योग हैं। हालांकि इन उद्योगो का अनेक जनजातियो की अर्थव्यवस्था मे केन्द्रीय स्थान नहीं है परन्तु प्रमुख व्यवसाय के साथ-साथ अवकाश के समय अथवा अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु इन्हे अपनाया जाता है। माडिया गोड जगली पदार्थों से स्प्रिट निकालते हैं। सथाल अपनी अनेक शिल्पगत वस्तुओ के लिए प्रसिद्ध है। साओरा, कोड तथा गोड धातु शोधन, कताई-बुनाई, पात्र निर्माण आदि कार्य करते हैं। कोरवा व अगरिया लोहे का काम करते हैं। थारु लोग वाद्य यन्त्र, रस्सी व चटाई निर्माण का कार्य करते हैं। मद्रास की इरूला जनजाति के लोग बाँस की चटाई बनाते हैं। असम मे 'भम' रुई से वस्त्र निर्माण का प्रचलन वहाँ की जनजातियों में बहुत अधिक है।

5 औद्योगिक श्रमिक (**Industrial Labourers**)—उद्योग के विकास ने अनेक जनजातियो का भी आकर्षित किया। जनजातियो ने श्रमिक के रूप मे कारखानो की ओर प्रवेश किया। कुछ जनजातीय निवास स्थानो के आस-पास खनिज पदार्थों के भण्डारो का पता लगा तथा खनिज दोहन काय प्रारम्भ हुआ। ऐसी अवस्था म उन्हे स्थानान्तरण भी नही करना पडा। अपने घरो मे रहकर ही उन्हें व्यवसाय प्राप्त हो गया। इस प्रकार के औद्योगिक श्रमिक हो गए।

बहुत बडी सख्या मे सन्थाल तथा गोड जनजाति के लोग असम जाकर वहाँ के चाय के बागानो मे कार्य करते हैं। कोयले की खानो मे अपार सख्या मे जनजातियो के लोग कार्य करते हैं। बिहार लोहा उद्योग मे श्रमिको मे 'सन्थाल' व 'हो' को उच्च स्थान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त जगलात विभाग, सरकारी व गैर सरकारी उद्योगों व ठेकेदारो के अधीन भी इन्हें काफी रोजगार मिला हुआ है। इस प्रकार जनजातियों ने औद्योगिक श्रमिको के रूप मे एक वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था की।

कुछ प्रमुख जनजातियों का आर्थिक जीवन
(Economic Life of Some Major Tribes)

यहाँ हम तीन जनजातियों के आर्थिक जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालेंगे ।[1]

(1) कादर (Kadar)—भारत के सुदूर दक्षिण मे, कोचीन मे रहने वाले कादर भारतीय जनजातियो मे सम्भवतः सर्वाधिक आदिम हैं। उनकी भौतिक सस्कृति अत्यधिक निर्धन एव अत्यधिक अपर्याप्त है । इनका जीवन लगभग घुमक्कडा जैसा है । इसीलिए ये घरबार बसाकर स्थायी रूप मे कहीं नहीं रहते । इनकी झोपडियाँ छोटी और बाँस की बनी हुई होती हैं जो प्राय जालीनुमा लगती हैं । कादर स्त्रियाँ इन झोपडियो को बनाती हैं । ये जरूरत के हर मौके पर आग नहीं जलाते, बल्कि एक बार जलाई हुई आग को लम्बे समय तक सुरक्षापूर्वक जला हुआ रखते हैं । आग की देखभाल करने की जिम्मेदारी भी इस समाज की स्त्रियो की होती है ।

इस समाज के पुरुषो का काम शिकार करना, मछली मारना और शहद इकट्ठा करना है, जबकि स्त्रियाँ भोजन हेतु कन्दमूल, फल और पत्तियाँ इकट्ठा करने मे पुरुषो का हाथ बटाती हैं । इनके औजार भी बहुत अर्वाचीन हैं । खोदने की नुकीली लकडी और बाँस का तीर शिकारी के औजार होते है । बच्चे केवल गुलेल का ही इस्तेमाल करते हैं । शिकार हेतु पुरुष प्राय चाकुओ का प्रयोग भी करते हैं । ये विशेषत लम्बी पूँछ वाले बन्दरो का शिकार करते हैं । बकरियाँ, पशु एव मुर्गियाँ भी यहाँ पाली जाती है । बाँस की कबियाँ बनाने मे पुरुष काफी दक्ष होते हैं । इस दृष्टि से इनकी तुलना मलक्का के स्मांग और सेनाई तथा फिलिपाइन के ऐटा से की जा सकती है । मलक्का और इण्डोनेशिया की जगली जन जातियो की तरह कादर भी बाँस की कटोरियो के अतिरिक्त स्थानीय तौर पर बना अन्य किसी तरह का पात्र या बर्तन काम मे नहीं लेते । पुरुष एव स्त्रियो के पारम्परिक कार्यों के अतिरिक्त इनमे किसी तरह का श्रम विभाजन नहीं पाया जाता ।

(2) टोडा—दक्षिणी भारत के नीलगिरि का सुन्दर पर्वत प्रदेश टोडा जनजाति का निवास क्षेत्र है । टोडा की अर्थव्यवस्था मे पशुपालन एक उत्कृष्ट उदाहरण है । ये न तो खती करते हैं, और न किसी तरह की दस्तकारी का काम ही । इसीलिए इनकी भौतिक सस्कृति भी कादर की तरह ही अपर्याप्त है । लकिन इसके बावजूद भी, इनका जीवन स्तर काफी ऊँचा है । इनकी सभी आर्थिक क्रियाएँ इनकी भैंसो पर केन्द्रित रहती है । ये दूध एव दूध-उत्पादन अपने पडोसियो को देकर इसके बदले मे अपनी दैनिक आवश्यकताओ की वस्तुएँ इनसे प्राप्त करते हैं । एक अन्य जनजाति बडागा इन्हे अनाज एव खेती की अन्य पैदावार देते हैं तथा इनके एव मैदानी क्षेत्र के लोगो के बीच दूध व्यापार के बिचौलियो का काम करते हैं । बडागा टोडाओ को वार्षिक भेंट के तौर पर भी अनाज देते है । ऐसा टोडाओ

1 *Majumdar and Madan* Op cit, p 177-179

का इस क्षेत्र पर मूल स्वामित्व मानकर तथा टोडा जादू-टोने के भय के कारण किया जाता है। नीलगिरि क्षेत्र की ही एक अन्य जनजाति कोटा है। ये दस्तकारी का काम करते हैं और टोडाओं को मिट्टी के बर्तन, लोहे के उपकरण एव त्योहारो के अवसर पर काम आने वाली अन्य वस्तुएँ उपलब्ध कराते हैं। टोडा जनजाति के लोग गाने-बजाने का काम भी करते हैं। बदले मे टोडा इन्हें दूध, दूध के उत्पादन एव बलि के भैंसो का मांस देते हैं। टोडाओ के पास अस्त्र शस्त्र नही होते। इनके लट्ठा, तीर और कमान केवल उत्सवादि अवसरो पर ही काम आते हैं। इसके बाद भी जलाऊ लकडी काटने के लिए ये चाकुओ तथा कुल्हाडियो का इस्तेमाल अवश्य करते हैं। कोटा इन्हे घरेलू काम काज तथा दुग्धशाला के लिए आवश्यक सभी बर्तन प्रदान करते हैं। चकमक की सहायता से ये सामान्यत आग पैदा कर लिया करते हैं।

बडागाओ के मार्फत टोडा हिन्दू व्यापारियो से कपडे और गहने प्राप्त करते हैं।

टोडाओ के आवास गृह का अपना एक विशिष्ट रूप होता है। ये अर्ध-चन्द्राकार आकृति के होते हैं। इनका एक दरवाजा होता है। ये घास-फूँस आदि को बेत से बाँध बूँधकर बनाए जाते हैं। टोडाओ का एकमात्र पालतू पशु बिल्ली (Cat) है। भैंस तो इनके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव रोजगार का साधन भी है।

(3) हो (Ho)—कोल्हन की प्रमुख जनजाति 'हो' मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) की एक विशिष्ट उदाहरण है। कृषि इनकी जीविका का मूल आधार है। इसके अतिरिक्त ये कभी-कभी शिकार और मछली मारने का काम भी कर लेते हैं। इनके आर्थिक-सामाजिक जीवन मे अनेक विघटनकारी तत्त्व प्रवेश कर गए है किन्त इसके बावजूद भी आर्थिक क्रियाओ के क्षेत्र मे किया जाने वाला आपसी सहयोग इनके जीवन मे अब भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस बात के कोई प्रमाण नही है कि इनका अतीत साम्यवादी रहा हो, और न इनका वर्तमान मात्र समुदायात्मक ही है। इनका आर्थिक जीवन एक प्रकार के स्वैच्छिक सगठन (Voluntary Organization) और सामूहिक या सामुदायिक चेतना का द्योतक माना जा सकता है। सहयोग की व्यवस्था से आर्थिक सम्भावनाओ का भली प्रकार उपयोग और साथ ही दिनचर्या की एकरसता एव थकाऊपन दूर होते हैं।

हो जनजाति स्थानीय कलाओ एव दस्तकारी मे दक्षता को भी अत्यन्त महत्त्व देते है। विशेष दक्षता प्राप्त लोगो को भुगतान प्राय नक्द या वस्तुओ द्वारा ही नहीं बल्कि बदले मे उनके लिए काम करके भी किया जाता है। ऐसी स्थिति मे, वस्तुओ या सेवा की अपेक्षा नही की जाती। स्त्रियाँ साज-सज्जा एव रूपालकरण के कार्य मे कुशल होती हैं। इसी तरह इनमे कुशल शराब बनाने वाले एवं कुशल दस्तकार भी होते हैं। टोकरियाँ और रस्से बनाने का काम लगभग सभी हो कर लेते हैं।

हो की स्थानीय परम्परा के अनुसार मजदूरी का नकद चुकारा नही किया जाता है। इनमे काम का भुगतान वस्तु मे किया जाता है। इस तरह ये वस्तु-विनिमय (Barter) मे विश्वास करते हैं। इनकी अधिकांश सामूहिक क्रियाएँ और आर्थिक उद्यम आपसी सहयोग एव दायित्व-बोध पर आधारित रहते है। इसीलिए मुद्रा एव नकद भुगतान ने इनकी सस्कृति मे एक विघटनकारी कारक का काम किया है। फिर भी, कोल्हन क्षेत्र मे मुद्रा का चलन बहुत सीमित रूप मे ही हो पाया है, अत वस्तु मे भुगतान की व्यवस्था का प्रचलन अब भी सुरक्षित है। अपनी दैनिक आवश्यकता की खाद्य वस्तुओ को प्राप्त करने की सामान्य विधि चावल या नमक के बदले किया जाने वाला वस्तु विनिमय (Barter) है। वस्तु विनिमय के स्थान पर मुद्रा की अर्थव्यवस्था के प्रचलन ने—जो बहुत कुछ खानें एव कारखाने खुल जाने, रेल चल जाने और लाख इकट्ठा करने तथा कोकीन के प्रचार का परिणाम है—इनके आर्थिक जीवन के आधार को परिवर्तित कर दिया है।

हल चलाने, मछली मारने और शिकार का काम सदैव समूहो के रूप मे किया जाता है। कृषि की तरह मछली मारने सम्बन्धी श्रम-विभाजन भी कतिपय चलनो के आधार पर किया जाता है। ये इनका कड़ाई के साथ पालन करते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि 'हो' जनजाति की अर्थव्यवस्था मुख्यत: कृषि-प्रधान है, एव मुद्रा का यहाँ अभाव है।

आदिम एवं आधुनिक अर्थव्यवस्था की तुलना एव अन्तर
(Comparision and Difference between Primitive and Modern Economic System)

मानव समाज के विकास के साथ साथ उसकी समस्त अन्य व्यवस्थाओ का भी विकास हुआ है। मानव समाज के आदिम काल मे अर्थव्यवस्था का जो स्वरूप था उसका अनेक विद्वानो ने समय-समय पर अध्ययन किया है। आदिम समाज के सदस्य के स्रोत बहुत सीमित हैं, वह शिकार कर सकता है, मछली पकड़ सकता है, या सामान्य स्तर पर खेती कर सकता है, इन सीमित साधनो से ही उसे जीवकोपार्जन करना होता है, उसकी तकनीकी भी अविकसित होती है। इस प्रकार आदिम समाज के आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्त सामान्य आर्थिक सिद्धान्तो से भिन्न नही थे। सामान्य आर्थिक सिद्धान्त सभी समाजो पर लागू होते हैं। कोई भी ऐसा समाज नही है जिसमे उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग की विधियाँ न हो, कोई ऐसा समाज नही होगा जिसमे वस्तुओं के मूल्य को लेकर कोई अभिव्यक्ति न हो, यह हो सकता है कि वह मूल्य किसी मुद्रा के प्रतीक रूप मे न हो, यह भी हो सकता है कि किसी समाज मे श्रम का कोई विशिष्टीकरण न हो और श्रम के बदले मे कोई पारितोषिक या भुगतान की व्यवस्था न हो, वास्तव मे आदिम समाज की अर्थव्यवस्था तो तकनीकी समय समाज से भिन्न है। इस तकनीकी के प्रयोग से ही उत्पादन बढ़ता है, और इसी के परिणाम-स्वरूप मुनाफा और आर्थिक असमानता के सामाजिक पक्ष सामने हैं।

सामाजिक मानव वैज्ञानिको ने आदिम समाज की अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया है, उनके अध्ययन का क्षेत्र बहुत सीमित रहा है, वे आदिम समाज के जीविकोपार्जन के स्रोतो का अध्ययन करते हैं, इस बात की खोज करते हैं कि इस समाज मे श्रम सगठन कैसा है और आर्थिक क्रियाओ के वर्गीकरण का कारण क्या है?

आदिम समाज की अर्थव्यवस्था को जीविका अर्थव्यवस्था (Substantive Economy) कहते हैं। इसका यह अर्थ नही कि आदिम समाज के सदस्य केवल उतना ही उत्पादन करते थे जितना कि उनके लिए आवश्यक था। परन्तु इससे यह आशय अवश्य है कि वे केवल उतना उत्पादन करना चाहते थे जिनसे उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाए। अर्थशास्त्र मे जिसे वस्तु विनिमय कहा जाता है उसे वह नही जानते थे। मानव वैज्ञानिको ने आदिम समाज की जीविका अर्थव्यवस्था को मुख्यतया तीन प्रकारो मे रखा है। पहला प्रकार यह है कि जिसमे आदिम समाज के लोग जगली जानवरो के शिकार और खाद्य सग्रह द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। दूसरी अवस्था पशुपालन की थी तथा तीसरी अवस्था कृषि की है। आज के प्रसग मे अर्थव्यवस्था का तार्किक रूप क्या था जिससे कि आदिम समाज के तकनीकी ज्ञान के विभिन्न स्तरो मे अन्तर कर सकें। यद्यपि आदिम समाज जीविका अर्थव्यवस्था पर आधारित था, तथापि इसमे उत्पादन कारको का कोई न कोई सगठन अवश्य मिलता है। आदिम समाज मे बाजार का श्रम नही है। भूमि के लिए भी बाजार नही है, स्रोतो के लिए भी बाजार का अभाव है, यह सब होते हुए भी इस समाज म उत्पादन के सस्थापक रूप को पाना कठिन नही है। यह भी ठीक है कि सभ्य समाजो की तरह आदिम समाजो म यन्त्रो को स्थान नहीं था। फिर भी कुछ बातें दोनो समाजो मे बराबर पाई जाती हैं। चाहे आधुनिक अर्थव्यवस्था हो या आदिम, दोनो मे कच्चे माल की आवश्यकता होती है, भूमि की आवश्यकता होती है, और इसी प्रकार कार्य और औजारो की आवश्यकता होती है। यह सब उत्पादन के कारक कहलाते है।

कार्ल पोलनी (Karl Polany) ने आदिम समाज के वस्तु विनिमय का अध्ययन किया। उनके अनुसार वस्तुओ के बँटवारे या विभाजन के तीन मौलिक स्वरूप हैं—

(1) परस्परता (Reciprocity)

(2) पुनर्वितरण (Re allocation)

(3) बाजार विनिमय (Market Exchange)—बाजार विनिमय वस्तुओ का वह विनिमय है कि जो माँग और पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित होता है। आधुनिक अर्थव्यवस्था मे इसका विशेष महत्व है। परस्परता मे वस्तुओ का विनिमय लोगों के बीच म होता है, यह विनिमय बाजार की स्थिति मे नही होता है। इसमे विनिमय करने वाले लोगों के सम्बन्ध असोपनिक होते हैं, विनिमय सामाजिक सम्बन्ध स्थापित नही करता, बल्कि सामाजिक सम्बन्ध विनिमय

को स्थापित करते हैं। पुर्नविनरण का अर्थ है जिसमे वस्तुएं प्रशासन के केन्द्र की ओर बढती हैं और केन्द्र के अधिकारी उन वस्तुओ का पुन बँटवारा करते है। आधुनिक कर इस व्यवस्था का अच्छा उदाहरण है।

ट्रोब्रियड अर्थव्यवस्था मे दुर्खीम ने सामाजिक मानवशास्त्र मे सबसे पहली बार वस्तु विनिमय या परस्परता के क्षेत्र मे भेंट विनिमय का सिद्धान्त रखा था। इस सिद्धान्त को उनके अनुयायी मारसल मॉस ने और अधिक पुष्ट किया। दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरुण्डा जनजाति का अध्ययन किया है और मारसल मॉस तथा बाद मे मेलिनॉस्की ने इस व्यवस्था को कम तथा अन्य ऐसी ही विनिमय व्यवस्थाओ द्वारा समझाया है। ट्रोब्रियड की विभिन्न विनिमय व्यवस्थाओ का प्रचलन निम्न संस्थाओ मे पाया जाता है—कूल, युरीगुनु, गिमवली, पोकला, वसी, सागली। ट्रोब्रियंड द्वीप-वासियो की यह अर्थव्यवस्था परस्परता और विनियम पर निर्भर है। यह विनिमय त्यौहारो और उत्सवो मे विशेष रूप से देखा जाता है। ट्रोब्रियड द्वीपो मे ऐसे गाँव भी है जिन्हे समुद्र मे मछली मारने का अधिकार है, लेकिन भूमि पर अधिकार नही है, और ऐसे गाँव भी हैं जिन्हे समुद्र मे मछली मारने का अधिकार नही है। इन दो प्रकार के गाँवो मे वस्तुओ की परस्परता होती है। इस परस्परता मे वस्तुओ के दाम परिभाषा रूप मे निश्चित होते है। विनिमय की यह व्यवस्था वसी कहलाती है। वसी मे गाँवो का एक समूह मछलियाँ देता है और उसके विनिमय मे दूसरा खाद्य पदार्थ देता है।

विकसित समाजो की अर्थव्यवस्था की बहुत बडी विशेषता बाजार मे किए गए सौदे की प्रभुता है। प्रत्येक परिवार का सदस्य बाजार से प्रभावित होता है, या तो वह अपने श्रम को बाजार मे बेचता है या वह अपनी पूँजी को उत्पादन मे लगाता है। किसी न किसी तरह वह अपनी कुशलता को पूँजी या श्रम के रूप मे बाजार मे लाता है। ऐसा करने मे असफल होने पर उसे भूखो मरना पडता है। यह अलग बात है कि उसे उसके स्वजन भरण-पोषण के साधन जुटाएँ या राज्य या कोई समाज सेवी सदस्य उसे भरण-पोषण प्रदान करें। आदिम समाज मे बाजार की कोई व्यवस्था अवश्य होती थी, यह ठीक है कि इस समाज मे बाजार उतना प्रबल नही होता, जितना कि विकसित अर्थव्यवस्था वाले समाजो मे अफ्रीका के कई समाजो मे परम्परागत बाजार के स्थान होते थे। ये बाजार सप्ताह, महीने और वर्ष के निश्चित दिनो मे लगते थे। कीकूयू जनजाति मे ऐसे बाजारो मे लोग बहुत बडी सख्या मे आते हैं। घाना मे विभिन्न मध्यान्तरो पर बाजार लगते है। कोनकोम्बा जनजाति मे होने वाले बाजारो का वर्णन टेर ने दिया है। कोनकोम्बा जनजाति गोत्रो मे बँटी हुई है। प्रत्येक गोत्र का अपना एक निश्चित क्षेत्र है, और इस क्षेत्र मे छ: दिन के अन्तर मे बाजार लगता है। बडे बाजार कई जन-जातियो के बीच मे लगते हैं। येन्दी एक ऐसा मुख्य बाजार है जो घाना की सभी जनजातियो के लिए वर्ष मे एक बार होता है। छोटे बाजार गोत्र के नियन्त्रण मे होते हैं।

मुद्रा और साख अर्थ व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण आधार है। यदि शुद्ध उद्योग की दृष्टि से देखा जाए तो कहना होगा कि जीविका अर्थव्यवस्था वाला समाज पूर्व औद्योगिक समाज है। ऐसे समाज को जब हम मुद्रा और साख की दृष्टि से देखते हैं तो पहला प्रश्न है मुद्रा का अर्थ क्या है? आधुनिक समाज और आदिम समाजो मे पूंजी का क्या स्वरूप था? आदिम मुद्रा का प्रयोग वस्तु विनिमय मे होता है। न्यूगिनी के लोगों मे खोल मुद्रा का प्रयोग होता है। यह मुद्रा धार्मिक सस्कारो के अवसर पर बाजार मे भुगतान के काम म ली जाती है। न्यू ब्रिटेन म तोलाई जनजाति इस मुद्रा को टम्बू नाम से पुकारती है। जब वस्तुओ को बेचना होता है और उसके बदले मे कुछ लेना नही होता, तब टम्बू विनिमय का साधन होता है। आदिम समाजो मे ऋण और साख की पद्धति भी काम मे लाई जाती है। अफ्रीका की जनजातियो मे आपसी झगडो को रोकने के लिए रकम अदा करने की साख रखने की परम्परा थी। कभी-कभी कृषि वस्तुओ की खरीद मे भी ऐसी ही साख काम मे लाई जाती थी। ट्रोब्रियण्ड द्वीप की कुल विनिमय व्यवस्था मे ऋण की रकम पर ब्याज भी लिया जाता है। जब कोई व्यक्ति एक मुद्रा उधार लेता है तो उसके बदले मे उधार की मुद्रा से अधिक मुद्रा देनी पडती है। ब्याज की कोई निश्चित दर आदिम अर्थव्यवस्था मे नही है लेकिन जो कुछ उधार लिया जाता था उससे कुछ अधिक ही लौटाया जाता था।

पूंजी का कोई न कोई स्वरूप आदिम समाजो मे था। कृषि की सबसे बडी पूंजी भूमि थी, भूमि से सम्बन्धित कृषि साधन, हल, बैलगाडी, पूंजी के दूसरे प्रकार हैं। मलाया की जनजातियो मे पूंजी का आय से अन्तर करने के लिए अलग-अलग शब्द हैं। मूल्यवान वस्तुएँ पूंजी हैं।

आदिम समाज मे उत्पादन सगठन, वस्तु विनिमय और मुद्रा साख के सन्दर्भ म आधुनिक अर्थव्यवस्था से भिन्नता अवश्य मिलती है। आधुनिक अर्थ व्यवस्था यन्त्र और बाजार पर आधारित है, आदिम अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्न थी—

आदिम अर्थ व्यवस्था मे प्राकृतिक साधनो के प्रयोग मे तकनीकी उपकरणों के उपयोग का अभाव रहा है। आर्थिक क्रियाओ को धर्म और जादूटोनो से मिला देने की प्रवृत्ति बहुत अधिक थी। यह लोग उत्पादन तथा वितरण पर जितना बल देते थे उतना विनिमय पर नही देते थे, क्योकि अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए स्वय उत्पादन करने मे अधिक समय लगता था, आर्थिक वस्तुओ का उत्पादन विनिमय के लिए नहीं होता था, इसलिए मुद्रा का उपयोग भी उतने व्यापक रूप मे नहीं होता जितना आधुनिक समाज मे। स्वय अपने परिवार के लिए उत्पादन की क्रियाओं मे लगे रहने के कारण मुनाफा वृत्ति की आज के आधुनिक अर्थव्यवस्था की भाँति वृत्ति नही थी। आर्थिक जीवन मे पारस्परिक दायित्व, सहभागिता, सामूहिक सुदृढता का महत्त्व अधिक था।

आधुनिक अर्थव्यवस्था (Modern Economy) जिसका उद्भव मूलरूप से औद्योगिक क्रान्ति से हुआ है प्रमुख रूप से आधुनिक तकनीकी पर आधारित है। इसके फलस्वरूप विशेषीकरण का प्रभाव बहुत अधिक अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने लगा, आदिम समाज मे विशेषज्ञो का प्रमुख अभाव नही था। यह विशेषण औद्योगिक समाज के विशेषज्ञो से भिन्न है, क्योकि आदिम समाज के लोग अपनी आजीविका आवास की वस्तुओ के विनिमय द्वारा नही चलाते। वातुई का काम करने वाले, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले या लकडी का काम करने वाले या ऐसे ही अन्य विशेषज्ञ प्रत्येक समाज मे होते हैं। भारत मे जाति व्यवस्था श्रम विभाजन का अच्छा उदाहरण है। प्रत्येक जाति के अपने परम्परागत कार्य है जिनके द्वारा जाति के सदस्य जीविकोपार्जन करते है। बैली ने उडीसा के बिसोपाडा गाँव का अध्ययन किया। इस गाँव मे वारियर जाति का प्रमुख परम्परागत रूप से गाँव की भूमि पर था। यह जाति चावल उत्पादन पर अपना नियन्त्रण रखती थी। दूसरी जातियो के सदस्य गाँव के सेवक थे। ब्राह्मण जो कि जाति व्यवस्था मे सबसे ऊँचे पद सोपान पर हैं, केवल धार्मिक सस्कारो को करते थे। नाई धोबी, मेहतर और चरवाहे सभी अपनी-अपनी सेवाएँ गाँव को देते थे। अछूत वारियर जाति की भूमि पर मजदूरी करते थे। बिसोपाडा का यह परम्परागत श्रम विभाजन व्यापार की नई दिशाओ के खुल जाने से आज बदल गया है। लघु समाजो मे जादू-टोना करने वाले भी विशेषज्ञ कहे जाते थे।

श्रम विभाजन का अध्ययन दुर्खीम ने किया और उत्पादन सगठनो पर उसके परिणामो की व्याख्या की। वे श्रम विभाजन को आर्थिक सन्दर्भ मे देखते है और उनका मत है कि एक प्रकार के समाज वे होते है जिनमे विशेषज्ञ नही होते है और जहाँ आर्थिक सहयोग केवल उन लोगो का होता है जो सभी प्रकार के कार्यों को थोडा बहुत जानते है। दूसरे समाज वे होते हैं जिनमे विभिन्न कार्य विशेषज्ञो द्वारा किए जाते हैं। इस समाज की आर्थिक व्यवस्था मे इन विशेषज्ञो का अपना अपना योगदान होना है। पहले समाज मे यदि लोग अपने कार्य मे सहयोग न दें, तो कार्य रुका नही रहेगा, चाहे उनकी गति मन्द अवश्य हो जाए। दूसरे प्रकार के समाज म यदि विशेषज्ञो का सहयोग न हो तो कार्य होगा ही नही। वे समाज जिनमे श्रम विभाजन अधिक नही होता, उनमे भी कार्यों के बँटवारे की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य होती है। बँटवारे का सबसे बडा आधार काम करने वाले की क्षमता होनी है। न्यूगिनी की जनजातियो मे और जगत मे रहने वाली सभी जनजातियो मे लकडी काटने का कार्य पुरुष करते है। कुछ जनजातियो मे कार्य को लेकर पुरुष और स्त्री की निश्चित अभिवृत्तियाँ होती हैं। अफ्रीका की जनजातियो मे कुछ समुदाय ऐसे हैं जिनमे पुरुष खेती का कार्य अपनी गरिमा के अनुकूल नही समझते। बकरियो को चराने का काम बच्चो का है। छोटी लडकियाँ पानी भरने का काम करती हैं।

किसी भी समाज मे चाहे वह कितना ही जटिल क्यो न हो, प्रत्येक व्यक्ति विशेषज्ञ नहीं होता। ऐसी अवस्था मे श्रम सगठन एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह कार्य सभी समाजों मे देखने को मिलता है। कुशल अकुशल कारीगरो को सगठित करके वस्तु उत्पादन करना किसी भी आर्थिक व्यवस्था की बहुत बड़ी विशेषता है। आदिम समाज मे श्रम शक्ति का सगठन मजदूरी की अपेक्षा सामाजिक सम्बन्धो पर अधिक होता था। अफ्रीका के कई भागो मे कृषि करने वाले लोग अपने पडोसियो से चाहे वे स्वजन हो या न हों, सहायता की आशा करते हैं। बुवाई और कटाई के साथ यह श्रम और भी अधिक अपेक्षित है। पश्चिमी केनिया की गुसी जनजाति मे कृषि मे स्वजनो के सहयोग की इस सस्था को रीका नाम से पुकारते हैं। मानव वैज्ञानिकों ने आदिम श्रम सगठन का अध्ययन किया। मेलिनोंस्की द्वारा किए गए ट्रोब्रियण्ड द्वीपवासियो का और बाद मे फर्थ द्वारा किए गए मेलिनेशिया द्वीप के टीकोपिया के अध्ययन विशेष उल्लेखनीय है। टीकोपिया मे कोई भी मकान मालिक अपनी नाव बनाने का काम उठा सकता है लेकिन सामान्यतया यह काम ऊँची स्थिति वाले लोग करते हैं, केवल गोत्र का मुखिया ही पवित्र नाव को बनवा सकता है जिसका प्रयोग धार्मिक सस्कारों के लिए किया जाता है। नाव बनाने के लिए लकडी काटना, नाव बनाने मे लगभग आधा दर्जन लोग लगते हैं, इसके अलावा नाव के विभिन्न हिस्सों को जमाने के लिए और अधिक आदमी चाहिए, इस सम्पूर्ण काम मे स्वजनो के अतिरिक्त कुशल कारीगर भी होते हैं, स्वजनो को काम के बदले में भोजन दे दिया जाता है। अन्य लोगो को भोजन के अतिरिक्त छालवस्त्र या अन्य वस्तुएँ दी जाती है इस प्रकार परिश्रम के बदले मे यह जनजाति भोजन और कुछ वस्तुएँ भेंट मे देती है।

आधुनिक समाजो की अर्थ व्यवस्था आदिम समाजो की अर्थ व्यवस्था से भिन्न है। यह भिन्नता मूल रूप से वितरण एव विनिमय के पक्ष मे है। इसी आधार पर आज अर्थव्यवस्था के अनेक रूप देखने को मिलते हैं जिनमे उत्पादन एव वितरण सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तो का अलग-अलग आधार पाया जाता है। उत्पादन सम्बन्धी प्रश्नों मे उत्पादन साधनों का आपसी अनुपात जैसा चाहिए वैसा है या नहीं है, आपसी अनुपात उत्पादन की जो विधि काम मे ली जाती है उससे भी प्रभावित होता है। उत्पादन के किस काम मे किस तकनीक को काम मे लिया जाए इसका निर्णय निजी उत्पादन लाभ दृष्टि से और समाज अपने सामाजिक ध्येय के आधार पर करेगा जिसमे आर्थिक कुशलता का ध्यान भी रखा जाएगा।

आधुनिक समाजों में आर्थिक विकास के वर्तमान स्तर को कायम रखने और उसे विकसित करने सम्बन्धी कार्य भी करना होता है, आर्थिक शक्ति को बढ़ाने के लिए श्रम और पूँजी दोनो मे अभिवृद्धि होनी चाहिए। श्रम शक्ति की अभिवृद्धि जनसख्या के बढ़ने से और देशों मे शिक्षा और विभिन्न प्रकार के

प्रशिक्षण की उन्नत व्यवस्था होने से होती है। पूँजी की अभिवृद्धि के लिए पूँजीगत पदार्थों का उत्पादन बढ़ाना होता है। यह तभी हो सकता है जब उपभोग पर नियन्त्रण रखा जाए। समाजवादी और साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं में श्रम और पूँजी की अभिवृद्धि बहुत कुछ राज्य के निर्णय पर निर्भर करती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में ये निर्णय काफी हद तक तो मूल्यतन्त्र और लाभतन्त्र से प्रभावित होता है। आधुनिक समाजों में अर्थव्यवस्था अधिक जटिल होती जा रही है तथा तकनीकी के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण विशेषीकरण, श्रम-विभाजन तथा बाजार का प्रभाव अधिक पाया जाता है।

आदिम जनजातियों की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन
(Change in Primitive Economic System)

भारत में जनजातीय संस्कृति आर्थिक परिवर्तन के आधार पर निरन्तर परिवर्तित होती है। आदिम समाजों की अर्थव्यवस्था का विस्तार से अध्ययन करने से यह सुगमता से जाना जा सकता है कि जनजातियों की आर्थिक गतिविधियाँ परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रही हैं। आधुनिक तकनीक, शिक्षा एवं नवीन विचारों के आदिम अर्थव्यवस्था में अब स्थान मिलने लगा है, इसी का परिणाम है कि मजदूर वर्ग एवं सफेद पोश वर्ग जैसे नए वर्गों का उदय आदिम अर्थव्यवस्था में दिखाई देने लगा है। यह कहना कठिन है कि इस परिवर्तन के कौन-कौन से मुख्य कारण हैं क्योंकि यह परिवर्तन स्थानीय स्तर पर काफी तीव्र गति से होता है। परन्तु इस परिवर्तन की क्रिया को भली-भाँति समझने के लिए यह अच्छा होगा कि विभिन्न नवीन आर्थिक प्रक्रियाओं तथा उन्नति को समझा जाए तथा दूसरी ओर कुछ परिणामों के आधारभूत तत्त्वों की विवेचना की जाए। इसी प्रकार आर्थिक परिवर्तन एवं विकास जो सामान्य समाजवाद की पद्धति पर हो रहे हैं, समझा जा सकता है। जनजातियों को अपने कार्य में जो आर्थिक कठिनाई सामने आ रही है, उसकी विवेचना करना भी अभीष्ट है।

आदिम अर्थव्यवस्था के परिवर्तित स्वरूप को अनेक दृष्टिकोणों से देखा व समझा जा सकता है। आदिम जनजातियों की अर्थव्यवस्था का मुख्य कार्य आरम्भ में जहाँ भोजन संग्रह करना, शिकार करना, लकड़ी आदि बेचना प्रमुख था वहीं अब वे अनेक सहायक धन्धों को अपनाने लगे हैं। इसी अर्थव्यवस्था के परिवर्तित स्वरूप के बारे में मजूमदार एवं मदान लिखते हैं—"प्रजातीय, भाषाई और भौगोलिक आधारों पर भारतीय जनजातियों को तीन भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटना सम्भव है। ये हैं—उत्तरी-पूर्वी समूह, मध्यवर्तीय समूह और दक्षिणी समूह।" इन क्षेत्रों के सीमान्ती भागों में देश के जनजातीय समूह आ जाते हैं। इस प्रकार के त्रिस्तरीय वर्गीकरण की परिपुष्टि आर्थिक स्तरों द्वारा भी होती है। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में लगभग स्थाई तौर पर की जाने वाली सीढ़ीदार कृषि-प्रधान आर्थिक क्रिया है। मध्य क्षेत्र की प्रधान आर्थिक क्रिया स्थानान्तरित कृषि है। दक्षिण क्षेत्र में खाद्य संकलन जैसी प्रारम्भिक आर्थिक क्रिया का प्राधान्य है। स्थानान्तरित कृषि कुछ अंशों तक उत्तर-

पूर्वे और दक्षिणी क्षेत्रो मे भी पाई जाती है। सहायक व्यवसायो मे शिकार, मछली मारना, टोकरियाँ बनाना, कृषि एव औद्योगिक श्रमिक के रूप मे कतिपय क्षेत्रो मे काम करना आदि का उल्लेख किया जा सकता है। परधान जैसी जनजाति गाने-बजाने स अपनी जीविका कमाती है। शासन द्वारा दिया गया सडक बनाने या जगलात का रोजगार भी इन जनजातियो के व्यवसाय का स्थाई अग बन गया है।

एल पी विद्यार्थी ने अपनी कृति 'भारतीय आदिवासी—उनकी सस्कृति और सामाजिक पृष्ठभूमि' मे लिखा है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था आदिवासियो की परम्परागत अर्थव्यवस्था को परिवर्तित कर रही है और इस परिवर्तन के पीछे जो प्रमुख शक्तियाँ काम कर रही हैं वे निम्नलिखित हैं[1]—

(क) शिक्षा,
(ख) जनजातीय बाजारो का शहरी बाजारो तथा बडे बडे बाजारो के साथ सम्बन्ध,
(ग) सहकारी समितियाँ,
(घ) व्यावसायिक बैंक,
(ङ) मजदूर-सघ,
(च) भूमि बन्धक अधिनियम तथा उनकी जानकारी,
(छ) बचत की धारणा,
(ज) आवश्यकता पर आधारित उपभोग की पद्धति मे परिवर्तन,
(झ) अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा पर परिवर्तित परिस्थितियाँ तथा उनका सीमान्त जनजातियो पर प्रभाव,
(ञ) जनजातियो मे व्यावसायिक धारणा का प्रादुर्भाव,
(ट) जनजातियो मे महाजनो का उद्भव,
(ठ) अनाज की पैदावार की जगह नगदी फसलें उगाने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ,
(ड) छोटे-मोटे वन्य उत्पादनों की खुले बाजार मे पैसे लेकर बिक्री,
(ढ) सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी सस्थाओ मे सुरक्षित स्थान।

आदिम अर्थव्यवस्था के परिवर्तित होने मे शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षा को आदिवासियो न भली-भाँति अपनाना प्रारम्भ किया है, जिससे उन्होने शहरो के औद्योगिक क्षेत्रो मे सफेदपोश कार्यो मे लगना प्रारम्भ कर दिया है। सथाल, मुण्डा, उरॉव, हो, भील, गोड तथा ईसाई धर्म मे परिवर्तित आदिवासी ऐसे मुख्य आदिवासी हैं जो अपनी शैक्षणिक योग्यता के आधार पर नए-नए कामो मे लग गए हैं।

जनजातीय बाजारो का शहरी बाजारो एव बडे-बडे बाजारो के साथ सम्बन्ध हो जाने से भी जनजातीय अर्थव्यवस्था मे काफी परिवर्तन हुआ है। जनजातीय लोग

1 डॉ ललित प्रसाद विद्यार्थी : पूर्वोक्त, पृ. 147-150

आधुनिक फैशन तथा आराम की वस्तुएँ बाजारो से खरीदने लगे हैं। इसके साथ ही आदिवासियो की वस्तुएँ भी बाजारो मे काफी अच्छी कीमतें पाने लगी हैं। जनजातीय आर्थिक गतिविधियो को काफी प्रोत्साहित किया है। मुण्डा एव उराँव जैसे जनजातीय आलू तथा नए प्रकार की सब्जियो की खेती करने लग गए हैं तथा उसे साप्ताहिक बाजारो मे बेचनें लग गए है। कारीगर वर्ग की जनजातियाँ, जैसे महली, अपने बनाए हुए सामानो को अपने जनजातीय भाइयो के बीच ही नही बेचती वरन् सामान्य बाजार मे थोक रूप म भी बेचती हैं।

औद्योगीकरण के फलस्वरूप भी आदिम आर्थिक जीवन काफी प्रभावित हुआ है। मजूमदार एव मदान ने अपनी कृति मे लिखा है कि "भारतीय जनजातीय सदस्य औद्योगिक जीवन के सम्पर्क मे दो तरीके से आए हैं—या तो स्वयं औद्योगिक क्षेत्रो मे प्रवास कर गए हैं अथवा इनके आवासी क्षेत्रो मे उद्योग स्थापित हुए हैं। काफी बडी संख्या मे सथाल, कोण्ड और गोंड असम मे आप्रवासी की तरह पहुँच गए हैं तथा वहाँ चाय बागानो मे विभिन्न प्रकार से कार्य करने लगे हैं। इस प्रकार के बाहरी श्रमिको की पूर्ति विशेषत बिहार, उडीसा और मध्य प्रदेश से होती है। औद्योगिक जीवन से सम्पर्क का दूसरा तरीका, इसके दूरगामी परिणामो की दृष्टि से, काफी महत्त्वपूर्ण है। भारत के मध्यवर्ती भाग कतिपय जनजातीय खनिज सम्पदा की दृष्टि से काफी समृद्ध हैं और इन्ही क्षेत्रो मे कोयला, लोहा, इस्पात आदि उद्योग स्थापित हुए हैं। ऐसा बगाल, बिहार और मध्य प्रदेश मे हुआ है। इस प्रकार इन लोगो के जीवन मे औद्योगीकरण से एक प्रकार के जनजातीय-नगरीय नैरन्तर्य की स्थापना हुई। कतिपय स्थितियो मे जनजातीय लोगो मे उल्लेखनीय अनुकूलनशीलता देखी गई है। सथाल अच्छे खनक एव कोयला तोडने वाले माने जाते हैं। मध्य प्रदेश मे मैंगनीज उद्योग मे लगे श्रमिको का लगभग पचास प्रतिशत भाग जनजातीय श्रमिको का है। बिहार के लोहा उद्योग मे सथाल एव हो का विशेष स्थान है। टाटा लोह एव इस्पात कम्पनी के लगभग सभी गैर-तकनीकी श्रमिक जनजातीय हैं। इनकी कुल सख्या करीब 17,000 है। बिहार की जनजातीय जनसख्या मे से 2,50,000 लोग अभ्रक उद्योग मे लगे हुए हैं। बिहार की अभ्रक खाने सामान्यतः जंगलो मे ही पाई जाती हैं। जनजातीय श्रमिको को वन उत्पादनो एव लकडी कटाई के ठेकेदारो द्वारा भी रोजगार दिया जाता है। सडक-निर्माण मे भी स्थानीय जनजातीय श्रमिको को रोजगार मिलता है।"[1]

शहरीकरण के परिणामस्वरूप ही आदिम अर्थव्यवस्था मे काफी परिवर्तन हुआ है एव अब आदिम जनजातियाँ लेन-देन, आय-व्यय तथा मुद्रा का प्रयोग करने लगी हैं। आदिम समाज के लोग अपनी अतिरिक्त उपार्जित वस्तुओ का मूल्य मुद्रा के रूप मे ही प्राप्त करना चाहते हैं। कुछ सीमा तक ग्रामीण अर्थव्यवस्था को छोडकर अब मजदूरी प्राय. मुद्रा के रूप मे ही दी जाने लगी है। शहरीकरण के

1 *Majumdar & Madan : op. cit., p. 159.*

फलस्वरूप एक ओर तो आधुनिक समाज के सदस्य शहरो में आकर मजदूरी करने लगे हैं और दूसरी ओर कुछ छोटे-मोटे शहरो का विकास आधुनिक समाज के क्षेत्रो में हो गया है। आशय यह हुआ कि ये समाज आधुनिक आर्थिक प्रणाली के प्रभाव-क्षेत्र में आ चुके हैं और निकट दशाब्दियो में ही हमें आदिम अर्थव्यवस्था का अध्ययन नए दृष्टिकोणो में नए परिवेश के अनुसार करना पडेगा।

जनजातीय लोग आधुनिक फैशन तथा आराम की वस्तुए बाजारो से खरीदने लगे हैं। इसके साथ ही आदिवासियो की वस्तुएँ भी बाजारो में काफी अच्छी कीमतें पाने लगी हैं। जनजातीय आर्थिक गतिविधियो को काफी प्रोत्साहित किया जाता है। मुण्डा एव उरांव जैसे जनजातीय आलू तथा नए प्रकार की सब्जियो की खेती करने लग गए हैं तथा उसे साप्ताहिक बाजारो में वेचने लग गए हैं। कारीगर वर्ग की जनजातियां, जैसे महली, अपने बनाए हुए सामानो को अपने जनजातीय भाइयों के बीच ही नही बेचती वरन् सामान्य बाजार में थोक रूप मे भी बेचती हैं।

सहकारिता आन्दोलन ने भी आर्थिक पहलू को नया मोड दिया है। कृषक सहकारी समितियो से उन्नत बीज एवं रासायनिक खाद ग्रहण करने लग गए हैं। वन-मजदूर सहकारी समितियाँ भी वन्य उत्पादन के क्षेत्र मे नए आयाम खोल रही हैं। व्यापारिक समितियां भी गरीब लोगो को कर्ज देने लग गई हैं। शहरो के आस-पास बसे आदिवासियो को अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के कर्ज मिलने लग गए हैं। यह प्रथा महाजनी प्रथा पर गहरा प्रहार है और इसके साथ ही शोषण की भी समाप्ति कुछ अशो मे हुई है। इन आदिवासी लोगो ने अपने को भूमि-बन्धक अधिनियमो से प्राय दूर रखा है जिसके फलस्वरूप बाहर के लोग तथा कुछ उनके अपने लोग उनका शोषण करते आ रहे थे। अब इनमे से कुछ, जो धनी पडोसी हैं, बन्धक भूमि की अनिवार्य सात वर्षीय सीमा को जान गए हैं, जिसके परिणामस्वरूप भूमि बन्धक रखने की प्रवृत्ति बहुत हद तक घटी है। इस प्रकार के आर्थिक सुधार से लोगो के बीच बचत की भावना की वृद्धि हुई है। इस प्रकार की गई बचत को मजदूर लोग अपने मूल निवास मे भेज देते हैं, विशेषकर असम मे काम करने वाले मुण्डा, उरांव, सथाल, छोटा नागपुर के अपने गांवो मे अपने अन्य सम्बन्धियो को इस प्रकार का पैसा भेजते हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र तथा गुजरात के शहरी क्षेत्रो से भील अपने जनजातीय गांवो मे पैसे भेजते हैं। पुन हम यह भी पाते हैं कि इन लोगो मे आवश्यकता पर आधारित आर्थिक गतिविधियो की प्रवृत्ति मे भी परिवर्तन आया है। अब ये अवैयक्तिक आवश्यकताओ की ओर भी दृष्टिपात करने लगे हैं। इनके पहनावे म बहुत अन्तर आया है। अब इनके पास जो कुछ है और जो इनके पास नही है, उसकी मात्र इच्छा ही नही रखते वल्कि बहुत हद तक उसे शहरो से प्राप्त भी कर लेते हैं। प्राय: सभी आदिवासी मेलों तथा यात्राओ मे परिवर्तन देखा जा सकता है। समस्त छोटा नागपुर, उडीसा तथा पश्चिम बगाल के आदिवासियों के द्वारा लगाए जाने वाले मेले मात्र पुराने मेले नही रह गए हैं वरन् बहुत हद तक इन्होने नए कार्निवल का रूप ले लिया है। इन मेलों मे आधुनिक

वस्तुओं की प्राप्ति से युवकों एवं युवतियों में नई प्रेरणा का संचार हुआ है जिसके फलस्वरूप पहनावे में तो परिवर्तन आया ही है, साथ ही साथ प्लास्टिक के सामान तथा शृंगार के सामानों का भी प्रयोग होने लग गया है।

अब आदिवासी महाजन इनका शोषण करने के लिए अपने आदिवासी तरीके से सामने आ गए हैं।

इनमें व्यापारिक प्रवृत्ति का प्रारम्भ इनके उत्पादनों से साफ परिलक्षित होता है। आलू तथा हरी सब्जियों के उत्पादन में अब ये किसी से पीछे नहीं हैं। औद्योगिक शहरों की बढ़ती हुई माँगों को पूरा करने में इन लोगों ने कोई कसर नहीं उठा रखी है। इस सन्दर्भ में बेडो तथा राँची के आदिवासियों का उल्लेख आवश्यक होगा जिन्होंने पूर्वी भारत की पद्धति को अपनाकर नए प्रकार की आलू की खेती की शुरुआत की है, जिसे ये बरसात में पैदा करते हैं तथा काफी पैसा कमाते हैं। छोटे-मोटे वन्य उत्पादन, जैसे जलावन की लकड़ी दतुवन, जंगली फल, केंदु-पत्ते, झाड़ बनाने वाली घास आदि की सहकारी समितियों के द्वारा बिक्री करने की प्रक्रिया ने एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया है जिससे आदिवासियों की आर्थिक अवस्था बहुत कुछ सुधरी है। आन्ध्र प्रदेश के सहकारी संघ तथा हाल में बिहार के संघ ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। संक्षेप में आर्थिक वर्गीकरण के आधार पर आदिवासियों के बीच आर्थिक परिवर्तनों को निम्नांकित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) वन्य शिकार अर्थव्यवस्था से वन्य शिकार तथा कृषि,
(2) पहाड़ी कृषि से स्थाई कृषि,
(3) सरल कृषि से बहुफसलीय कृषि अर्थव्यवस्था मजदूर तथा सफेदपोश एवं व्यावसायिक अर्थव्यवस्था,
(4) कारीगर वर्ग से कारीगर तथा व्यावसायिक वर्ग आदि।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आधुनिक प्रभावों का संशोधित आदिम अर्थव्यवस्था में कहाँ तक परिवर्तन हुआ है। वस्तुत: इन आदिवासियों ने अर्थव्यवस्था के नवीन पहलुओं में अपने आपको बहुत हद तक घुल-मिला लिया है जिसके फलस्वरूप इन आदिवासियों ने इस आर्थिक व्यवस्था में अपना एक रूप ग्रहण कर लिया है। अन्त में इन आदिवासियों की समाप्त होती हुई आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश डालना आवश्यक होगा। विद्यार्थी ने जनजातियों की समाप्त होती हुई अर्थव्यवस्था का संकेत ठीक ही दिया है। आदिम अर्थव्यवस्था पर शोध के दृष्टिकोण से तथा मानवशास्त्रीय वर्णन के दृष्टिकोण से बिजिया (घुमन्तू आदिवासी), कोरवा (खाद्य-संग्रह) तथा कृषक मजदूर जैसे आदिवासियों पर ध्यान देना आवश्यक हो गया है। घुमन्तू बिरहोर अब एक जगह कालोनी में बसने लग गए हैं। स्थानान्तरित कृषि से स्थाई कृषि में परिवर्तन का प्रचलन काफी जोर पकड़ता जा रहा है, जैसा मालेर तथा संथाल परगना में राजमहल पहाड़ के माल पहाड़िया लोगों में देखा जा रहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि आदिम अर्थव्यवस्था परिवर्तित हो रही है।

5

आदिम धार्मिक व्यवस्था

(Primitive Religious System)

सामाजिक जीवन के अनेक पक्षों मे से धर्म सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। धर्म का सम्बन्ध विश्वास एव कर्म की व्यवस्थाओ से है, और उसकी क्रियाएँ स्वय अदृश्य इकाइयों के प्रति लक्षित होती हैं। अपने अनुसन्धान मे मानवशास्त्री लोगो से सामान्यत यह पूछते रहते है कि लोग क्या सोचते हैं और क्या करते हैं पर सामाजिक व्यवहार के अधिकाँश क्षेत्र म विचार आदर्शवादी होते हैं। वे बतलाते हैं कि क्या करना चाहिए और ऐसा क्यो होना चाहिए। यद्यपि धार्मिक चिन्तन मे इस बात पर विचार होता है कि क्या करना चाहिए पर उसके साथ ऐसे भी प्रश्न होते हैं यह चीज क्या है और क्यो है ? उसका सम्बन्ध विश्व की प्रकृति और उसमे मनुष्य की भूमिका से भी है।

धार्मिक व्यवस्था लगभग समस्त ज्ञात आदिम जनजातीय समाजो मे सार्वभौमिक रूप स पाई जान वाली स्थाई व्यवस्था है। आदिम जनजातियो की धार्मिक व्यवस्था को विधिवत् समझने के लिए यह आवश्यक है कि धर्म की पारिभाषिक विवेचना उसके प्रमुख सिद्धान्त, उसकी विशेषताएँ एव प्रमुख आदिम जनजातियो म पाई जान वाली धार्मिक व्यवस्था को हम समझने का प्रयास करें। जब समाज के किसी विशेष पक्ष (जिसमे धर्म सम्मिलित है) का अध्ययन किया जाता है तो उस अध्ययन का दृष्टिकोण सामाजिक सगठन के सम्बन्ध के सन्दर्भ मे होता है।

इससे पहले कि हम आदिम जनजातीय धार्मिक व्यवस्था की विवेचना करें धर्म की पारिभाषिक विवेचना एव धर्म के सिद्धान्त की विवेचना करें।

धर्म क्या है ?
(What is Religion ?)

कोई भी मानव समाज ऐसा नहीं है जिसमे धर्म (Religion) का अस्तित्व किसी न किसी रूप मे न रहा हो। आधुनिक मानवशास्त्री सामान्यतया यह स्वीकार

करते हैं कि धर्म संस्कृति के उन तत्त्वों में से है जो सर्वत्र पाया जाता है तथा आदिम या जनजातीय समाज में धर्म उतने ही सरल अथवा कहीं-कहीं जटिल रूप में पाया जाता है जितना कि सभ्य कही जाने वाली जातियों में पाया जाता है। पूर्व के मानवशास्त्रियों के अनुसार धर्म के आदिम स्वरूपों की उत्पत्ति के अनेक कारण थे। जेम्स जे. एच फ्रेजर ने जादू तथा क्रोसेज एवं अगस्त कोम्ट ने भूत-प्रेतों में विश्वास का इसकी उत्पत्ति का कारण माना है। इसी प्रकार मैकलिनन टोटमवाद, आर आर मेरट, पूर्व आत्मवाद (Pre-Animism) ई बी टेलर आत्मवाद तथा इमाइल दुर्खीम समाज की पूजा (Cult of Society) को धर्म के आदिम स्वरूपों की उत्पत्ति का कारण मानते हैं।

हम देखते हैं कि मानवशास्त्रियों ने धर्म के सामान्य रूप को एक 'सांस्कृतिक सर्वव्यापकता' की उसी प्रकार संज्ञा दी है जिस प्रकार विवाह, परिवार, गोत्र, निषेध, सामाजिक संगठन, जो सर्वत्र पाए जाते हैं, को दी जाती है। टाईलर ने सर्वप्रथम यह बताया कि जनजातियों में किसी न किसी रूप में धर्म पाया जाता है। जनजातीय लोगों का अन्य सांसारिक विषयों का ज्ञान कितना ही दोषपूर्ण क्यों न हो, परन्तु धर्म के विषय पर उनकी स्थिर एवं निश्चित धारणा आम तौर पर पाई जाती है तथा उनके सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर धर्म का महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखाई देता है।

पारलौकिक और परासवेदी वस्तु या शक्ति के बोध के प्रति की जाने वाली मानवीय अनुक्रिया ही धर्म (Religion) है। धर्म लोगों की पारलौकिक सत्ता की धारणा के प्रति अभिव्यक्त व्यवहार और इसके साथ एक प्रकार का अनुकूलन स्थापन है। धर्म को लम्बे समय तक सभ्य जगत् की उपज ही माना जाता रहा, जब तक कि टाईलर ने यह विश्वसनीय प्रमाण नहीं दे दिया कि आदिम समाजों की भी अपनी धार्मिक क्रियाएँ होती हैं, और ये सभ्य समाजों की धार्मिक क्रियाओं से कोई विशेष भिन्न नहीं होतीं। टाईलर के विचारों के प्रकाशन के पश्चात् किसी भी नृवर्णनवेत्ता ने ऐसी किसी भी जनजाति का उल्लेख नहीं किया है जो धर्म-विहीन हो।

जैसा कि बुके ने दर्शाया है, व्युत्पत्तीय दृष्टि से रिलिजन' (Religion) (धर्म) शब्द लेटिन शब्द Raligio' (रेलिजिओ) से उत्पन्न हुआ है। स्वत्र 'रेलिजिओ' शब्द भी या तो मूल Leg (लेग) जिसका अर्थ साथ-साथ मानना' या 'पालन करना' है, या मूल लिग, जिसका अर्थ 'सहबन्ध' है, से व्युत्पन्न है। लेग के अर्थ में इसका अभिप्राय दैनिक सम्प्रेषण के चिह्नों में विश्वास और उनका पालन करना है और लिग के अर्थ में इसका अभिप्राय ऐसी आवश्यक क्रियाओं का सम्पादन है जो मनुष्य और पारलौकिक शक्तियों को एक साथ बांध सकें। धर्म के सन्दर्भ में ये दोनों अभिप्राय इस दृष्टि से सार्थक हैं कि विश्वास एवं कर्मकाण्ड (Ritual) धर्म के प्रमुख घटकों के रूप में सर्वत्र पाए जाते हैं।

ई. ए होवल (E A Hoebel) ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा कि "धर्म अलौकिक शक्ति मे विश्वास पर आधारित है जो 'आत्मवाद' (Animism) एव 'माना' (Mana) को अपने मे सम्मिलित करता है।"

मजूमदार तथा मदान ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है—"धर्म किसी भय की वस्तु अथवा शक्ति का मानवीय प्रत्युत्तर है जो कि अलौकिक एवं अतीन्द्रिय है। यह व्यवहार की अभिव्यक्ति तथा अनुकूलन का वह प्रकार है जो कि लोगो की (उनकी) अलौकिक शक्ति की अवधारणा से प्रभावित है।"

सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazor) ने धर्म का उल्लेख करते हुए कहा है कि "धर्म से, मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियो की सन्तुष्टि अथवा आराधना समझता हूँ, जिनके सम्बन्ध मे यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति एव मानव जीवन का मार्गदर्शन करती हैं तथा नियन्त्रित करती है।" इस प्रकार सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म के तीन प्रमुख पहलुओ पर प्रकाश डाला है—

(1) धर्म का सम्बन्ध एक ऐसी शक्ति से है जो कि मनुष्यो से श्रेष्ठ है।
(2) यह शक्ति मानव जीवन एव प्रकृति को निर्देशित एव नियन्त्रित करती है।
(3) तीसरी विशेषता उसने यह बतलाई है कि चूँकि यह शक्ति जो कि मानव से श्रेष्ठ है तथा प्रकृति एव मानव जीवन को निर्धारित एव नियन्त्रित करती है, अत उसे आराधना, पूजा अथवा किसी अन्य प्रकार से खुश रखा जाए।

ई बी टाईलर ने धर्म की परिभाषा देते हुए अपनी पुस्तक मे लिखा है कि धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति मे विश्वास का नाम है। जो समाज तकनीकी दृष्टि से पिछडे हुए हैं, उनमे लोगो का विश्वास है कि प्रकृति की सभी क्रियाएँ, सभी लीलाएँ तथा मनुष्य के प्रयत्नों मे सफलता, परमात्मा के हाथ मे है। हर कोई व्यक्ति इस परमात्मा को नही पा सकता और घटनाओ के घेरे को परमात्मा के बिना और कोई तोड नही सकता। अत धर्म विश्वास की वस्तु है। टाईलर की परिभाषा धर्म विश्वासो की व्यवस्था के रूप म देखती है।

इस प्रकार सामान्यत धर्म के दो भाग होते हैं—(1) अलौकिक की शक्ति मे विश्वास (Belief in Super natural P[illegible]) तथा (2) [illegible] प्रति धार्मिक कार्य प्रणाली (Religious Practices of Super-natural Power)। प्रारम्भ से ही सामाजिक मानवशास्त्रियो का मानना है कि सभी जनजातियाँ धार्मिक कार्य-प्रणाली को बहुत बडा महत्त्व देती है लेकिन विश्वास के महत्त्व को लेकर सामाजिक मानवशास्त्रियो ने विभिन्न युगो म पृथक् पृथक् विचार व्यक्त किए हैं। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी मे यह स्वीकार किया जाता था कि मनुष्य के अनुभव के आधार पर ही विश्वास का निर्माण हुआ है और बाद मे चलकर विश्वास पर ही धर्म का निर्माण हुआ है। एक दूसरा युग आया जिसमे

धार्मिक कार्य-प्रणाली को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया और कहा गया कि आचारों को प्रमाणित रूप देने के लिए विश्वास पैदा किए गए। आज प्रणालियों और कार्य-प्रणाली के इस विवाद को लेकर हम कोई एक राय व्यक्त करने की स्थिति में नहीं हैं। लेकिन यह बहुत स्पष्ट है कि धर्म में विश्वास और कार्य प्रणाली दो बहुत महत्त्वपूर्ण पहलू हैं एवं यही दोनों मिलकर धर्म को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

रेडक्लिफ ब्राउन (Redcliffe Brown) ने धर्म के अर्थ और व्याख्या के विवाद में पड़ने की अपेक्षा बहुत ही मोटे अर्थ में धर्म की मीमांसा की है। यूरोप के देशों में और विशेषकर सुधार आन्दोलन के बाद धर्म को मुख्यतया अलौकिक में विश्वास के रूप में माना जाता है। अलौकिक के प्रति यह विश्वास सामाजिक विकास के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और इसीलिए रेडक्लिफ ब्राउन यह मानकर चलते हैं कि "किसी भी धर्म या किसी भी पथ में सामान्यतया कुछ विचार या विश्वास होते हैं और दूसरी ओर कुछ अनुपालन होते हैं। ये अनुपालन सकारात्मक और नकारात्मक होते हैं जिन्हें मैं धार्मिक क्रिया कहूँगा।"

इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim) ने धर्म की परिभाषा में पवित्र (Sacred) एवं साधारण (Profane) को महत्त्व दिया है। उनके अनुसार "धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों एवं कृत्यों की एकीकृत व्यवस्था है यानी ऐसी वस्तुओं से जो साधारण हैं और जिन्हें पृथक् रखा जाता है एवं जिनका निषेध किया जाता है।"

ब्रानिस्ला मेलिनोस्की (Malinowski) ने धर्म के व्यावहारिक रूप को जनजातियों के जीवन में देखा है। ये भी इसकी व्याख्या में विश्वास व्यवस्था पर अधिक जोर देते हैं—"धर्म मनुष्य की क्रिया का एक तरीका है और इसी तरह विश्वास की एक व्यवस्था है, और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना है और इसी तरह एक व्यक्तिगत अनुभव भी।" मेलिनोस्की की धर्म सम्बन्धी इस परिभाषा में निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(1) धर्म विश्वासों की व्यवस्था है और यह विश्वास किसी सर्वशक्तिमान और अलौकिक शक्ति में होता है।

(2) प्रत्येक धर्म में विश्वासों से सम्बन्धित कुछ क्रियाएँ या संस्कार होते हैं। ये संस्कार अलौकिक के प्रति विश्वास की अभिव्यक्ति है।

(3) धर्म अपने मूल में सामाजिक प्रघटना है और इसलिए समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अलग अलग धर्म नहीं होता।

(4) धर्म को मानना या न मानना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। धर्म की मान्यता व्यक्तिगत अनुभव द्वारा प्रभावित होती है।

मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) ने अपनी पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टू सोश्यल एन्थ्रोपोलोजी' में धर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है कि प्रत्येक धर्म में चाहे वह जनजातियों का हो या सभ्य समाज का, विश्वास

और सम्स्कार होते हैं। सस्कार वे हैं जिन्हे निर्धारित विधि द्वारा किया जाना है और जिनके माध्यम से मनुष्य और अलौकिक की शक्ति मे सम्बन्ध स्थापित होना है। विश्वास सस्कारो का युक्तिकरण है। विकसित धर्मों और आदिवासी धर्मों मे जो अन्तर दिखाई देता है वह केवल/दर्शन को लेकर है। व्यापक और विकसित धर्मों म दर्शन का पहलू अधिक सशक्त होता है। आदिम समाज का सदस्य अपने धर्म को दर्शन की पृष्ठभूमि म नहीं जानता। इसी कारण जनजातियो मे अलौकिक शक्ति को विभिन्न रूपो मे देखा जाता है। कुछ जनजातियाँ अलौकिक को प्रेतात्मा और जीवात्मा के रूपो मे देखती हैं और कुछ देवी-देवता -या पूर्वजो मे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म की एक सुव्यवस्थित परिभाषा देना कठिन है लेकिन फिर भी सामाजिक मानवशास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि धर्म का मुख्य आधार अलौकिक या पारलौकिक (Super-natural) शक्ति मे विश्वास है। यह अलौकिक शक्ति भिन्न-भिन्न रूपो मे देखी जाती है। प्रत्येक समाज का अलौकिक के प्रति अपना निजी अनुभव होता है और इसी आधार पर यह अलौकिक शक्ति की एक छवि अपने मन मे बैठा लेता है। दूसरा, इस अलौकिक के प्रति लोगो मे कुछ विश्वास होते हैं। विश्वासो की यह व्यवस्था ही धर्म कहलाती है। विश्वास का दूसरा पहलू आचार या संस्कार होते है। विश्वासो को मूर्त रूप या अभिव्यक्ति देने के लिए अनुपालन, सस्कार, धार्मिक क्रियाएँ, उपासना, पूजा, भोग आदि किए जाते हैं। कुछ सामाजिक मानवशास्त्री धर्म की प्रकृति सामाजिक मानते हैं।

धर्म के सिद्धान्त
(Theories of Religion)

धर्म के अर्थ को समझ लेने के बाद अब हम इसके कुछ प्रमुख सिद्धान्तो की विवेचना करेंगे। धर्म की अवधारणा का विस्तृत विवेचन हमें कई सिद्धान्तो मे देखने को मिलता है। इनम कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(1) जीववाद (Animism),
(2) जीवात्मवाद और गुप्त शक्ति या माना (Animatism and Mana),
(3) बहुईश्वरवाद (Polytheism),
(4) एकेश्वरवाद (Monotheism),
(5) प्रकृतिवाद (Naturism),
(6) प्रकार्यवाद सिद्धान्त (Functional Theory)।

(1) जीववाद (Animism)—टाईलर ने सर्वप्रथम जनजातियों मे आत्मा के सम्बन्ध मे धारणा का उल्लेख करते हुए धर्म को जीववाद की सज्ञा दी है अर्थात् टाईलर ने आत्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार धर्म की उत्पत्ति आत्मा स

बताई है। निद्रावस्था मे आत्मा शरीर से निकलकर अन्यत्र विचरण करती है तथा पुन शरीर म लौट आती है। टाईलर का मानना है कि जनजातियो ने दो आत्माओ की कल्पना की। एक तो स्वच्छन्द आत्मा (Free Soul) जो कि अनेक स्थानो पर भ्रमण करती रहती है तथा दूसरी शरीरस्थ आत्मा (Body Soul) अर्थात् जब तक मनुष्य जीवित रहता है, तब तक यह उसके शरीर मे ही रहती है। उसके मनुष्य के शरीर से बाहर निकलने ही मनुष्य को मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार दो प्रकार की आत्माओ—मानवीय आत्मा तथा पारलौकिक आत्मा का उल्लेख किया गया है। ये आत्माएँ मनुष्य के नियन्त्रण के परे हैं, किन्तु उन्हे प्रभावित करनी रहती हैं। परन्तु उन्हे अप्रसन्न रखने पर वे नुकसान पहुँचा सकती है। इसी विचार को लेकर आदिम मनुष्य ने अपने पूर्वजो की पूजा आराधना प्रारम्भ की।

डॉ मजूमदार (Dr Majumdar) ने भारत मे जनजातीय धर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जनजातीय धर्मों को लम्बे अर्से तक जीववाद कह कर वर्णित किया गया है। जीववाद वह अत्यधिक विकृत प्रकार का धर्म है जिसमे जादू एक विशिष्ट तत्त्व के रूप मे होता है। यह मनुष्य के जीवन को भूतात्माओ की शक्ति तथा तत्त्वो, जो कि अत्यधिक अवैयक्तिक स्वरूप वाले हैं, निराकार छायाओ से घिरा हुआ बताता है। इनमे से कुछ का जीवन के कुछ विशिष्ट पक्षो पर आधिपत्य होता है जैसे एक आत्मा का हैजे पर तथा दूसरी का चेचक पर प्रभुत्व है। कुछ आत्माएँ चट्टानो मे निवास करती हैं, कुछ पर्वतो-कन्दराओ पर तथा वृक्षो मे रहती हैं अथवा नदियो, जल-प्रपातो आदि से भी उनका सम्बन्ध माना जाता है।

अपने सिद्धान्त मे टाईलर ने आदिम समाज के व्यक्ति की मनोदशा की कल्पना की। इस व्यक्ति ने देखा होगा कि उसके शरीर मे कोई आत्मा है जो उसे निद्रा मे छोडकर कही दूर-दूर विचरण के लिए जाती है। जगलों और पहाडो को लाँघती है। समुद्रो को पार करती है और पुनः लौटकर उसके शरीर मे आ जाती है। यह जीवात्मा है। दूसरी आत्मा जो देवी-देवता के निकट है, उनके समकक्ष है अन्तरिक्ष मे स्वतन्त्र विचरण करती है। यह आत्मा प्रेतात्मा है। अलौकिक के प्रति जनजाति के इस अनुभव की कल्पना करके टाईलर ने जीवात्मा और प्रेतात्मा का सिद्धान्त रचा। ये दोनो सिद्धान्त मिलकर जीववाद (Animism) का सिद्धान्त कहलाते हैं। जीवात्मा के सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि मनुष्य की आत्मा उसकी मृत्यु के बाद जीवित रहती है और प्रेतात्मा के सिद्धान्त के अनुसार अन्तरिक्ष मे प्रेतात्माएँ वैयक्तिक रूप मे रहती हैं। इस प्रकार मक्षेप मे टाईलर का जीववाद वह है जिसम अमूर्त, अभौतिक या जीवात्मा और प्रेतात्मा मे तथा मृत पूर्वज, पेड, पौधा, पिशाच, पत्थर सभी म आध्यात्मिक शक्ति का आरोप किया जाता है। यह माना जाता है कि इन वस्तुओ म भी अलौकिक शक्ति विद्यमान है।

टाईलर ने अपने जीववाद के सिद्धान्त म क्रमिक उद्विकास की परम्परा को महत्त्व दिया है। जब मनुष्य विकास के दूसरे चरण मे आया, तो उसने पूर्वज, आत्मा और प्रेतात्मा की भावना को विकसित किया और अलौकिक शक्ति को प्राकृतिक देवी-देवताओ मे रखा।

टाईलर ने बताया कि आदिम मनुष्य ने कुछ अनुमानो पर विश्वास किया। उनके प्रथम कुछ अनुभव थे। निद्रावस्था के दौरान वह स्वप्न देखता था एव स्वय को अनेक क्रियाओ मे सलग्न पाता था। स्वप्न मे ही वह अपने पूर्वजो से मिलता एव उनके बारे मे उसे अनेक भ्रांतिजनक अनुभव होते। जाग्रत अवस्था मे भी वह अनेक विचित्र अनुभवो से परिचित होता। वह अपनी आवास की प्रतिध्वनि को सुनता, सड़क पर या तालाबो, नदियो, नहरो के पानी मे अपनी प्रतिबिम्ब या परछाई देखता और अपनी छाया से स्वय को अलग करने मे असफल रहता। जब उसे ये अनुभव होते रह होगे, तभी कुछ ऐसी घटनाएँ घटी होगी जिन्होने उसके (आदिम व्यक्ति) मस्तिष्क मे कुछ विचार पैदा किए होगे। हो सकता है कि ऐसे अनुभवो के दौरान कोई मर गया हो और जब मृत्यु के पश्चात् मृतक दिखना तो पूर्ववत् ही किन्तु वह जीवित नही होता। तब क्या उसमे कोई ऐसी अदृश्य वस्तु तो नही थी जो उसस अलग हो गई हो और ऐसा होने से वह मर गया हो। इस प्रकार आदिम लोगो ने उसे अदृश्य वस्तु या शक्ति के बारे मे (जो जीवित रहते हुए उसके शरीर मे था और मर जाने पर अलग हो गई हो) विश्वास पैदा हुआ। ऐसी वस्तु या शक्ति को ही आत्मा (जीव) कहा जाने लगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि टाईलर के जीववाद के उपर्युक्त सिद्धान्त मे निम्नलिखित विशेषताएँ प्रमुख रूप स उल्लेखनीय हैं—

(1) जीववाद की अवधारणा अपने-आप मे धर्म नही है। यह तो एक प्रारूप है जिसके द्वारा धर्म के उद्विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

(2) जीववाद मे जीवात्मा की अवधारणा है। जीवात्मा वह है जो जीवित व्यक्तियो के शरीरो मे निवास करती है। मृत्यु के बाद या शरीर नष्ट हो जाने के बाद यह जीवात्मा बनी रहती है। दूसरी, प्रेतात्मा होती है। प्रेतात्मा देवी-देवताओ की तरह शक्तिशाली होती है। अत जीववाद अपने पूर्ण विकसित रूप मे प्रेतात्मा और जीवात्मा के प्रति विश्वास प्रकट करता है और उन्हे नियन्त्रण मे लाने के लिए उपासना का स्वरूप है।

(3) प्रेतात्मा और जीवात्मा अलौकिक शक्ति के रूप हैं और उन्हे पेड, पौधा, पत्थर, पूर्वज सभी पदार्थों मे देखा जा सकता है।

(4) मनुष्य प्रकृति के साथ होने वाले अपने सघर्ष में प्रेतात्मा और जीवात्मा को उपासना या जादू द्वारा वशीभूत करके जीवन मे सुरक्षित रहना चाहता है।

(2) जीवात्मवाद या माना (Animatism and Mana)—धर्म के सिद्धान्तो मे जीववाद के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जीवात्मवाद (Animatism) या माना (Mana) का है। जीवात्मवाद या माना का सिद्धान्त जीववाद सिद्धान्त

की प्रतिक्रिया स्वरूप आया है। वे सामाजिक मानवशास्त्री जो टाईलर से सहमत नहीं थे, उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर जीवात्मवाद के सिद्धान्त को रखा है। जीवात्मवाद या माना यह है जिसमे व्यक्ति निर्जीव वस्तुओं की उपासना करता है और यह स्वीकार करता है कि इन निर्जीव और अचेतन वस्तुओं मे अन्तर्निहित शक्ति है। इसी कारण इसे गुप्त शक्ति भी कहते हैं। जीवात्मवाद को कई नामो से पुकारा जाता है। इसका एक नाम 'देवक प्रथा या फेटिश प्रथा (Fetishism) भी है। फेटिश अपने मूल मे पुर्तगाली शब्द है जिसका अर्थ तावीज (Charm) है। प्रारम्भिक पुर्तगाली यात्री जब पश्चिमी अफ्रीका पहुँचे, तो उन्होंने वहाँ जनजातियों में धर्म का जो स्वरूप पाया उसे फेटिश नाम से पुकारा।

बाद मे 'मेरट' ने जीवात्मावाद को 'मानावाद' कहा। मेरट के अनुसार आदिम लोगो का सम्पूर्ण धार्मिक जीवन कुछ ऐसी अलौकिक शक्ति से उत्पन्न होता है। जो अवैयक्तिक, अभौतिक, अमूर्त होती है तथा जिसका बोध नहीं किया जा सकता है तथा ससार के सभी सजीव एव निर्जीव पदार्थों मे उपस्थित रहती है, ऐसे विश्वासो को मेरट 'मानावाद' कहता है। 'मानावाद' की उत्पत्ति 'मैलानेशिया' के लोगो के द्वारा प्रयुक्त ऐसी शक्ति के लिए प्रयुक्त 'माना' शब्द से हुई है।

जीवात्मवाद का एक अन्य स्वरूप ओरेण्डा (Orenda) है। इरोक्यूज जन-जाति मे अलौकिक शक्ति को ओरेण्डा के रूप मे देखा जाता है। इस अवधारणा का एक तीसरा स्वरूप मनिटू (Manitu) है। अलगोंकिन्स जनजाति के लोग जीवात्मवाद को मनिटू के नाम से जानते हैं। मलेनेशिया की जनजातियाँ इसे माना कहती हैं। जीवात्मवाद के उपर्युक्त अलग-अलग नाम हैं। इन सब के पीछे अलौकिक की शक्ति को लेकर जो सिद्धान्त काम करता है वह यह है कि सभी निर्जीव और अचेतन वस्तुओं में एक ऐसी आध्यात्म शक्ति निवास करती है जो अभौतिक और अवैयक्तिक है। इस आध्यात्म शक्ति का प्रयोग मनुष्य कर सकता है, यदि वह उसे वश मे कर ले। इस शक्ति को वश मे करने का सबसे बडा साधन पूजा और उपासना है।

यहाँ हमे जीववाद व जीवात्मवाद के अन्तर को भी समझ लेना चाहिए, जहाँ दोनो जीवात्मवाद और जीववाद मे थोडा अन्तर है वही दोनो मे थोडी समानता भी है। समानता यह है कि दोनो ही अलौकिक शक्ति मे विश्वास रखते हैं। दोनो ही यह स्वीकार करते हैं कि यह अलौकिक शक्ति [illegible] से विस्तारित होती है। यहाँ पर दोनो मे एक अन्तर भी देखा जा सकता है। जीववाद सिद्धान्त के अनुसार यह अलौकिक शक्ति जीवात्मा और प्रेतात्मा के रूप मे फैलती है। जीवात्मवाद इसके विपरीत यह मानता है कि अलौकिक शक्ति प्रेतात्मा और जीवात्मा के माध्यम से नहीं फैलती होती। यह तो अवैयक्तिक और व्यक्तिगत रूप से भौतिक, निर्जीव और अचेतन वस्तुओं मे पाई जाती है।

यहाँ हमे यह स्पष्ट करना चाहिए कि जीववाद और जीवात्मवाद अनिवार्य रूप से एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। मलेनेशिया की जनजातियों मे ये दोनों

सिद्धान्त काम करते हैं। कुछ दूसरी ऐसी जनजातियाँ भी हैं जहाँ भी ये दोनो सिद्धान्त समान रूप से प्रचलित है।

जीवात्मवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त की विधिवत् विवेचना के बाद इसके प्रमुख तत्त्वो को निम्नांकित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) माना शारीरिक शक्ति नही है। यह आध्यात्मिक, चेतन, अवैयक्तिक, अमूर्त और अव्यक्तिगत तथा अबोधगम्य शक्ति है। यह प्रत्येक वस्तु मे निवास करती है। यह शक्ति मनुष्य और प्रकृति से ऊपर है।

(2) माना आध्यात्मिक शक्ति है और इसका विकेन्द्रित रूप अन्य व्यक्तियो या वस्तुओ म देखन को मिलता है अर्थात् यह सजीव एव निर्जीव दोनो वस्तुओ मे दिखाई देता है।

(3) माना की शक्ति विभिन्न पदार्थों मे भिन्न-भिन्न रूपो और आकारो मे पाई जाती है। कही यह लाभकारी होती है तो दूसरी ओर कही शत्रु को हानि पहुँचाने वाली। किसी पदार्थ मे यह शक्ति कम होती है, तो किसी में अधिक।

(4) माना की शक्ति भली और बुरी, दोनो हो सकती हैं। यह जन कल्याणकारी है और जन हानिकारक भी। वह व्यक्ति जो इस शक्ति को अपने वश मे कर लेता है, इसका मनमाना प्रयोग करता है।

(3) बहुईश्वरवाद (Polytheism)—धर्म का तीसरा प्रमुख सिद्धान्त बहुईश्वरवाद (Polytheism) है जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। बहुईश्वरवाद में लोग अनेक ईश्वरो में विश्वास करते हैं। टाईलर ने जीववाद सिद्धान्त के प्रतिपादन में यह कहा था कि आदिम समाज की प्रारम्भिक अवस्था में लोग अनेकानेक प्रेतात्माओं और जीवात्माओ में विश्वास करते है। जैसे जैसे आदिम समाज का विकास होता जाता है, उसमें अनक देवी दवताओ का प्रादुर्भाव होता है। यह जीववाद के विकास का दूसरा स्तर है। इस सोपान में लोग बहुदवतावादी हो जाते हैं। भारत मिस्र, यूनान आदि प्राचीन सभ्यताओ का इतिहास बहुईश्वरवाद सिद्धान्त की प्रामाणिकता म पर्याप्त आधार देता है। आज भी हिन्दू समाज मे बहुईश्वरवाद विद्यमान है। वे नाग जो शैव सम्प्रदाय को मानते है, वे वैष्णव सम्प्रदाय को भी श्रद्धा और आराधना की दृष्टि से देखते हैं। हनुमान का उपासक कृष्ण और राम का उपासक भी है।

बहुईश्वरवाद को जीववाद का विकास क्रम मानना असगत लगता है। तार्किक रूप म यह कहना उपयुक्त है कि अनेकानेक प्रेतात्माओ और जीवात्माओ मे विश्वास के बाद, लोगो ने अनक देवी देवताओ म विश्वास किया होगा। लेकिन इस तर्क के प्रमाण मे आनुभाविक आधार सामग्री का अभाव है। अभी यह बात आधार सामग्री पर प्रमाणित नही हुई है कि कृषि समाजो मे मुख्यतया बहुदेवी देवताओं की उपासना होती है और खानाबदोश समाजो म केवल प्रेतात्मा और जीवात्मा की उपासना का आधार समझा जाता है।

आज भी विश्व के अनेक आदिम समाज ऐसे हैं जो बहुईश्वरवादी हैं अर्थात् अनेक दवताओं मे विश्वास करते हैं। भारत की जनजातियाँ इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

(4) **एकेश्वरवाद (Monotheism)**—धर्म का एक अन्य सिद्धान्त एकेश्वरवाद (Monotheism) है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही सर्वशक्तिमान ईश्वर मे विश्वास किया जाता है। एक ही ईश्वर मे जो सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और सर्वसम्पन्न है, विश्वास का विचार आधुनिक समाज से सम्बद्ध है, लेकिन अभी एकेश्वरवाद को प्रमाणित करने के लिए भी हमारे पास प्रचुर आधार सामग्री नही है। यहाँ एकेश्वरवाद के सम्बन्ध मे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आदिम अर्थव्यवस्था मे, किसी भी तरह, एकेश्वरवाद के विकसित होने के कोई प्रमाण नही हैं। यह तो सम्भव है कि आदिम अर्थव्यवस्था मे जीववाद विकसित हुआ होगा लेकिन विकास की इस अर्थव्यवस्था मे एकेश्वरवाद का विकसित होना तर्कसगत नही लगता और सम्भवतया इसके प्रचुर विश्वसनीय प्रमाण भी उपलब्ध नही हैं।

(5) **प्रकृतिवाद (Naturalism)**—धर्म का एक और सिद्धान्त प्रकृतिवाद (Naturalism) है। इस सिद्धान्त के अनुसार अलौकिक शक्ति का आरोप प्रकृति पर किया जाता है। बिजली की चमक, बादलो की गर्जना और भूकम्प के कम्पन मे अलौकिक शक्ति का रूप है। जब बाढ आती है, तो यह अलौकिक शक्ति का कोप है और इसे शान्त करने के लिए भेंट और बलि चढानी चाहिए। प्रकृतिवाद अलौकिक शक्ति को इस तरह प्रकृति के विभिन्न तत्त्वो मे देखता है। इस सिद्धान्त के प्रणेताओं मे मेक्समूलर (Maxmuller) अग्रणी है। मेक्समूलर ने बताया कि धर्म का प्रारम्भिक रूप प्रकृति के उपादानो की पूजा रहा होगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति में अलौकिक शक्ति निवास करती है, इस मान्यता के अनुसार लोग प्रकृति को भय, प्रेम, श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखने हैं। आदिमानव ने जब तूफान के तांडव नृत्य का देखा होगा, उसे लगा होगा कि उसकी मुट्ठी भर शक्ति अलौकिक शक्ति के सामने कुछ भी नही है। भय और श्रद्धा से उसका सिर प्रकृति के सामने झुक गया होगा। अत प्रकृतिवाद प्रकृति के अवयवो की उपासना है। सिन्धु नदी घाटी की सभ्यता तथा आर्यों की धार्मिक व्यवस्था इस बात को बताती है कि इस सभ्यता मे लोग सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, वरुण और वारिधि की उपासना करते थे।

मजूमदार एव मदान कहते हैं कि "यदि इतना ही कहा जाए कि प्रकृति के पदार्थों को पूजा जाता रहा है, तब तो कोई कठिनाई पैदा नही होती क्योकि ऐसी प्रथा के समर्थन मे प्रमाणो की भी भरमार है, किन्तु ऐसी पूजा का धर्म का प्रारम्भिक रूप बनाने का दावा करना या धर्म के साथ उल्लिखित भाषा त्रुटि का सिद्धान्त प्रस्तुत करना, विश्वसनीय नही है।"[1]

1 मजूमदार एव मदान : पूर्वोक्त, पृ 138

(6) प्रकार्यवाद सिद्धान्त (Functional Theory)—धर्म का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रकार्यवाद का सिद्धान्त है। सामाजिक मानवशास्त्र मे प्रकार्यवाद विधि उद्‌विकास के विरोध स्वरूप आई है। इस विधि के अग्रणी दुर्खीम ने धर्म के समाजशास्त्र मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनकी पुस्तक 'एलिमेन्टरी फॉर्म्स ग्राफ रिलिजियस लाइफ' (The Elementary Forms of the Religious Life, London) धर्म समाजशास्त्र के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि यह ग्रन्थ धर्म की अवधारणा को परम्परागत अवधारणा से हट कर देखता है। प्रथम, धर्म को दुर्खीम उद्‌विकास सन्दर्भ मे नही देखते जैसा कि उनके पूर्ववर्तियों का दृष्टिकोण था। द्वितीय, वे धर्म की प्रघटना को सामाजिक प्रघटना के रूप मे देखते हैं। वे धर्म को समाज का एक अग मानते है, एक सशक्त खण्ड समझते है और इसलिए इसकी व्याख्या समाज के अन्य खण्डो और सम्पूर्ण सामाजिक सरचना के सन्दर्भ म करते हैं। उनके अनुसार धर्म मे केवल पवित्र (Sacred) तत्त्वो एव विश्वासो का समावेश होता है। ये विश्वास ऐसे देवताओं एव ईश्वरीय प्रतिमाओ के बारे मे होते हैं, जो वस्तुतः समाज के प्रतीक होते हैं। साधारण (Profane) विश्वास एव क्रियाएँ पवित्र नही होते अत धर्म म इनका समावेश नही किया जाता। दुर्खीम ने अपने सिद्धान्त की स्थापना अनेक पूर्व प्रचलित सिद्धान्तो, जिसमे टाईलर, फ्रेजर, मैक्समूलर आदि के प्रमुख सिद्धान्त हैं, की आलोचना के बाद की है। उसका यह सन्दर्श स्पष्टत प्रकार्यवादी है। दुर्खीम के बाद मैलिनोंस्की, रेडक्लिफ ब्राउन और इवान्स प्रिट्चार्ड ने भी धर्म को इसी प्रकार्यवाद के दृष्टि बिन्दु से देखा है। सभी प्रकार्यवादी धर्म को सामाजिक सरचना के विभिन्न खण्डो मे स एक खण्ड समझते हैं। सभी प्रकार्यवादी धर्म की व्याख्या सम्पूर्ण सामाजिक सरचना के सन्दर्भ मे करते हैं।

भारत मे आदिम धार्मिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Characteristics of Primitive Religious System in India)

धर्म की पारिभाषिक विवेचना एव इसके सिद्धान्तो के विश्लेषण के उपरान्त हम भारत मे जनजातीय धर्म-प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख करें। एल. पी विद्यार्थी (L P Vidyarthi) ने धर्म की आठ विशेषताओ का उल्लेख किया है जो निम्नांकित हैं[1]—

(1) अलौकिक शक्तियो मे विश्वास की प्रकृति
(Nature of Belief in Super-Natural Power)

जीववाद पर आस्था धार्मिक विश्वासो और जीवात्माओ मे विश्वास करने वाली जनजातियो के साथ एक सामान्य [illegible] जनजातियो के धर्म म जीववाद मे विश्वास एक सार्वजनिक विशेषता है। उन लोगो के लिए सभी स्थान धार्मिक हैं क्योकि वे स्थान जीवात्माओ के स्थान हैं। जानवरा, पौधों, वृक्षो, तालाबो,

1 डॉ. ललित प्रसाद विद्यार्थी : पूर्वोक्त, पृष्ठ 175–191.

नदियो, पहाड़ो मन मे जीव का निवास स्थान है। मृतक इसके अपवाद नही हैं क्योकि वे आत्मा के रूप मे रहते हैं या सन्तानो के रूप मे उनकी पुन. उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण वातावरण, चाहे गाँव हो या वन, जहाँ जनजाति के लोग निवास करते हैं जीवात्माओ से भरा रहता है। सभी जनजातियो के लिए, चाहे वे प्रमुख जनजातियाँ—सथाल, मुण्डा, उराँव हो या छोटी जनजातियाँ बिरहोर, चेंचु या जगल मे शिकार करने वाली दक्षिण भारत की जनजातियाँ हो, पूरा ससार जीवात्मामय है।

मध्य भारत मे सथाल एव उराँव अपने मृतक की आत्मा की उपस्थिति मे विश्वास करते हैं जिसकी पूजा मभिए थान मे करते हैं। जैसा कि मजूमदार का कहना है, मिर्जापुर के कोरवाओ मे फसलो, वर्षा और जानवरो का सचालन करने वाली जीवात्माएँ हैं और उनमे असख्य ऐसी जीवात्माएँ हैं जो कोरवा के पड़ौसी जनजातीय पुजारी प्रमुख पुरुष एव जनजाति के सामान्य कार्यों के प्रति धारणा व्यक्त करती है। अत जीववाद अहितकारी जीवात्मा एव शक्तियो मे विश्वास है जो मनुष्य के लक्ष्य को प्रभावित करता है।

विद्यार्थी के अनुसार सथाल परगना के मालेर मे अलौकिक प्राणी गोसाईं के प्रति दृढ विश्वास पाया जाता है। मालेर के एक व्यक्ति के अनुसार बीमारी, अकाल, पानी की कमी, जमीन की कम उर्वरा शक्ति, फसल की कम उपज, अधिक मृत्यु आदि, ये सब तभी होती हैं जब गोसाईं या दुष्ट जीवो की यथोचित पूजा नही होती एव समय पर बलि नही दी जाती। दुबे ने छत्तीसगढ के कामरो एव मुड़यो मे जीवात्मा के प्रति विश्वास की उपस्थिति पाई है। इस विश्वास के अनुसार जब मनुष्य स्वप्न देखता रहता है तो उसके शरीर का अतःजीव इधर-उधर भटकता रहता है। जब किसी पुरुष की मृत्यु हो जाती है तो उसका शरीर खाली हो जाता है एव कब्र मे पडा रहता है। उसका अत जीव बाहर निकलकर भगवान म मिल जाता है।

उत्तरी पूर्वी हिमालय के मिश्मि अपने आस पास के स्थानो, जैसे पर्वतो, झरनो, नदियो वे पुनो बडे बोल्डरो आदि को देवो का स्थान मानते हैं। सन्तानो के नामकरण मे अवतरण मे विश्वास की झलक मालूम पडती है। वे लोग प्राय मृतक सम्बन्धियो के नाम पर बच्चो का नामकरण करते हैं क्योकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि मृतक इस ससार मे लौट आता है। गारो मे ऐसा विश्वास है कि मनुष्य म अवस्थित जीव मृत्यु के उपरान्त पुन. अवतरण के पूर्व दूसरे क्षेत्र मे कुछ दिनो के लिए समय व्यतीत करता है। जब कोई बीमार पड जाता है तब नयतिया अपने पूर्वज की प्रार्थना बीमारी को दूर करने के लिए करता है। मिजो दूसर ससार के अस्तित्व मे विश्वास करता है जहाँ मृतको की आत्माएँ विराजती हैं। पत्थर म किसी विशेष जीवात्मा के अस्तित्व का विश्वास कर नागा गाँव के चारो ओर एक बडे पत्थर के साथ घूमता है।

पश्चिम भारत मे भील मृतक के उत्तर जीवन मे विश्वास करता है। आत्मा का अस्तित्व जीव के रूप मे रहता है। फिर उन लोगो मे असख्य प्रकृति-जीवात्मा, पहाडो की जीवात्मा, झरनो, जगलो की जीवात्मा एव हानिकारक एव दण्डात्मक जीवात्मा का दल रहता है। वारलिस जीवात्माओ से बहुत भय खाते हैं। जब कोई बीमार पड जाता है या कोई दुखद घटना घट जाती है तब वह इसका कारण किसी देवता का क्रोध, किसी जीवात्मा का काम या किसी डायन का दुष्कृत्य मानते हैं। बीर उनका कुल देवता है। ठाकुर मे भी बीर है जो उनकी पैतृक जीवात्मा है।

दक्षिण भारत मे केरल के मलय एव गार्य कुछ पत्थरो को अपने देवताओ का प्रतीक मानते हैं। उनका पूर्वज उनके परिवार की रक्षा करता है। नीलगिरि का टोग पूवजो की पूजा मे भी विश्वास करता है। वे लोग दो मृत्यु अनुष्ठान मानते हैं एक हरा एव दूसरा सूखा। मृतक की जीवात्मा के साथ रहने एव उसका साथ देने के लिए वे लोग भैस को पीटकर मार देते। हैं टोडा, मुथुवान, पलियय एव उलातान आदि किसी खास स्थानीय पहाडी या दूसरी भयप्रद प्राकृतिक वस्तुआ को जीवात्माओ के निमित्त अर्पित करते है।

(2) बोंगावाद (Bongaism)

मजूमदार जनजातियो के जैविक विश्वासो को अहितकारी जीवात्मा एव शक्तियो म विश्वास के रूप मे मानते है जो मनुष्यो की नियति को प्रभावित करता है। वे आदिम लोगो मे धर्म के केवल इस रूप के विचार को बहिष्कृत करते हुए विचार के दूसरे रूप के बारे म सलाह देते हैं। उनका कहना है कि भारत मे जनजातीय धम बोगावाद के सिद्धान्त पर आधारित है लेकिन उन्होने इसका प्रतिपादन आदिम धर्म के मूल के बारे मे कोई परिकल्पना बनाने के विचार से नहीं किया। परन्तु उन्होंने अनुभव किया कि हो, मुण्डा एव छोटा नागपुर की दूसरी जनजातियो म धार्मिक विश्वास उनके बोगाओ के एक खास पुंज मे दृढ विश्वास का पर्याप्त सकेत है।

हो लोग बोगा को एक शक्ति मानते हैं जो सर्वत्र विराजमान है। यह अनिश्चित एव व्यक्तित्वहीन है। अत यह विश्वास किया जाता है कि यह कोई भी रूप या आकार ले सकता है। यह शक्ति म नी पशुओ एव पौधो को जीवन प्रदान करती है। यह पौधे को बढने मे उत्साहित करती है यह वर्षा करती है, आँधी, ओला, बाढ और ठडक लाती है। यह बुराइयो का विनाश करती है महामारी को रोकती है, रोगो को ठीक करती है नदियों म धारा प्रवाहित करती है, सर्पों को विष एवं बाघो, भालुओ एव लोमडियो को शक्ति देती है। शक्ति का अस्पष्ट विचार बाद मे स्वय प्रमाणित करता है एव वस्तुओ या उसी वातावरण की वस्तुओ के रूप में पहचाना जाता है, जैसा पिछले आदिम मनुष्य के द्वारा वह अपना एक अश समझा जाता था। उनके मतानुसार बोगा या माना या

व्यक्तित्वहीन जीवात्मा प्रत्येक जगह आदिम धर्म का आधार बनता है। मजूमदार के हो पर अध्ययन से पता चलता है कि जब कभी एक बच्चे में उत्सुकता किसी यंत्र, जैसे साइकिल, रेल इंजन, हवाई जहाज आदि के द्वारा पैदा होती है तब इस उत्सुकता की सतुष्टि इसे बोगा कहकर की जाती है। ये लोग बोगा के बारे मे इस तरह कहते हैं जैसे उनकी जाति और परिवार के किसी भी सदस्य ने उनको कभी देखा नही है और न देखने की कोशिश की है। केवल बोगा का उल्लेख ही उनकी प्रतिक्रियाओ की पूर्ति के लिए यथेष्ट है।

विद्यार्थी के अनुसार मालेर मे प्रत्येक बच्चे, वयस्क एव बूढे, प्रत्येक सामान्य पुरुष एव विशेषज्ञ के मस्तिष्क मे जीवात्मा एव अलौकिक ससार के बारे मे एक प्रकार की धारणा है, जिसे वे लोग एक सामान्य शब्द 'गोसई' से व्यक्त करते है। प्रारम्भ मे भी मालेर के बच्चो मे गोसाई के बारे मे शिक्षा दी जाती है। गोसाई एक घरेलू शब्द है एव जीवात्माओ के एक समूह को बतलाने के लिए इसका व्यवहार किया जाता है। जैसा विश्वास किया जाना है, वह उनकी नियति को राह दिखाता है। राय उसी प्रकार से बिरहोर मे बीर की पूजा पाते हैं। बिरहोर मे विभिन्न उद्देश्यो के लिए उत्तरदायी अनेक बीर है। सबसे बडा हनुमान बीर है। दूसरे बीर है—हुडर बीर, बाघ बीर, भाल बीर, सुन्दर बीर एव बीरो के पुत्र आदि। बीर की पूजा सर्वव्यापी है एव सब के लिए प्रभावशाली है। बीर बिरहोर की रक्षा अनेक प्रकार से करते हैं। अटल के अनुसार वास्तव मे भेरू माना शक्ति के रूप में कार्य करता है। भेरू की मूर्ति मूलत. मेवाड मे है एव इसकी पूजा तथा धार्मिक क्रियाएँ सार्वजनिक हृदय अर्थात् अनेक पडोसी ग्रामो को जोडने मे सबसे अधिक प्रभावशाली रेखा का काम करती है। वास्तव मे, सिंदूर लगा कोई पत्थर एव न पहचान जाने वाले देवता को लोगो द्वारा किसी प्रकार का भेरु माना जाएगा। प्रत्येक ग्रामीण के धार्मिक अनुभव के अनुसार सामूहिक दृष्टिकोण को बिना विचार हुए प्रत्येक को भेरू के प्रति श्रद्धा एव भय है।

(3) प्रकृतिवाद (Naturism)

प्रकृति की पूजा एक दूसरे प्रकार के विश्वास से भी सम्बद्ध है जो जनजातियो मे पाई जाती है। सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी या तो स्रष्टिता या सर्वशक्तिमान समझे जाते हैं।

मध्य भारत मे बिहार के संथाल, मुण्डा, हो, मालेर एव बिरहोर सूर्य को सिंगबोंगा अर्थात् सबमे बडा ईश्वर समझते हैं। मयाल लोग सबसे बडे देवता धर्मेश को सूर्य जैसा मानते हैं और धर्मी माता या पृथ्वी माता का पति समझते हैं। माल पहाडिया मे सूर्य एव पृथ्वी देवता हैं। पश्चिम बगाल के भूमिज सूर्य भगवान के समक्ष सिर नवाते हैं। पृथ्वी, सूर्य, अग्नि एव जल के देव सबसे बडे अलौकिक पुरुष है, जैसा उडीसा के ब्रोड विश्वास करते हैं। उनके लिए सूर्य

रचयिता हैं। इस क्षेत्र के ओरा का विश्वास है कि मनुष्य सूर्य द्वारा ही रचा गया है और जुआंग इसके लिए पृथ्वी को उत्तरदायी ठहराता है। प्रत्येक नवान्न त्यौहार के अवसर पर ये पृथ्वी देवी को सामग्री अर्पित करते है। सूर्य उनका धर्म-देवता है– सबमे बडा ईश्वर है। समस्त कंधाओ द्वारा पृथ्वी देवी, धरमाराजा बेहरा एव सूर्य की पूजा की जाती है। डोंगरिया कांड भिहोनो पर्व को मनाते हैं एव कुल्हाडी से मारकर भैसों की बलि देते हैं। उन लोगो का विश्वास है कि धरती माता के वक्ष पर बहे हुए खून से फसल अच्छी होती है। कुटिया कोड धरती देवी क लिए भैस की बलि तीक्ष्ण कुल्हाडी से सिर काटकर देते हैं। सबराओ के लिए यूयूंगसुम अर्थात् सूर्य भगवान सबसे बडे देवता हैं परन्तु यह स्पष्ट नही है कि वह देवगिरि पर रहने वाले पहाडी देवता कुरयतुंग से बडे हैं या नही। अगयबोई अर्थात् चन्द्रमा यूयूंगसुम की पत्नी है एव तारे तथा ग्रह उनके बच्चे हैं। मारिआओ के लिए पृथ्वी देवी ही सब कुछ है। बस्तर क्षेत्र के मुरिया एव अबुझ मारिआ का विश्वास है कि सभी जीवन का मूल स्रोत धरती माता है जो अपने मरिआ बच्चो को खिलाती और उनका पालन करती है। उसने प्रत्येक गोत्र को जमीन दी है एव उसके दायरे को निश्चित किया है। हिमालय क्षेत्र के थारो का विचार है कि सूर्य, चांद और तारे क्षेत्र पर शासन करने के लिए स्वर्ग मे रखी हुई जीवात्माएँ है। पृथ्वी के विषय मे कछारियो का विश्वास लगभग गारो जैसा है। अरुणाचल प्रदेश की विभिन्न जनजातियाँ सूर्य एव चांद की पूजा सबसे बडे ईश्वर के रूप मे करती हैं।

दक्षिण भारत मे टोग एव कोया सूर्य के प्रति श्रद्धा रखते हैं। केरल के मुथुवान, उराली एवं कनिक्कर सूर्य को अपना भगवान मानते हैं एव प्रकृति अचरम मे विश्वास करते है। मुथुवान सूर्य की पूजा प्रातःकाल किया करते है। भराली सूर्य को रचयिता मानते है एव कनिक्कर सूर्य को भगवान समझते है। वे अपनी झोपडियो के समक्ष कुछ फल एव चावल रखकर जलता हुआ दीप अर्पित करते है।

(4) टोटमवाद (Totemism)

प्रकृति के अतिरिक्त जनजातीय लोगो ने टोटम के रूप मे पौधो और पशुओ मे अपने को सम्बद्ध किया है। भारतीय जनजातियो के लिए टोटमवाद एक सामान्य विशेषता है। उनमे से अधिकतर पशुओ के अतिरिक्त पौधो के सामने अपने रहस्यात्मक सम्बन्ध मे विश्वास करते हैं। हो के लिए बिल्ली उनका गोत्र है एव प्रत्यक गोत्र के टोटम से सम्बन्धित एक वस्तु है जो उनके लिए पवित्र है। मुण्डाओ एव उराँवो म भी टोटमवादी गोत्र हैं। सथार एव खडियाओ मे भी गोत्र है जो या तो पौधो या पशुओ या भौतिक वस्तुओ के नाम से जाने जाते हैं। सभी जनजातियो मे ऐसा विश्वास है कि टोटम-सम्बन्धित पौधो या पशुओ ने उनके गोत्र के पूर्वजो की रक्षा और सहायता की है या उनका कुछ उपयोग हुआ है। वे लोग अपनी टोटम वस्तु को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और उसे नष्ट नही करते। वे लोग न तो उसका फल खाते हैं और न फूल। यदि टोटम-सम्बन्धित वस्तु बीमारी

की अवस्था मे पाई जाती है तो वे लोग उसकी सेवा करते हैं और उसको मुक्त छोड देते हैं। मरे हुए टोटम सम्बन्धी रिश्ते बहिर्विवाह का बन्धन कायम करते हैं।

टोटम सम्बन्धी पौधे या पशु को धार्मिक दृष्टिकोण से श्रद्धा की दृष्टि से देखने वाली जनजातियो मे से मध्य प्रदेश की भील एव गोंड, राजस्थान के मीना एव भीलाला और महाराष्ट्र के करकारी का उल्लेख किया जा सकता है। केरल की कुछ जनजातियाँ टोटमवाद को अनेक प्रथाओ और विश्वासो का आधार मानती हैं।

(5) वर्जना या निषेध (Taboo)

वर्जना (Taboo) दूसरे प्रकार का धार्मिक विश्वास है जो किसी विश्वास की एक नकारात्मक प्रथा है। लोगो के लिए वर्जना अन्धविश्वास बन गया है। कुछ लोग वर्जना को पवित्र व त्रास मानते हैं जिनके अनुसार वर्जित वस्तु मे दानवी शक्ति छिपी रहती है। मजूमदार वर्जना के धार्मिक पक्ष पर विचार करते हैं और उसे धार्मिक पुरुषो तथा पूजा के स्थानो की रक्षा की वस्तु मानते हैं। वह अधर्म को फैलने से रोकती है। उनके मतानुसार बोंगा के विचार द्वारा वर्जना की पवित्रता प्रेरित होती है। जनजातीय लोगो का विश्वास है कि वर्जना का उल्लघन करने से जनजातीय लोगो पर कोई भयानक विपत्ति आ सकती है।

खडिया जनजाति की स्त्रियो के लिए हल और घर को छूना वर्जित है। यद्यपि स्त्रियो के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता है और उनको टहलुआ नही समझा जाता, फिर भी, उन लोगो को कुछ अवसरो पर अलग रखा जाता है। कुछ खास धार्मिक त्योहारो और अनुष्ठानो पर खडिया स्त्रियो की उपस्थिति उनके मासिक धर्म के समय उचित नही समझी जाती। इसका अर्थ यह नही कि स्त्रियो को हेय दृष्टि से देखा जाता है वरन् खडिया पुरुष ऐसा विश्वास करते हैं कि मासिक धर्म के समय स्त्रियो का खून दुष्ट जीवात्माओ को आकर्षित करता है। उरॉव मे भी स्त्रियाँ हल को नही स्पर्श करती। यदि इन वर्जनाओ का उल्लघन किया जाता है तो उसके लिए एक पश्चाताप-अनुष्ठान सम्पन्न करना पडता है। मध्य प्रदेश का गोंड मासिक धर्म वाली स्त्री को नही छूता क्योंकि ऐसा होने पर अच्छी फसल नष्ट हो जाता है।

सेमानाग मे शब्द गेन्ना, टैबू और शब्द चिनी निषिद्ध के समानान्तर है। शेर के द्वारा मारा हुआ व्यक्ति गेन्ना है। उसके कपडे, मकान, औजार, उपकरण और बर्तन आदि सारी वस्तुएँ उन लोगो के लिए गेन्ना बन जाती है। वे लोग उनके प्रभाव से बचने के लिए शान्ति का उपाय करते हैं। उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र के पुरुष थारू को बहुत-सी प्रधान स्वीकृतियाँ नही दी जाती हैं। ऐसा न करने से कानून का उल्लघन समाज को दैवी प्रकोप के प्रभाव

सकता है। दूसरी ओर नीलगिरि पर्वत के टोडा अपनी स्त्रियों को खटाने के क्षेत्र मे प्रवेश करने की आज्ञा नहीं देते। उन लोगों से दूध से सम्बन्धित कोई काम नहीं लिया जाता। वे दूध को पवित्र वस्तु मानते हैं। मालेर के मकई और उनके धार्मिक अनुष्ठान इसी वस्तु की ओर केन्द्रित रहते हैं। केरल मे कदार, मालापन्दरम, मान्नावेन्दन एव मुराती लोगों का विश्वास है कि जब वे जगल मे घूमते है तो उनका प्रतिनिधित्व शस्त्र के द्वारा होता है और ऐसी अवस्था मे उन्हे शुद्ध होना चाहिए। अत यह स्पष्ट है कि वर्जनाओ के रूप मे भी धार्मिक विश्वासो का अस्तित्व है। दूसरे शब्दो मे, जनजातीय विश्वास वर्जनाओ द्वारा प्रवल किए जाते हैं।

(6) जादू (Magic)

जनजातीय आयाम मे जादू धर्म का एक अभिन्न अग है। ऐसा कहा जाता है, जादू धर्म के बराबर महत्व रखता है। अशुभ प्राकृतिक घटना, अपर्याप्त तकनीकी साधन और अनिश्चतता एव खतरे से पूर्ण वातावरण उन लोगो को जादुई प्रथाओ मे विश्वास कराता है। यह किसी-न किसी रूप मे भारत की जनजातियो की सामान्य विशेषता है। मजूमदार ने मुण्डाओ द्वारा अच्छी वर्षा के लिए पत्थर को लुढकाकर या हो द्वारा धुआं उत्पन्न करने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। मुण्डा जनजाति के लोग पहाड की चोटी पर जाकर सभी आकार के पत्थरो को नीचे की ओर फेंकते हैं जिससे पत्थर की गडगडाहट बिजली की गडगडाहट से मिले। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से वर्षा होती है।

हो लकडियों के गट्ठर धुआं उडाने के लिए जलाते हैं जो गाँव के ऊपर छा जाता है। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से वर्षा निश्चित रूप से होगी। खोंड लोग वर्षा के लिए मनुष्य के बलिदान मे विश्वास करते हैं। उनका विश्वास है कि जिस तरह कष्ट सहन वाले की आंख से आंसू नीचे गिरता है एव जिस तरह उसके जख्म से खून बाहर निकलता है, उसी तरह वर्षा होगी। कोरवा लोग बीमार पुरुष को लोहे की सिक्डी से पीटते हैं और उसका अच्छा करने के लिए उसके नाक मे जलती हुई बत्ती डालते हैं। जब उडीसा का एक कुटिट्या बच्चा पहले-पहल गम्भीर रूप से बीमार पडता है तो लोग उसी समय को बच्चे का नामकरण-अनुष्ठान सम्पन्न करने का समय समझते हैं। वैद्य जादुई कृत्य सम्पन्न करने के लिए बुलाया जाता है एव यह निर्णय करता है कि इस अनुष्ठान के समय किस प्रकार के पशु का बलिदान किया जाना चाहिए। जिस औजार का बच्चे की नाभि काटने के लिए व्यवहार किया जाता है, उसको बलिदान दिए जाने वाले पशु के खून मे डुबाया जाता है जिसके कारण औजार खून से लथपथ हो जाता है और बच्चे के लिए सजायी सम्पत्ति के रूप मे सुरक्षित रखा जाता है।

छिंदवाडा क्षेत्र के कामर एव मुंजिआ सर्वप्रथम अपने प्रेमी के कुछ वस्त्र, केश या उसके उपयोग की व्यक्तिगत वस्तुओ को प्राप्त कर और उस

पर जादू करके अधिकार पाते हैं। जनजातियाँ पूरे तौर पर या आंशिक तौर पर जादू का काम करने वालो को रखती है। हो एव कुट्टियो मे गाँव का पुजारी एक विशेष अवसर के लिए जादूगर होता है। हिमालय की थारू औरतें जादू कला मे प्रवीण होती हैं, साथ ही साथ जतर देने मे भी। जौनसार बावर के खास बोने के पूर्व फसल के बढने के समय और कटने के तुरन्त बाद नगे होकर नाचते हैं। पहले यदि वर्षा नही होती तो वे लोग बेदवार्त का प्रयोग करते हैं अर्थात् असमान ऊँचाई की दो चोटियो से चिकनी रस्सी को बाँधकर और उससे चिपककर बहुत वेग के साथ फिसलते हैं। यदि सयोगवश नीचे के किनारे पर उनकी रस्सी की पकड छूट जाती तो यह उनके लिए प्राण-घातक होता था। एक समय नागा लोग सिर का शिकार करते थे क्योकि पृथ्वी देवी को आदमी का बलिदान देकर वे अच्छी फसल की आशा करते थे। सामयिक वर्षा लोगो को जादू विश्वास कराती है।

केरल के नायान्द, पनियान, उन्लादान, ओदियान मे जादूगर कत्ल करने के लिए अपने को या दूसरे को अदृश्य कर सकता है। उन लोगो का विश्वास है कि जादू गुप्त शक्तियो के व्यवहार मे प्रभावशाली होता है। मन्त्रावादी एव ओदियान पूर्ण रूप से जादूगर होते हैं।

दुबे ने जनजातियो मे उपस्थित जादू मे विश्वास का विश्लेषण किया है। वे लोग उसकी अदृश्य शक्ति मे दृढ विश्वास करते हैं जो महामारी पर नियन्त्रण, वर्षा करने एव बीमार पुरुष आदि को ठीक करने मे सहायता करती है। भारत मे जनजातीय विचार जादूई विश्वासो एव जादूई कल्पनाओ से परिपूर्ण है। जादू एव धर्म मे अन्तर दिखाने के पुराने तरीके का बहिष्कार जादूई-धार्मिक व्यवहारो के आधार पर, जिसे जनजाति के लोग करते हैं, किया जा सकता है।

(7) पूर्वज पूजा (Ancestor Worship)

जनजातियो के लिए पूर्वजो की क्रियाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनके धार्मिक विश्वासो मे पूर्वज-पूजा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे लोग इस बात से सहमत हैं कि एक मनुष्य की शक्ति एव पहुँच नियन्त्रित एव सीमित दायरे तक है लेकिन पूर्वज पूजा के द्वारा वह उस अलभ्य शक्ति को प्राप्त कर लेता है। वे लोग पूर्वजो के अस्तित्व, उनकी रुचि एव सांसारिक क्रियाओ मे उनके प्रवेश म विश्वास रखते हैं। पूर्वज उनकी वास्तविक जिन्दगी म क्रियाशील हैं। दुबे एव विद्यार्थी पूर्वज पूजा को जनजातीय धर्म का एक महत्त्वपूर्ण पहलू मानते हैं। जनजातियो का दृढ विश्वास है कि मृतक पूर्वजो को उनकी नियति के बारे मे निर्णय करने की शक्ति है, वे लोग सारे अनुष्ठान सावधानी पूर्वक सम्पन्न करते एव पूजा करने मे बहुत सतर्क रहते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि नया मृतक अपने पूर्व के मृत

पूर्वजो मे मिल जाता है। पूर्वजो की जीवात्माओ को पुकारा जाता एवं उनकी पूजा (1) वर्ष मे, (2) अवसर आने पर या (3) जब कोई आर्थिक रूप से पूजा करने के लिए तैयार रहता है, उस समय की जाती है। जनजातियो का ऐसा विश्वास है कि जब तक मृत पूर्वज की पूजा नही की जाती तब तक वह स्वप्न देता है एवं घूमता रहता है। यह अपने सम्बन्धियो को पूजा की तैयारी एव मृत्यु सस्कार के लिए बलिदान एव भोज को सम्पन्न करने के लिए परेशान करता रहता है। हिमालय की जनजातियो मे, जैसे, नागाओ मे, मिथुन त्यौहार बहुत महत्त्वपूर्ण है जो पूर्ण रूप से पूर्वजो की जीवात्माओ को समर्पित किया जाता है। मृतक की सन्तुष्टि एव अपनी उन्नति के लिए मृत पूर्वज के नाम मे एक मिथुन की बलि दी जाती है। मिजोरम के मिजो का विचार है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसकी जीवात्मा रिह झील की ओर जाती है। जो कुछ भी हो, यह शीघ्र ही लौट आती है और उसके उपरान्त अपने गृह या ग्राम के निकट लगभग तीन महीने तक निवास करती है। अतः ऐसी प्रथा है कि जब शोक सन्तप्त परिवार के सदस्य भोजन करने के लिए बैठते हैं तो वे एक स्थान खाली छोड देते है, या पूर्वज जीवात्मा के लिए गृह के मुख्य प्रवेश द्वार पर कुछ पका हुआ भोजन रख देते हैं। तीन महीने के उपरान्त जीवात्मा को विदाई देने के लिए दूर भेजने का अनुष्ठान किया जाता है। जब जीवात्मा को यह विदित हो जाता है कि उसकी आवश्यकता उसके परिवार को नही रह गई तो वह मृतक पुरुष के निवास स्थान मिथिकुआ की ओर प्रस्थान करती है जहां से आत्मा अपनी अच्छाई के कारण परमानन्दपूर्ण स्थान पैलरल मे प्रवेश करती है। जिन लोगो को पावला, पैलरल का अमर दरबान अपने धनुष से मारता है, वे लोग पैलरल मे प्रवेश नही कर सकते लेकिन उन लोगो को मिथिकुआ मे रहने के लिए आदेश दिया जाता है। गारो अपने पूर्वजो के लिए अधिक श्रद्धा प्रकट करते हैं। वे लोग मनुष्य मे जीवात्माओं की सत्ता पर विश्वास करते हैं जो मृत्यु के उपरान्त पुनः अवतरण के पूर्व दूसरे क्षेत्र मे समय व्यतीत करती है। पुण्यमय जीवन के लिए सबसे बडा पुरस्कार उसी मायोग मे पुन पैदा होना है जो हिन्दू अध्यात्म विज्ञान की योनी के समानान्तर है। जयन्तिया के बीच प्रचलित विश्वास के अनुसार जब परिवार मे कोई बीमारी आती है तो उसे भगाने मे मदद के लिए पूर्वजो की प्रार्थना की जाती है। खासी लोगो मे मृतक का पूर्वज पूजा के रूप मे सम्मान उनके धार्मिक विश्वासो का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस विश्वास के अनुसार मृत पूर्वज अलौकिक पुरुष हो जाते हैं और उनमे अपने वशजो की उन्नति मे सहायता करने और वरदान देने की शक्ति आ जाती है।

(8) बहुदेववाद (Polythısm)

भारत की जनजातियो मे प्रचलित विभिन्न विश्वासों एव उनकी धार्मिक प्रथाओं के परवर्ती वर्णनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग बहुदेववादी हैं।

दैवी शक्तियों को ऐसे देवताओं मे स्थान दिया गया है जो समुदाय के जीवन की घटनाओं पर प्रभाव डालती एव उस पर नियन्त्रण करती है। अधिकतर जनजातियो मे जीवात्माएँ अलौकिक पुरुषो का पुँज हैं और तदनुसार ही विभिन्न देवताओं को शक्ति प्रदान की गई है। कुछ देवता उनके गाँव, उनके स्वास्थ्य, वर्षा, अन्न आदि के लिए उत्तरदायी ठहराए जाते हैं। सभी देवताओं का अपना-अपना विभाग प्रभाव का क्षेत्र और नियन्त्रण होता है तथा अपनी अपनी क्रियाओं की प्रकृति होती है। जनजातियाँ अनेक देवताओं एवं देवियो मे विश्वास करती है। उनके बीच पूजा करने की विभिन्न पद्धतियाँ है जो उनकी परम्परा पर निर्भर करती हैं जिससे बहुदेववाद के प्रति उनके लगाव की जानकारी होती है।

इन देवताओं को विभिन्न नाम, विभिन्न रूप एव विभिन्न उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। जीववादी देवता, बोंगा, प्रकृति एव पूर्वज की जीवात्माएँ उनके आधार हैं जिसके साथ वे लोग पहले से ही सम्बन्धित रहते हैं।

जनजातीय लोगो मे प्राय एक ऐसा देवता होता है जो उनके खेत एव फसल की रक्षा करता है। दूसरा देवता उनकी झोपडियो की रक्षा करता है। तीसरा देवता उनके परिवार एव रिश्तेदारो की रक्षा करता है। चौथा उनकी सम्पत्ति की रक्षा करता है, आदि। देवताओं के विभिन्न निवास स्थान एव विभिन्न निर्दिष्ट अधिकार है। एक जनजातीय पुरुष अनेक देवताओं से परिचित रहता है, जैसे पहाड का देवता, जगल का देवता, जीवात्मा का देवता, झरने का देवता, नदी का देवता, तालाब का देवता, वृक्ष की जीवात्मा, सूर्य देवता, पृथ्वी देवी, चाँद देवता आदि। जहाँ उनके लोग रहते हैं, वहीं देवताओं एव देवियो का दल रहता है। उनका स्थान निश्चित रहता है। एक जनजातीय समुदाय मे उनकी सभी सामाजिक एव सांस्कृतिक क्रियाएँ जीवात्माओं एव देवताओं के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। वे लोग अपने दायरे एव शक्ति के अनुसार अलौकिक शक्ति का दूसरे देवताओं मे विकेन्द्रीकरण कर देते है। उन लोगो मे स्वास्थ्य, रोग, विपत्तियो के लिए टोटम के रूप मे, गोत्र समूह, पूर्वजो की जीवात्मा के रूप मे, उनकी सन्तानो के लिए, उनके पशुओं आदि के लिए विशेष देवता रहते है। प्रत्येक पत्थर या लकडी के खम्भे मे, जिसमे सिन्दूर लगा रहता है, खास देवताओं का निवास रहता है। प्रतिनिधित्व करती हुई वस्तु मे एक व्यक्तिगत ताबिज की शक्ति पूर्ण रूप से रहती है।

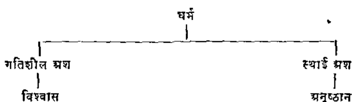
डॉ एल पी. विद्यार्थी के द्वारा वर्णित आदिम धार्मिक व्यवस्था की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त भी धार्मिक व्यवस्था की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख यहाँ अनिवार्य है—

(1) अनुष्ठान (Rituals)

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) का कहना है कि "पुराने सिद्धान्तो की एक कमी यह थी कि इन सिद्धान्तो मे बौद्धिक पक्ष पर ज्यादा जोर दिया गया

और अनुष्ठान पक्ष पर कोई ध्यान नही दिया गया। वे निरन्तर इस समस्या का अध्ययन करते रहे कि धार्मिक विश्वास सत्य है अथवा नही। और अगर सत्य नही हैं, तो उनमे विश्वास क्यो बना रहा? हमारे विश्लेषण मे यह प्रयास किया गया है कि यह प्रश्न गौण है। धार्मिक विश्वास किसी भी वैज्ञानिक अर्थ मे सत्य नही हैं, लेकिन उनके सामाजिक कार्य उनकी सत्यता पर निर्भर नही हैं। वे पावन और अलौकिक हैं।"

दुर्खीम ने धर्म के घटक अशो का विश्लेषण करते समय लिखा कि विश्वास और अनुष्ठान धर्म के आधारभूत घटक हैं। विश्वास धर्म के स्थाई अंश हैं। ये अनुकूलन के उपकरण हैं।



मेलिनॉस्की भी इसी विचार बिन्दु के हैं। उनके ही शब्दो मे "धर्म एक क्रिया की विधि के साथ-साथ विश्वास की व्यवस्था भी है और सामाजिक घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।" मजूमदार और मदान लिखते हैं कि सभी धर्मो मे एक मानसिक दृष्टिकोण होता है जिसकी अभिव्यक्ति विश्वासों और अनुष्ठानो मे होती है। विश्वास और अनुष्ठान धर्म के आधार है। अनुष्ठानो मे निश्चित क्रिया का समावेश होता है जिसका निर्माण व्यक्ति और अलौकिक शक्ति मे सम्पर्क स्थापित करना होता है। दूसरी ओर विश्वास अनुष्ठान के अधिकार पत्र होते हैं। ये विश्वास अनुष्ठानो की क्रिया को करने के लिए आश्वस्त रहते हैं।

अनुष्ठान धर्म का क्रियाशील पक्ष है। अनुष्ठान अतीन्द्रिय सत्ता और पवित्र वस्तुओ से सम्बन्धित व्यवहार है। विश्वास की तरह से अनुष्ठान के साथ भी पवित्रता की विशेषता सम्बन्धित होती है। इसमे किसी भी प्रकार का व्यवहार आ सकता है जैसे विशिष्ट वस्त्रो को धारण करना, विशेष मन्त्र का वाचन करना, किन्हीं नदियो मे निमज्जन करना, गाना गाना, नाचना, रोना, झुकना, रेंगना, निराहार रहना, अनशन करना, भोज करना, पढना इत्यादि.......हैं। व्यवहार के प्रति दृष्टिकोण ही व्यवहार को धार्मिक विशेषता वाला बनाता है। एक ही चाल, एक ही क्रिया एक सन्दर्भ मे पवित्र होती है लेकिन दूसरे सन्दर्भ मे वही क्रिया या चाल साधारण अथवा अपवित्र हो जाती है। इसलिए धर्म को समझने के लिए विश्वास और अनुष्ठान को समझना चाहिए।

(2) पावन और साधारण
(Sacred and Profane)

यह साक्ष्य है कि पवित्र लक्षण धार्मिक व्यवस्था की आत्मा है। यह दृष्टिकोण ही है जो किसी वस्तु को पवित्र या पुनीत बनाता है। यह भावना ही है जो किन्हीं वस्तुओं को दैनिक जीवन की सामान्य वस्तुओं से ऊपर और अलग करती है। विश्वास और अनुष्ठान पावन के दो पहलू हैं। विश्वास धर्म के सज्ञानार्थ पक्ष हैं जो कि पावन वस्तुओं की उत्पत्ति और प्रकृति की व्याख्या करते हैं। किंग्सले डेविस व्याख्या करते हैं कि, "प्रथम स्थान मे तो ये बताते हैं कि वह ससार किस जैसा है इसमे किस प्रकार के जीव निवास करते हैं, और इनका पिछला इतिहास क्या है, एव उनकी वर्तमान रुचि क्या है? इन सब से ऊपर, यह भी बताता है कि यह ससार किस प्रकार से उस ससार से सम्बन्धित है जिसमे हम वास्तव मे निवास करते हैं। दूसरे अर्थ मे यह बताता है कि धार्मिक विश्वास यह भी बताते हैं कि पावन वस्तुओं की प्रकृति क्या है और ये वस्तुएँ किस प्रकार से अतीन्द्रिय ससार से सम्बन्धित हैं ?"

विश्वास दृष्टिकोण पर आधारित होते है न कि प्रेक्षण पर। यह विश्वास ही है जो श्रद्धा पर आधारित होता है न कि प्रमाणो पर। बाईबिल की भाषा मे वस्तु के सार की आशा करते हैं। इन वस्तुओ के प्रमाणो को नही देखा गया। जैसा कि लगता है पावन वस्तुओ का स्पर्श वैसे ही कर सकते हैं जैसे सामान्य वस्तुओ का कर सकते हैं लेकिन विश्वासो का स्पश नही कर सकते। ये वस्तुएँ सामान्य वस्तुएँ ही होती हैं। यह विश्वास का कार्य नहीं है कि वस्तुओ के पावन लक्षणो को इन्द्रियो द्वारा अवलोकित कराए। पवित्र गाय और सामान्य गाय मे अन्तर करने की कोई बात नही है केवल यह अन्तर है कि जो उसे पावन मानते हैं यह केवल उनका विश्वास है।

दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से धर्म की प्रकृति, स्रोत, स्वरूप, प्रभावो और भिन्नताओ का बहुत ही प्रवेशक विश्लेषण किया है। दुर्खीम अपने अध्ययन और अवलोकन के आधार पर कहते हैं कि धर्म का सार वस्तुओ और घटनाओ को पवित्र और सामान्य अथवा लौकिक और अलौकिक जगत् मे दो जगतो मे बाँटना है।

सोरोकिन ने सक्षिप्त मे दुर्खीम की खोजो को निम्न सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया है, "धर्म की शिक्षा अपने सदस्यो पर यह दबाव डालती है कि वे इन लोको को आपस मे नही मिलाएँ। ऐसा करना पाप है अर्थात् धार्मिक पवित्र वस्तुओ को दूषित करना है। धर्म की शिक्षा उनको यह भी सिखाती है कि जब ये दोनो जगत् मिल जाते हैं तो अपवित्रता के प्रभाव को दूर करने के लिए धर्म की पवित्र वस्तु की ओर जाएँ। धर्म उन पर यह भी दबाव डालता है कि वह धार्मिक शुद्धता का कार्य करे। उसका ठोस रूप चाहे जो भी हो। ये धार्मिक घटनाओ के कार्य और

विशेषताएँ हजारो स्वरूपो मे अभिव्यक्त होती हैं। जैसे धार्मिक सेवाओ के स्थानो का विशेष रूप से सामान्य लौकिक घटनाओ के स्थान से अलग रखना। धार्मिक स्थानो को रोजमर्रा के कार्यों के लिए काम मे लाने के प्रति निषेध और उन धार्मिक कार्यों के समय से अलग होना। इसीलिए छुट्टी के दिन की बात आई जिस दिन लौकिक क्रियाएँ करना निषेध होता है। ऐसा विशेष रूप से चौथे उपदेश मे कहा गया है। ऐसा ही धर्म का सार धार्मिक रीतियो म भी प्रदर्शित होता है जिसका उद्देश्य पाप से शुद्धि करना है। जैसा कि पाप शुद्धीकरण मे होता है अथवा यूखरिस्त और बपतिस्मा के जैसा होता है। ऐसा तब भी देखने को मिलता है जब साधारण व्यक्ति को पावन क्रियाओ मे भाग लेने के लिए पवित्र करते हैं। इसीलिए धार्मिक पवित्रीकरण की प्रक्रिया की जाती है। इस क्रिया के द्वारा पावन क्रिया मे भाग लेने वाले को कुछ अतिरिक्त पवित्रता का अंश प्रदान किया जाता है।

किंग्सले डेविस एक संक्षिप्त सार मे लिखते हैं, "पवित्र वस्तुएँ अलौकिक वास्तविकता प्रदान करती हैं और अनुष्ठान तथा रीतियो को करने के लिए उपयुक्त सुलभ प्रतीक प्रदान करते हैं। ये दोनो समाज मे महत्त्वपूर्ण पावन कार्य करते हैं। अन ये समाज से शायद ही कभी लुप्त होगे।"

भारतीय जनजातीय धार्मिक व्यवस्था मे कुछ अन्य तत्त्व भी महत्त्वपूर्ण हैं। एल पी विद्यार्थी के अनुसार निम्नांकित पाँच तत्त्वो के आधार पर किसी भी भारतीय जनजाति की धार्मिक व्यवस्था को सुगमता से समझा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे ये वे तत्त्व हैं जो लगभग प्रत्येक जनजातीय धार्मिक व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये निम्नांकित हैं[1]—

(1) जनजाति का धार्मिक भूगोल
(Religious Geography of Tribes)

जब कोई व्यक्ति भारत के जनजातीय गाँव मे आता है तो वह रास्ते की बगल मे एक बडे वृक्ष, एक छोटे पौधे या स्तम्भ या चट्टान या तालाब, नदी, झरने आदि से होकर गुजरता है। ये सब उनके मन्दिर हैं। सरल नुकीले या सिन्दूर लगे हुए पत्थर या लकडी के खम्भे लगभग आधा या एक मीटर की ऊँचाई तक लगातार स्थापित किए जाते हैं। गोबर से पोती हुई एक मिट्टी की वेदी के साथ मिट्टी के बर्तन के कुछ टुकडे जनजातीय देवता का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनजातीय गाँव के धार्मिक भूगोल से दो बातो का पता चलता है अर्थात् धार्मिक क्षेत्र एव धार्मिक केन्द्र का। क्षेत्र से किसी स्थान के खास हिस्से का बोध होता है जो देवी देवताओ के लिए बनाया जाता है और बाद वाले से स्थान विशेष का पता चलता है जहाँ देवता रहते हैं।

1 डॉ. ललित प्रसाद विद्यार्थी : पूर्वोक्त पृ. 194-156

जनजातियो मे धार्मिक भूगोल प्रधानतया (1) गृह-सम्बन्धित एव (2) गाँव के आस पास होता है। भारत की जनजातियो मे धार्मिक एव आनुष्ठानिक क्रियाओं के सम्पादन के लिए ये मूलभूत इकाई हैं। यदि लोगो का एक समूह दूसरे स्थान पर चला जाता है तब भी वे लोग अपने मूल स्थान के देवताओ की पूजा चालू रख सकते हैं। पुनन्तु बिरहोर के देवता उनके साथ चलते हैं।

(2) जनजातियो के धार्मिक क्षेत्र
(Religious Areas of Tribes)

जनजातियो मे ऐसा विश्वास है कि वे लोग अनेक देवो एव देवताओ से घिरे हुए हैं जो सर्वत्र विराजमान रहते हैं। अत समस्त जनजातीय ग्रामो का क्षेत्र एव इसके समीप का क्षेत्र जनजातीय देवो एव देवताओ का धार्मिक क्षेत्र माना जा सकता है। उन लोगो के देवता गाँव के एक विशेष क्षेत्र मे केन्द्रित नही है, वरन् पूरे क्षेत्र मे फैले हुए हैं। जहाँ तक धार्मिक क्षेत्र का प्रश्न है, समस्त जनजातीय ग्राम एव इसके पडोस के पर्वतो एव जगली क्षेत्र को एक इकाई मे लिया जा सकता है। गृह से सम्बन्धित देवता, जो उन लोगो की पैतृक जीवात्मा है, पाक-गृह या घर या झोपडी के एक भाग मे रहता है। ग्राम का देवता ग्राम के पुजारी के घर के निकट एक मिट्टी की वेदी पर गाँव के मध्य मे या गाँव के परिसर मे रहता है। जगल का ईश्वर, निकट के जगल मे रहता है जहाँ झरना, नदी, गड्ढा, पर्वत या पर्वत की चोटी, पुराना वृक्ष असख्य अन्य देवताओ का निवास स्थान है।

(3) जनजातियो के धार्मिक केन्द्र
(Religious Centres of Tribes)

धार्मिक क्षेत्र के बाद धार्मिक केन्द्र का स्थान है जहाँ पूजा सम्बन्धी या आनुष्ठानिक क्रियाएँ अधिक रूपो मे सम्पन्न होती हैं। इस तरह के स्थान को धार्मिक केन्द्र कहा जाता है। 'मालेर' लोग गाँव के तीन देवताओ को अधिक महत्त्व देते हैं। वे हैं—चाल, राकसी एव काँदो। चाल जाहे स्थान या धार्मिक कुन्ज मे रहता है। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अवसर पर गाँव की भलाई एव उन्नति के लिए उसे बलि अर्पित की जाती है। 'राकसी गोसाईं' राकसी स्थान मे, जो गाँव से कुछ दूरी पर अवस्थित होता है, रहता है। वह किसी भी बुरे प्रभाव से, जो गाँव मे प्रवेश करने वाला होता है, रक्षा करता है। गाँव के पुजारी द्वारा वार्षिक या सालाना पूजा के समय उस बलि चढाई जाती है। 'काँदू गोसाईं' गाँव का प्रमुख देवता है। उसके रहने का स्थान एक लकडी का तख्ता है, जो काँदोमाझी के घर मे रखा जाता है या छायी किए हुए स्थान के नीचे गाँव के केन्द्र मे रखा जाता है।

पहाडी खडिया 'दासुकी' को गाँव की अधिष्ठात्री जीवात्मा की भाँति मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। 'दासुकी' प्रत्येक गाँव में रहती है। यह देवी

धरती देवी जैसी है । यह केवल पहाडी खडिया द्वारा ही नही वरन् उनके बीच रहने वाली दूसरी जनजातियो एव निम्नवर्गीय हिन्दू जातियो द्वारा भी पूजी जाती है ।

मुण्डा, सन्थाल, हो, उरांव, भील और गोड तथा दूसरी कृषक जनजातियो मे विस्तृत ग्राम-पूजा का केन्द्र वह पवित्र कुन्ज है जहाँ ग्रामीण देवतागण निवास करते हैं । धार्मिक कुन्ज पेडो का झुण्ड होता है जिसे काटना वर्जित है । मुण्डा, उरांव और हो के कुन्ज मे साल वृक्ष होते हैं । सन्थाल मे सारजोम वृक्ष होते हैं। मुण्डा और उरांव मे सरना एव हो और सन्थाल मे हाजेर या जाहिरा कहा जाता है । कुन्ज मे दो सबसे बडे वृक्षो मे से, जो अगल-बगल खडे होते हैं, एक वृक्ष सन्थाल की प्रमुख जीवात्मा 'मरगबुरू' का होता है और दूसरा उसकी सगिनी 'जाहिर बुढी' का होता है । पहले वृक्ष के नीचे काला किया हुआ चूल्हा और पत्थर रखा जाता है जिस पर गाँव वाले बलि की हुई सामग्री को पकाते हैं । उनके अतिरिक्त गाँव का पुजारी भी अपने हिस्से की अर्पित सामग्री को पकाता है । पूजा के निमित्त थोडे समय के लिए जाहिर मे छाई हुई झोपडी बनाई जाती है और इसमे पशुओ की बलि दी जाती है ।

सन्थाली गाँव मे दिवगत प्रमुख पुरुष की जीवात्मा के नाम से एक महत्त्वपूर्ण वेदी होती है जहाँ पूरे ग्रामीण समुदाय के लोग पूजा करते हैं । इस वेदी के लिए उसी तरह स्थान का चुनाव होता है जिस तरह ग्राम देवताओ के लिए धार्मिक कुन्ज का । यह गाँव के केन्द्र के निकट मुख्य सडक के एक ओर होती है जिसे 'माझी थान' या प्रमुख पुरुष का स्थान कहा जाता है । कुछ गाँवो मे माझी थान पर मिट्टी का एक ऊँचा चबूतरा होता है जिसके ऊपर चार खम्भो पर टिकी छाई हुई छत रहती है जिसके मध्य मे पाँच फुट की ऊँचाई वाला स्तम्भ होता है । दूसरे गाँवो मे केवल मिट्टी का चबूतरा और स्थायी रूप से खम्भा होता है जिसे धार्मिक अनुष्ठान के समय घास से ढक दिया जाता है । कुछ वेदियो मे गाँव के प्रत्येक दिवगत प्रमुख पुरुष के लिए एक-एक पत्थर होता है परन्तु जो पत्थर पुराने प्रमुख पुरुष का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनको हटा दिया जाता है । गाँव के मूल स्थापनकर्त्ताओं और कुछ दिन पूर्व के दिवगत प्रमुख पुरुषो की पूजा 'माझी हरम के रूप मे की जाती है । धार्मिक कुन्ज की तरह 'माझी थान' म भी मिट्टी के बने हाथी और घोडो की मूर्तियाँ रखी जाती हैं ।

भील और गोड गाँवों के आस-पास भी देवता होते हैं । गाँव के चारो कोने पर छोटी-छोटी झोंपडियाँ रक्षा करने के लिए बनाई जाती है । गाँव म प्राय पुजारी के घर के निकट गाँव का कुन्ज रहता है ।

(4) जनजातियो के धार्मिक विशेषज्ञ
(Religious Specialists of Tribes)

सभी जनजातीय समूहो मे एक पुजारी या धार्मिक विशेषज्ञो का एक समूह होता है जो प्राय दो से तीन की सख्या में होते हैं । विभिन्न जनजातिया म इन्हे

विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। बिहार के 'हो' उन लोगो को 'पाहन', मध्य प्रदेश के गोड उन्हे 'बेंगा' और केरल के कनिक्कर एव यूराली उन्हे 'प्लाथी' कहते हैं।

खडियाओ मे प्रत्येक गाँव मे केवल एक प्रमुख पुरुष होता है जो लौकिक एव धार्मिक क्रियाओ दोनो मे सम्मिलित होता है। उसे कालो, देहुरी या पाहन कहा जाता है। देहुरी गांवो मे ग्राम के पुजारी को 'कालो' एव उसके सहायक को 'पुजार' कहा जाता है। कालो का पद परम्परागत होता है। यदि उसके घर मे कोई पुरुष नही होता तो उसके परिवार की कोई स्त्री 'कालो' के पद पर आसीन होती है। गाँव के पुजारी के कार्यालय का चिह्न होता है—पवित्र ओसाने वाली टोकरी जिसके ऊपर कुछ अरवा धान रखा जाता है जो ग्राम के देवताओ एव जीवात्माओ को अर्पण करने मे काम आता है। सामूहिक अनुष्ठान के प्रत्येक अवसर पर 'कालो' पुजारी की तरह काम करता है। वह ग्राम-देवताओ को बलि एव भेट अर्पित करता है।

'हो' ग्राम मे 'देउरी' या 'धार्मिक प्रमुख पुरुष' एव 'देवनेनवा' या जीवात्मा के चिकित्सक को धार्मिक अधिकार रहता है। देउरी पवित्र कुञ्ज के देवताओ की पूजा करता है और गाँव के प्रमुख देवता देउसौली को बलि चढाता है। जब गाँव मे महामारी या बीमारी फैल जाती है जो वह धार्मिक कुञ्ज पर बलि चढाता है। 'देउरी' हितकारी देवताओ से सम्बन्धित रहता है। अहितकारी जीवात्माएँ 'देओनवा' द्वारा पूजित होती हैं।

'मुण्डा' एव 'उरांव' मे धार्मिक प्रमुख पुरुष को 'पाहन' कहा जाता है जो धर्म से सम्बन्धित विषयो के लिए उत्तरदायी होता है और इसी कारण गाँव मे उसका बडा सम्मान एव प्रभाव रहता है। एक हिन्दी कहावत है जो इस जगह सटीक बैठती है—'पाहन गाँव बनाता है, महतो गाँव चलाता है' अर्थात् पाहन गाँव का भाग्य बनाता है जबकि महतो गाँव की देख-रेख करता है। जिस तरह लौकिक प्रमुख पुरुष गाँव वालो के बीच और दूसरे लोगो के साथ उचित सम्बन्ध कायम रखता है उसी तरह 'पाहन' गाँव के साथ देवो एव अलौकिक जीवो का सम्बन्ध कायम रखता है। 'पाहन' का कार्य-काल तीन वर्ष का होता है। ओसाने वाली टोकरी से शकुन विचार कर उसका चुनाव होता है। सामान्यत वह 'पाहन' के वश का होता है। यदि कोई उपयुक्त व्यक्ति नही मिलता तो उस दशा मे दूसरे वश के मूल निवासियों मे से 'पाहन' का चुनाव होता है। कुछ गांवो मे 'पाहन' का पद वशानुगत होता है और वह गाँव के स्थापनकर्त्ता के परिवार का होता है। विभिन्न उरांव गाँव मे, जो पहले मुण्डा द्वारा अधिकृत थे, मुण्डा वशानुगत 'पाहन' होता है क्योकि मुण्डा वहाँ के मूल निवासी थे।

सम्पूर्ण गाँव वालो की ओर से ग्राम-देवताओं को बीमारी एव दुर्भाग्य को दूर करने के लिए मनाना पाहन का कर्तव्य है। उसके सहायक को 'पुजार' या

'पनमारा' कहा जाता है। 'पुजार' को बिना किराए की जमीन दी जाती है जिसे 'पुजार' खेत कहा जाता है।

संथाली गाँव के पुजारी को 'नायक' कहा जाता है। वह गाँव वालों द्वारा मनोनीत नहीं होता बल्कि देवों द्वारा मनोनीत किया जाता है। एक नायक की मृत्यु के उपरान्त जीवात्माएँ नए नायक का चयन करती हैं। यद्यपि नए नायक का चुनाव जीवात्माओं द्वारा किया जाता है तथापि साधारणतया यह पद नायक के परिवार द्वारा हस्तान्तरित होता है। नायक जीवन भर काम करने का अधिकार रखता है और पंचायत द्वारा लिए गए करों में हिस्सा पाता है। सामूहिक शिकार में मारे गए जानवर की पीठ के हिस्से का मांस उसे दिया जाता है और प्रत्येक अनुष्ठान पर गाँव वालों द्वारा दिए गए पशुओं के बलिदान में उसे प्रत्येक पशु का सिर मिलता है। सभी अनुष्ठानों एवं बोंगा की पूजा के पूर्व नायक का उसके गाँव वाले साथियों से एक विशेष धार्मिक अलगाव होता है।

प्रत्येक गाँव में एक सह पुजारी होता है जिसे 'कुदम नायक' कहा जाता है और जिसका एक विशेष कर्तव्य निर्धारित किया गया है। 'कुदम' शब्द से तात्पर्य दान करने वाले घर के पीछे का क्षेत्र है। गाँव में, त्योहार के समय, नायक मुख्य भेंट चढ़ाने में व्यस्त रहता है। कुदम नायक, परगना बोंगा को बलि चढ़ाता है जो एक विस्तृत क्षेत्रीय इकाई की अभिभावक जीवात्मा है और गाँव के उस क्षेत्र का एक अंश।

भीलों का पुजारी 'बदवा' है। वह सभी कार्यों का माध्यम, ईश्वर, पुजारी एवं सुधारक हो सकता है।

नवगाँवों में चार प्रकार के पुरुष धार्मिक कृत्य सम्पन्न करते हैं अर्थात्—(1) बटया-ग्राम का पुजारी (2) कूरानभावन-गानन, (3) इर्दमाचान, जो शमन की सहायता करता है एवं (4) निगमाचान, जो दाह संस्कार करता है।

दक्षिण भारत की जनजातियों के सभी समूहों में एक पुजारी, एक मन्त्रवादी एवं एक कविधान होता है।

(5) जनजातियों के धार्मिक कृत्य
(Religious Acts of Tribes)

जनजातियों के धार्मिक सम्पत्ति का अन्तिम एवं महत्त्वपूर्ण घटक है धार्मिक कृत्य, जो मुख्य रूप से ग्रामीण पुजारी या उसके सहायक द्वारा सम्पादित होता है। इस कृत्य में जनजातीय लोग भगवान या देवता को मनाने के लिए बलि चढ़ाते हैं।

बलिदान देने योग्य वस्तुएँ अण्डे से लेकर भैंसे तक हो सकती हैं। मध्य भारत की जनजातियों को पड़ोसी हिन्दुओं के प्रभाव ने बलिदान के मामले में कुछ हद तक उदार बना दिया है जिसके परिणामस्वरूप वे लोग बलिदान देने के बदले मिठाई एवं फल चढ़ाने लगे हैं। पूजा की दूसरी सामग्री होती है—सिन्दूर, अरवा, चावल एवं फूल आदि। समस्त जनजातीय समुदाय के लिए सूर्य की पूजा का

सर्वाधिक महत्त्व है। नई फसल के दाने जैसे मकई, धान, आदि भी चढाए जाते है। उपर्युक्त भेट के अर्पण के अतिरिक्त ईश्वर को देशी शराब भी चढाई जाती है।

जब भेट चढाई जाती है, उस समय ग्रामीण पुजारी या बलिदाताओ द्वारा उपयुक्त कथनो का उच्चारण भी किया जाता है। किसी परिवार द्वारा ये धार्मिक कृत्य किए जाने की स्थिति मे परिवार का मुख्य पुरुष अच्छी फसल, खुशी, स्वास्थ्यादि के लिए शुभकामना एव वरदान के लिए अपने देवताओ या पूर्वजो की प्रार्थना करता एव उन्हे मनाता है। जब ग्राम का पुजारी देवता को बलि देता है या उसकी पूजा करता है जो उस स्थिति म वह पूरे गाँव की खुशी, उन्नति एवं लोगो के स्वास्थ्य के लिए देवता को मनाता है।

कुछ विशेष अवसरो पर शामन के शामनकीय कृत्यो से भेंट सम्बन्धित रहती है। बलिदान के समय धार्मिक कृत्य एव पूजा का विधिवत् सम्पादन होता है। उस समय पवित्रता पर काफी ध्यान दिया जाता है अन्यथा जीवात्मा के नाराज होने पर पूजा से सम्बन्धित व्यक्तियो, परिवार या गाँव पर मुसीबत आ सकती है।

पूजा की समाप्ति के समय जनजातीय लोग खान-पान एव नृत्य की प्रतीक्षा उत्सुकता के साथ करते हैं। यह पूर्णतया त्योहार का रूप ले लेता है। अत जनजातियो मे त्योहार उनके धार्मिक जीवन का अंग है। इसके साथ ही धार्मिक कृत्य की समाप्ति होती है।

इस प्रकार जनजातीय लोगो मे धार्मिक कृत्य के ये चार प्रकार है—

(क) स्वय एक व्यक्ति की धार्मिक प्रक्रिया के विभिन्न अवसरो पर धार्मिक कृत्यो का सचालन, जो उस व्यक्ति के गर्भ मे आने से लेकर मृत्युपर्यन्त चलता रहता है।

(ख) पैतृक पूजा के लिए धार्मिक कृत्य-मृतक के जीव को पूर्वज की जीवात्माओ मे सम्मिलित होने के लिए तथा परिवार एव गोत्र के कल्याण के लिए इसका सम्पादन होना है।

(ग) व्यक्त एव अव्यक्त शपथ प्रतिश्रुति एव कठिन परीक्षा की पूर्ति के लिए धार्मिक कृत्य।

(घ) त्योहार, जो जनजातीय लोगो के धार्मिक कृत्य की सूची प्रस्तुत करता है। जीवन के सोपान एव पैतृक पूजा से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य के, जो आत्मा की अमरता से सम्बन्धित हैं, सन्दर्भ मे पहले ही चर्चा की जा चुकी है। पशुओ की बलि को ही प्राथमिकता दी जाती है।

तीसरे प्रकार का धार्मिक कृत्य, व्यक्तिगत कृत्यो द्वारा परिलक्षित होता है। जब किसी परिवार मे कोई बच्चा पैदा होता है तो पूर्वजो को मनाया जाता है एव उनकी पूजा की जाती है। विभिन्न माताओ—चेचक की जीवात्मा, हैजा की जीवात्मा आदि—की पूजा की जाती है। मनौती की पूर्ति के लिए शामन या जादूगर आदि

पर विजय पाने के लिए जीवात्माओं को मनाया जाता है। शामन या गुरु तेल-पत्ता एवं झाड-फूंक का प्रयोग करता है। शपथ या कठिन परीक्षा के लिए भी धार्मिक कृत्य किए जाते हैं। जब कोई व्यक्ति दुष्ट कर्म करता है तो उसे गाँव के धार्मिक केन्द्र पर ले जाया जाता है एवं उससे शक्तिशाली देवता या जीवात्मा के नाम से शपथ खिलाई जाती है। जनजातियों मे ऐसा विश्वास है कि यदि कोई व्यक्ति झूठ बोलकर देवता के नाम मे शपथ लेता है, तो उसे बहुत हानि होती है। वह मर भी सकता है। स्वय को चाटने का अनुष्ठान, आग पर चलना, गर्म किए हुए लाल लोहे को चाटना, मध्य भारत की जनजातियों के बीच लोकप्रिय कठिन परीक्षाएँ हैं।

चौथे प्रकार का धार्मिक कृत्य है त्यौहार जो जनजातीय लोगों को उत्साहित एव प्रमुदित करता है। विभिन्न प्रकार के त्यौहारों के समय के धार्मिक कृत्य, लौकिक एव धार्मिक दोनो पहलुओं को समाविष्ट करते हैं जिसका पता विभिन्न त्यौहारों के धार्मिक कृत्यों के विश्लेषण से चलता है। ईश्वर के सम्मानार्थ जनजातीय लोगों द्वारा जतरा एव मेला लगाया जाता है। त्यौहार एक दिन मे भी समाप्त हो सकता है या कुछ दिनों तक चल सकता है। सथाल एव मालेर के वन्दना त्यौहार, मुण्डा एव उराँव के करमा एव सरहुल त्यौहार, भील के होरी त्यौहार आदि वर्ष मे बहुत दिनो तक मनाए जाते हैं। इन अवसरो पर विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। उन्हे प्रतिदिन भेंट अर्पित की जाती है। इन दिनो लोग खाने-पीने, नृत्य करने मे मस्त रहते हैं। कुछ दशाओं मे युवक-युवतियो के बीच स्वच्छन्द समायोग भी होता है। त्यौहार के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

कुछ प्रमुख जनजातियों में धर्म
(Religion in Some Major Tribes)

धर्म की अवधारणा एव प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना के बाद अब हम कुछ प्रमुख जनजातियों की धार्मिक व्यवस्था का उल्लेख करेंगे। यहाँ हम निम्न जनजातियों की धार्मिक व्यवस्था का उल्लेख कर रहे हैं—(1) सथाल, (2) भील, (3) नेफा, (4) थारू (5) डबला।

(1) **सथाल (Santhal)**—सथालो मे धर्म का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है, जिसने सम्पूर्ण जनजाति को सामाजिक एकता के सूत्र मे रखने का प्रयत्न किया है। जादू के द्वारा उस अज्ञात रहस्यमय शक्ति पर नियन्त्रण तथा प्रभुत्व रखा जाना है जो कि हानिकारक सिद्ध हो सकती है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक प्रकार्यों के लिए सथालों में अलग-अलग व्यक्ति होते हैं जिन्हें विभिन्न नामो से सम्बोधित किया जाता है जैसे ओझा, जँगुरु, कामरगुरु, रेरेनिक, अतोनेक, कुदामनेक तथा देहरी। जैसे प्राकृतिक कारणों से बीमार व्यक्ति का उपचार करने वाला व्यक्ति रेरेनिक कहलाता है अथवा जडी बूटी वाला डॉक्टर कहा जाता है। जब यह व्यक्ति उपचार करने मे सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है तो फिर उन लोगो को उपचार करने के

लिए बुलाया जाता है जिन्हे 'बोगा' का समर्थन प्राप्त होता है तथा जनगुरु अथवा ओझा को भी बुलाया जाता है जो जड़ी-बूटी के अतिरिक्त जादुई शक्ति से बीमार व्यक्ति को ठीक करने का प्रयत्न करते हैं।

(2) भील (Bhil)—भील भी एक प्रमुख जनजाति है। जायक ने अपनी पुस्तक 'दि भील्स ऑफ रतनमाल' मे भीलो के परम्परागत धर्म की चार प्रमुख विशेषताएँ बतलाई है—

(1) भील लोग कुछ हिन्दू देवताओ मे विश्वास करते हैं, जिन्हे वे शक्तिमान मानते हैं तथा जो उनके विचारो मे दयावान हैं, हानिकारक नही हैं।
(2) भील लोग भूताओ पर भी विश्वास करते हैं।
(3) सम्भवत भील अनेक प्राकृतिक आत्माओ (Natural Spirits) पर विश्वास करते तथा उनको पूजते हैं। मदिरा तथा बलि देकर उन्हे प्रसन्न किया जाता है।
(4) इन्द्रजाल तथा जादू विद्या पर भी भीलो का अटूट विश्वास है। अर्थात् एक ऐसी अन्तर्जात शक्ति जो दूसरो को हानि पहुँचा सकती है तथा विनाश का कारण बन सकती है।

भील जनजाति राजस्थान व गुजरात के कुछ भागो मे पाई जाती है। राजस्थान मे प्रमुख रूप से बाँसवाडा, डूँगरपुर से लेकर गुजरात के रतनगढ तक भील जनजाति की एक प्रमुख बेल्ट है। भील धर्मभीरू एव धार्मिक क्रियाओ के सम्पादन मे अटूट विश्वास रखने वाली एक प्रमुख जनजाति है।

भीलो का यह विश्वास है कि मरने के बाद मृत व्यक्ति की आत्मा उसके अपने निवास के आस-पास मे ही मण्डराती रहती है तथा परिवार के जीवित सदस्यो मे सक्रिय रुचि लेती है। जिनकी प्राकृतिक मृत्यु होती है तथा जिन्होने अच्छा व सामान्य जीवन बिताया है, उनकी आत्मा सन्तुष्ट रहती है और जो दु खी जीवन बिताकर अचानक या असामयिक मृत्यु को प्राप्त हुए हैं वे हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं। ये लोग हिन्दू देवी देवताओ जैसे महादेव, राम, कालिका, हनुमान व गणेश आदि की भी पूजा करते हैं। इनके उपासक विशेष रूप से वे भील हैं जो कि अन्यो की अपेक्षा काफी प्रगतिशील हैं तथा जिन्होने उच्च सामाजिक एव आर्थिक स्तर प्राप्त कर लिया है। इस दृष्टि से ये बहुईश्वरवादी हैं। महादेव (भगवान) को ये सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तथा अन्य सभी देवी-देवताओ को उनसे निम्नतम श्रेणी मे रखते हैं। इन्द्र को आकाश का देवता मानते हैं जो कि वर्षा पर नियन्त्रण रखता है तथा फसलो का अच्छा व बुरा होना इन्द्र पर निर्भर मानते हैं। यहाँ इन्द्र को 'कालूराना' (बादलो का राजा) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। 'राम' के भी ये लोग उपासक हैं। 'कालिका' (दुर्गा) को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की 'माँ' (Mother of all Universe) के रूप मे माना जाता है, जो

जंगली जानवरों तथा भूतादि (प्रेतात्माओं) से लोगो की रक्षा करती है। होली का त्यौहार काली से ही सम्बन्धित मानकर यहाँ मनाया जाता है जिसे ये हर्षोल्लास से मनाते हैं। कालिका को कभी-कभी बकरे की बलि भी दी जाती है एव शराब का भोग लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त ये लोग अनेक जनजातीय देवी-देवताओं को मानते हैं जैसे 'बानिया बोवजी' तथा 'बानिया माता', 'मानिजहारा', 'सीतला' इत्यादि। देवी-देवता फसलो से सम्बद्ध माने जाते हैं जैसे नानदेरवो (Nandervo) इनम सर्वोत्तम माना जाता है। इसे सदैव प्रसन्न रखन हेतु पशु बलि दी जाती है। 'हिरकुल्यो' (Hirkulyo) को वर्षा के बाद सामूहिक रूप मे मुखिया के निवास पर पूजा जाता है। मातन्या देव (Matnyo Dev) को ये साग-सब्जी के राजा (King of Vegetables) के रूप मे मानते हैं। इसके प्रसन्न होन पर ही उक्त वस्तुएँ प्रचुर मात्रा म उपलब्ध होगी, ऐसा इनका विश्वास है। इस प्रकार ये इनके अपने देवी देवता हैं। 'गोवलदेव' चोरी स रक्षा करने वाला देवता माना जाता है। 'खेतर पाल' खेती की निगरानी रखन वाला देवता के रूप म माना जाता है। 'बाग देव' पशुओ इत्यादि की रक्षा हेतु पूजा जाता है। 'पा देवी' अथवा 'पा जजाली' का जलदेवी के रूप म माना जाता है। इसके अतिरिक्त भी असख्य देवी-देवताओं तथा पूर्वजो की उपासना ये भिन्न पर्वों एव तिथि त्यौहारो मे करते हैं। भील जनजाति के लोग हिन्दू देवी देवताओ को पर्याप्त सीमा तक अपना चुके हैं तथा निकट सम्पर्क म आने के कारण अब धीरे-धीरे परम्परागत रिवाजो एव जनजातीय प्रणालियों का बहिष्कार करते जा रहे हैं।[1]

(3) नेफा (Nepha)—स्वर्गीय श्री वेरियर एल्विन (Varrier Elvin) न नेफा की जनजातियो म धर्म की पाँच मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है जो निम्नांकित हैं—

1 एक सर्वोच्च शक्ति (ईश्वर) पर लोगो का सामान्य विश्वास है जो कि सर्वदा दुष्टकारी मानी जाती है, जैसे दोइनी पाल्लो (Doini Pollo), सूर्य, चन्द्रमा आदि।

2 जनजातीय धर्म म दैनिक जीवन मे आध्यात्मिक यथार्थता (Spiritual Realities) को काफी महत्त्व दिया जाता है। किसी दुखद घटना को धार्मिक कारण मानना, अज्ञात पर आस्था, रक्षक आत्माओ (Tutelary Spirits) पर विश्वास, य सब उनके उच्च मूल्यों का निर्धारण करती हैं।

3 इसी प्रकार जनजातीय धर्म एक स्पष्ट पुराण विद्या के द्वारा निर्मित प्रतीत होता है। जनजातीय पुराण, इतिहास एक महत्त्वपूर्ण स्थान

1 हरीश उप्रति भारतीय जनजातियाँ, पृ 130

लिए हुए दृष्टिगत होता है, जातिगत परम्पराओं पर गर्व, पूर्वजों का सम्मान व उनकी वीरतापूर्ण कृतियों के प्रति सराहना, मानव कल्याण के लिए उच्चतम त्याग एवं बलिदान—ऐसे विश्वास उनके जीवन के मूल्यों व विश्वासों को ऊँचा उठाते हैं।

4 जनजातीय धर्म सामाजिक नीति (Social Policy) से सम्बद्ध है तथा जनजाति के लोगों को एकता एवं अनुशासन के सूत्र में पिरोए रखता है। बौद्ध धर्म से भी ये लोग काफी हद तक प्रभावित हुए हैं जिसका उल्लेख उनके लोक गीतों एवं लोक कथाओं में देखने को मिलता है।

5 अन्तिम रूप से जनजातीय धर्म लोगों को जीवन आपदाओं एवं विपत्तियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करता है। सभी जनजातीय धर्मों में 'भय' या डर एक प्रमुख तत्व के रूप में निहित रहता है।

(4) थारू (Tharu)—डॉ. मजूमदार एवं मदान का कहना है कि हिन्दुओं के साथ सम्पर्क के परिणामस्वरूप थारू जनजाति के लोग हिन्दुओं के देवी देवता, जैसे महादेव (शिव) सत्यनारायण आदि पर विश्वास एवं उनकी पूजा करने लग गए हैं। इसके अतिरिक्त मुस्लिम व सिख तथा अन्य धर्मों का भी प्रभाव इनके धर्म पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। जनजातीय देवी-देवताओं में लाभदायक एवं हानिकर दोनों ही प्रकार के देवी देवता पाए जाते हैं, जैसे 'पछावान' (Pachanwan) इष्ट कर है किन्तु खड़गा भूत (बुरी आत्मा) जो कि हानिकर है, को भी प्रसन्न रखने हेतु पूजा जाता है। परवतिया तथा पुन्यागिरी थारू धर्म में प्राचीन समय से पूजे जाते हैं। 'वनस्पति', 'एरीमल' अथवा 'भारमल' जंगल के देवता माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ग्राम देवताओं की ये पूजा करते हैं। गाँव में कुछ दूरी पर अक्सर देवी 'भूमसेन' (Bhumsen) की पीपल अथवा नीम के वृक्ष के नीचे स्थापना होती है। भूमसेन में निम्न देवियों का प्रतिनिधित्व होना है जैसे—दुर्गा, कालिका, सीतला, ज्वाला, पारवती, हुलाका तथा पुरवा, गाँव का प्रमुख देवता रेती (Reity) नागराय तथा दो शक्ति सम्पन्न आत्माएँ 'खड़गा' तथा 'पछावान' थारू जनजाति में स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अनेक मामलों में विशेष *अधिकार प्राप्त हैं वे अपने को पुरुषों की अपेक्षा उच्च जाति एवं परम्परा से* सम्बद्ध करती हैं, परिणामस्वरूप देवताओं के स्थान पर देवियों की अधिक उपासना इन थारू लोगों में की जाती है। 'पाछ पकड़िया' (Pacha Pakaria) की पूजा चोर-डाकुओं से रक्षा हेतु की जाती है। पूर्वजों की आत्माओं (Ancestral Spirits) की घर में स्थापना की जाती है तथा उनकी पूजा-अर्चना की जाती है। इसके अतिरिक्त 'कोरोदेव', 'राकत कलुवा' जानवरों से सम्बन्धित होते हैं तथा उनकी रक्षा करते हैं। 'मियान मोहम्मद' की भी जानवरों की रक्षा हेतु उपासना की

जाती है। उन मृत लोगो की भी उपासना की जाती है जो कि जनजाति मे लोकप्रिय, महत्त्वपूर्ण एव प्रतिष्ठित रहे है, जैसे पछुवान, कुलमतिया तथा खडगा इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। बागभूत अर्थात् यदि बाग (चीता) किसी व्यक्ति को मार खावे तो उसकी आत्मा की उपासना की जाती है। इस प्रकार अनेक आत्माओ की पूजा की जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि थारू जनजाति मे धर्म की प्रमुख विशिष्टता यही है कि इन्होने अनेक धर्मों के देवी देवताओ को अपनाया है जैसे पाछ्वकडिया मुस्लिम धर्म की देन है तो अनेको हिन्दू धर्म के देवी देवताओ का भी ये मानते हैं। इस प्रकार एक तरह ये बहुईश्वरवाद म विश्वास करत हैं। इनके धर्म की एक अन्य विशेषता यह है कि जनजाति मे विशिष्ट व्यक्ति मरणोपरान्त देवताओ के रूप मे य द किए जाते है, उनके कार्यों की सराहना की जाती है तथा उन्हे पूजा जाता है। थारू जनजाति के धर्म की सबसे बडी विशिष्टता यह है कि अधिकांश देवियाँ पूजी जाती हैं, क्योकि इन लोगो म स्त्रियो की स्थिति अधिक रही है, अत यही बात उनके देवी-देवताओ के लिए भी स्पष्ट रूप मे कही जा सकती है। थारू जनजाति मे स्त्रियाँ जादू विद्या म निपुण मानी जाती हैं।

भारतीय आदिम धार्मिक व्यवस्था मे जादू का स्थान
(Place of Magic in Indian Primitive Religious System)

आदिम समाजो मे धम और जादू सकटो पर विजय प्राप्त करने के दो तरीके हैं। अत. इनके परस्पर सम्बन्धो का अध्ययन आदिम समाजो के स्तर पर करना आवश्यक है। मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि धम और जादू परस्पर सगुम्फित और लिपटे हुए हैं। एक ओर धम का सम्बन्ध जादू से है और दूसरी ओर जादू का धम से आवश्यक रूप से निकटता का सम्बन्ध है। फिर भी अनेक लोगो न इन दोनो मे अन्तर किया है। जादू भी अज्ञात शक्तियो के लिए जोड तोड की व्यवस्था है। यह एक झूठे कारण प्रभाव प्रत्यय पर आधारित मिथ्या विज्ञान है। इसम अनजान शक्ति पर नियन्त्रण मानते हैं। ये शक्तियाँ वस्तुपरक व्याख्या से सम्बन्धित नही होती हैं।

काला जादू (Black Magic) वह कहलाता है जिसमे एक पिन उस व्यक्ति की मोम की शक्ल मे चुभोते हैं जिस व्यक्ति को हानि पहुँचाना चाहत हैं। धर्म सचार माध्यम से कार्य करके उच्च शक्तियो को नियन्त्रित करता है। इसकी सचार की विधियो जैसे-पूजा, मध्यस्थता, आराधना और स्तुतिगान का अथ नियन्त्रण नही है। जादू मे कोई सामाजिक सम्बन्ध नही होते हैं। धर्म मे साधारणतया दोहरा सम्पर्क होता है। मानव और अमानवीय सत्ता एव ईश्वर के स्मरणाय मानव का मानव के साथ सम्पर्क होता है।

"इस सब के उपरान्त भी धर्म और जादू निकटता मे परस्पर सगुम्फित हैं। इसके पूर्व कि हम धर्म के बारे मे पूर्णता से कुछ कह, इन दानो के बीच अ तर स्पष्ट होना चाहिए।"

"जादू एक कला है जो मिथ्या विज्ञान पर आधारित है। इसमे जोड-तोड के उद्देश्यो के लिए अकारणीय सम्बन्धो को कारणीय सम्बन्धो मे बदला जाता है। इसका उदाहरण यह है कि एक मनुष्य के कटे हुए नाखूनो पर काल्पनिक प्रक्रिया के द्वारा उस व्यक्ति पर अनिष्ट हो जाता है।" जादू मे कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो धर्म मे भी विद्यमान होते हैं। ये लक्षण अनुष्ठान और रहस्य हैं। लेकिन धर्म म उपागमो की अभिवृत्ति आदर-मान की होती है जिसमे पूजा पाठ के सम्बन्धो का निर्माण होता है और पवित्र या उच्च सत्ता के साथ सम्पर्क स्थापित होना है जिससे जीवन क नियम बनते है।

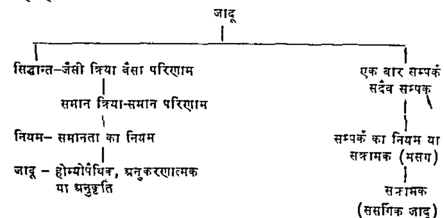
मजूमदार और मदान न धर्म और जादू की तुलना की है और लिखा है कि धर्म और जादू दोनो अनुकूलन करने के उपकरण है। इनका उददेश्य व्यक्ति को कठिन परिस्थितियो मे मदद करना है और तनाव से छुटकारा दिलवाना है। ऐसा लगता है कि ये दोनो उपागम हमेशा साथ-साथ विद्यमान रहते है और कभी कभी तो ये एक-दूसरे के इतने निकट आ जाते है कि एक दूसरे म लीन हो जाते है।

जादू निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है। लक्ष्य सामान्यतया तात्कालिक, व्यावहारिक और सामान्यतया निजी होते हैं। फ्रेजर ने जादू की विधियो और क्रियाओ का अध्ययन और व्याख्या की है। उन्होने कहा है कि जादुई सूत्र दो सिद्धान्तो पर आधारित होते हैं—

1 समान क्रिया का समान परिणाम,

2 एक बार रहा सम्पर्क सदैव का सम्पक।

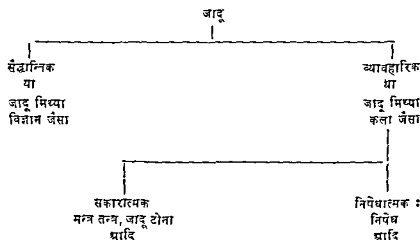
मजूमदार और मदान ने फ्रेजर के विचारो और मतो को संक्षिप्त म प्रस्तुत किया है। फ्रेजर प्रथम सिद्धान्त को समानता के नियम पर आधारित बताते हैं, और इससे सम्बन्धित जादू को होम्योपैथिक, अनुकरणात्मक या अनुकृति जादू कहते हैं।



दूसरे नियम को फ्रेजर ने सम्पर्क का नियम या संक्रामक का नियम कहा है। इससे सम्बन्धित जादू को संक्रामक जादू बताया है। आदिम समाजो के

सभी विभिन्न प्रकार के जादुई अनुष्ठान इन्हीं दो सिद्धान्तों और नियमों पर आधारित है।

आधुनिक विज्ञान की तरह जादू भी घटना के कारण-प्रभाव के प्रेक्षण और परीक्षण पर आधारित होता है। फ्रेजर ने इन निष्कर्षों का सार निम्न चित्र में प्रस्तुत किया है—



मजूमदार (Majumdar) ने जीववाद को मिर्जापुर की कोरवाजनजाति में भी पाया है। यह जनजाति प्रेतात्मा के कई स्वरूप देखती है। फसल की प्रेतात्मा, पशु की प्रेतात्मा आदि कई प्रेतात्माएँ हैं जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करती हैं।

श्यामचरण दुबे (Dr S C Dubey) ने छत्तीसगढ की कमार जनजाति के सम्बन्ध में दो तरह के बोगा का उल्लेख किया है। स्वय एस सी दुबे लिखते हैं "गाँव के साधारण बोंगा को डिहू बोगा कहते हैं। डिहू बोगा का मुख्य काम होना है गाँव के पुजारी के रूप में गाँव की ओर से की गई सयुक्त पूजा और सचालन। प्रतिवर्ष धान बोना शुरू करने से पहले गाँव की ओर एक रस्म की जाती है जिसमें डिहू बोगा अपने मन्त्र पाठ के साथ बलि के बकरे के खून में सानकर धान के बीज चारों दिशाओं में बिखेर देता है। इसमें यह आशा की जाती है कि चारों दिशाओं में खेती अच्छी होगी।"

इसी प्रकार कुछ और उदाहरण लिए जा सकते हैं—हो एवं अन्य जनजातियों में दो बार अन्त्येष्टि सस्कार (Double Funeral) किया जाता है। पहले अन्त्येष्टि सस्कार को कच्चा या हरा दाह सस्कार (Green Funeral) कहा जाता है। इसमें व्यक्ति के मरते ही तुरन्त सस्कार कर दिया जाता है। दूसरे दाह सस्कार को पक्का या सूखा दाह सस्कार (Dry Funeral) कहा जाता है। यह सस्कार मरने के काफी समय बीत जाने के बाद किया जाता है। जब नाते-रिश्तेदार यह

आशा छोड देते हैं कि मृतक की आत्मा वापस लौटेगी तब यह संस्कार किया जाता है। उरांव जनजाति मे कुछ समय पहले तक कच्चे दाह संस्कार मे मृत व्यक्ति के शरीर को एक गड्ढे मे लिटा दिया जाता था और वर्ष भर बाद उसका पक्का दाह संस्कार किया जाता था। हो जनजाति मे यह विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् शरीर आत्मा बोगा नामक शक्ति मे मिल जाती है।

संथाल जनजाति मे विभिन्न बोगा होते हैं। इन बोगाओ के अलग-अलग कार्य होते हैं। गृह देवता ओरक बोगा के नाम से जाना जाता है। गाँव की सीमा पर स्थापित बोगा, सीमा बोगा कहलाता है। गाँव से कुछ दूरी पर स्थित देवता बहरे बोगा के नाम से जाना जाता है। ये सब बोगा जीवात्मा का रूप है।

भील जनजाति मे भी जीववाद के विभिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं। गुजरात व राजस्थान के भील प्रेतात्माओ और पूर्वजो की पूजा करते हैं। भीलो मे अनेक प्रकार के देवी-देवता होते हैं। खेती के देवता अलग होते है और इसी भाँति भीलो मे पशु और गाँव के देवता भी होते हैं। जन्म, मृत्यु आदि अवसरो पर इन देवी-दवताओ की पूजा की जाती है। मृत व्यक्ति की स्मृति मे पत्थरो का एक ढेर बनाया जाता है, जिसे यहाँ की स्थानीय भाषा मे पालिया कहा जाता है। युद्ध या शिकार मे मरने वाले भीलो की स्मृति मे पत्थर लगाए जाते हैं जिन्हे मिरे कहा जाता है। यह जनजाति प्राकृतिक आत्माओ मे भी विश्वास रखती है। इस जनजाति के लोग भूत-प्रेत मे भी विश्वास रखते हैं। भूत-प्रेत भगाने वाला भोपा कहलाता है। भील गाँव मे एक न एक भोपा अवश्य होता है। भोपा गाँव की सामाजिक आवश्यकता है।

वेरियर एल्विन (Verrier Elwin) ने अपनी पुस्तक फिलासफी फॉर नेफा (Philosophy for NEFA) मे नेफा मे पाई जाने वाली जनजातियो के अलौकिक शक्ति मे विश्वास का उल्लेख किया है। वे सूर्य चन्द्र की पूजा करती हैं। दुर्भाग्य के अवसर पर वे अपनी रक्षक आत्माओ की ओर आशा भरी दृष्टि से देखती हैं। ये जनजातियाँ अपने पूर्वजो की पूजा मे विश्वास रखती हैं। धर्म इन जनजातियो को सुदृढता मे बाँधता है। उपर्युक्त उदाहरणो के बाद अब हम प्रमुख सामाजिक मानवशास्त्रियो द्वारा जादू व धर्म पर प्रस्तुत विचारो को देखेंगे।

एडवर्ड टाइलर ने जादू और धर्म को ससार देखने के दो पृथक् दृष्टिकोणो की विवेचना की है। इसी दृष्टिकोण को फ्रेजर ने विकसित किया। फ्रेजर का कहना था कि जादू को धर्म से पृथक् करना चाहिए। वास्तव मे, जादू और धर्म समाज के विकास को बताते हैं। फ्रेजर ने टाइलर के विपरीत जादू को धर्म मे सम्बन्धित समझा और यह बताया कि धर्म से पहले जादुई विश्वास प्रचलित थे। इमाइल दुर्खीम ने धर्म और जादू को और आधारो पर पृथक् किया है। उनका कहना है कि जादू के लिए कोई धार्मिक सम्प्रदाय नही होता जबकि धर्म सम्प्रदायों से बना है। दूसरा, जादू समाज की सुदृढता मे योगदान नहीं देता जबकि धर्म

सामाजिक सुदृढता का बहुत बड़ा आधार है। दुर्खीम ने दुनिया की सभी वस्तुओं को दो भागों में बांटा है—पवित्र (Sacred) और साधारण (Profane)। वे वस्तुएँ जो सम्मानित हैं, पूजनीय हैं, पवित्र कहलाती हैं और जो वस्तुएँ इस श्रेणी में नहीं आती, प्रोफेन है। दुर्खीम ने जादू को पवित्र वस्तुओं की इस श्रेणी में नहीं रखा है। लूसी मेयर लिखते हैं कि उसने (दुर्खीम) कहा है कि जादू का कोई धर्म नहीं होता, इसका प्रयोग एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लाभ के लिए करता है। धर्म एक सामाजिक शक्ति है जो लोग अनुष्ठानों (Rituals) में भाग लेते हैं, वे समाज द्वारा निर्धारित सीमाओं को मानते हैं। जादू समाज विरोधी है। लोग व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसका प्रयोग करते हैं। मेलिनोस्की जादू के प्रति दुर्खीम के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार जादुई क्रियाएँ बहुत अर्थों में धार्मिक क्रियाओं की तरह हैं। उनके विचार से इन दोनों (जादू एवं धर्म) में बहुत अधिक समानता है। मेलिनोस्की का आनुभाविक अध्ययन बताता है कि धर्म और जादू दोनों की उत्पत्ति मनुष्य की संवेगात्मक आवश्यकताओं से हुई है। जब आपत्ति के बादल सिर पर मँडरा रहे हों, जब रास्ता धूमिल और बोझिल हो तो मनुष्य जादू और धर्म की ओर देखता है। अतः उत्पत्ति की दृष्टि से जादू और धर्म एक ही स्थिति से चले हैं।

दुर्खीम ने जादू को 'पवित्र' (Sacred) क्षेत्र से बाहर समझा। मेलिनोस्की के विचार से धर्म और जादू में कहीं अधिक साम्य है। हम अपने सामान्य ज्ञान से दैनिक जीवन में काम में आने वाली वस्तुओं के जो लक्षण जानते हैं, उनसे जादू का कम सम्बन्ध है। मेलिनोस्की (Malinowski) ने इस बात का विरोध किया कि धर्म और जादू की उत्पत्ति कल्पना की उपज है। उसका मतलब था कि मनुष्य व्यावहारिक अनुभव के बाहर के क्षेत्र में नए सवाल नहीं उठाता, जिसमें इस बात की जानकारी नहीं है कि आगे क्या किया जाए। उसके अनुसार जादू और धर्म दोनों भावात्मक आवश्यकताओं से उत्पन्न होते हैं। उसके द्वारा मनुष्य उन स्थितियों का सामना करता है, जिन पर उसका अधिकार नहीं है अर्थात् वे उसके अधिकार से परे हैं। जादू तकनीकों का पूरक है। नाव को तेज चलाने के लिए, ऐसी समस्याओं को सुलझाने के लिए जिनके लिए उचित तकनीक मालूम नहीं, जैसे किसी युवक के द्वारा अपनी प्रेमिका का प्रेम प्राप्त करने के लिए, इसे काम में लाया जाता है। जादू के विशेष उद्देश्य होते हैं। इसके विपरीत धार्मिक क्रिया के अपने उद्देश्य हैं। यह अनियन्त्रणीय जगत् का सामना करने में मनुष्य को आश्वासन देता है। मेलिनोस्की के अनुसार किसी मनुष्य की मृत्यु पर समाज के बिखर जाने की आशंका हो जाती है। जब मेलिनोस्की ने कहा था कि धार्मिक कृत्य द्वारा भावनाएँ जागृत होती हैं और यही उनका उद्देश्य है तो वह दुर्खीम के विचारों से दूर नहीं था, पर उसके ध्यान में विश्वास और आशा की भावनाएँ थीं, जबकि दुर्खीम सामाजिक दायित्व के विषय में सोच रहा था। मेलिनोस्की के अनुसार धर्म समाज में मनुष्यों की समग्र आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। शायद दुर्खीम इन्हीं शब्दों को दुहराता, पर उसका तात्पर्य अलग होता। मेलिनोस्की

दुर्खीम के सिद्धान्त 'सामूहिक प्रतिनिधित्व' की आवश्यकता समझता था। यह ऐसा विश्वास था जिसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था कायम रहती है। लेकिन उसके लिए धर्म का प्रधान महत्त्व यह था कि उससे मनुष्य को संसार का सामना करने, विशेषत मृत्यु की अनिवार्यता का सामना करने के लिए साहस मिलता था।

लूसी मेयर ने लिखा है कि अधिकांश मानवशास्त्री जादू और धर्म को एक जाति की क्रियाएँ मानना प्रगति का प्रतीक मानते थे। पहले के लेखक जादू को एक निम्न कोटि की चीज समझते थे। पर किसी भी समाज में आनुष्ठानिक क्रियाओं को दो वर्गों में बाँटना सम्भव नहीं हो सका है। ईसाई जो क्रॉस का चिह्न बनाकर बुराई को दूर करते हैं या वर्षा के लिए प्रार्थना करते हैं या इस विश्वास को कि राजा को भगवान के रास्ते पर चलना चाहिए, हम क्या कहेंगे? यह शब्द और ये कृत्य किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। आस्था रखने वाले व्यक्ति अपने लाभ के लिए प्रार्थना करते हैं। हो सकता है कि वह लाभ सारे समुदाय के लिए अनुकूल न हो। यदि वे ऐसा करते हैं तो समाज विरोधी काम कर रहे हैं, जो दुर्खीम के अनुसार जादूगर का क्षेत्र है। यह सम्भव है कि जिस धर्म में जादू की निन्दा की जाती है, वहाँ लोग व्यक्तिगत रूप से भगवान की पूजा करें। विशिष्ट दुर्घटनाओं से बचने के लिए लोग यज्ञ करते हैं, खासकर बीमारियों से बचने के लिए। यह प्रथा संसार के अनेक भागों में प्रचलित है। बहुत से लोग कहते हैं कि इसे धार्मिक न समझकर जादू की बात समझना भाषा की हत्या करना है।[1]

किसी समाज पर जादू का प्रभाव वस्तुओं के ठीक ठीक प्रयोग पर निर्भर होता है। शब्दों का उच्चारण एवं अन्य समस्त क्रियाएँ भी ठीक प्रकार से होनी चाहिए। यह पारलौकिक प्राणियों की सहायता के बिना होना चाहिए। जादू के बहुत से मन्त्रों में पूर्वजों के नाम दिए रहते हैं और कुछ में खास तौर से उनका आह्वान किया जाता है। क्या उससे वे प्रार्थना के निकट नहीं आ जाते?

यह देखकर कि दुर्खीम ने धर्म के क्षेत्र से जादू को अलग कर दिया था और मेलिनोस्की ने उसे सम्मिलित किया था, लीच (Leach) ने यह विरोध दूर करने की कोशिश की तथा जादू और धर्म की परिभाषा न देकर अनुष्ठानों की परिभाषा दी। इसके पहले मानवशास्त्रियों का अनुष्ठान से तात्पर्य उन औपचारिक और क्रमबद्ध क्रियाओं से था, जो धार्मिक या जादुई प्रसंग में की जाती थीं। दुर्खीम के अनुसार लिट्यूरजी (Liturgy) को ईसाई अनुष्ठान मानेंगे, पर जादुई क्रियाओं को अनुष्ठान का स्थान नहीं देंगे। मेलिनोस्की ने बार-बार यह कहा कि जादू में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व क्रिया एवं सम्मोहन और कर्त्ता की दशा है। जो क्रियाएँ धर्म से सम्बन्धी नहीं थीं, उन्हें सामूहिक रूप से समारोह कहा जाता है। इस प्रकार रानी का राज्याभिषेक अनुष्ठान कहा जाएगा और संसद् का सभारम्भ,

1 लूसी मेयर : सामाजिक विज्ञान की भूमिका, पृ 202.

जिसमें प्रार्थना भी शामिल है, समारोह माना जाएगा। इन शब्दों के प्रयोग में यह विचार निहित है कि अनुष्ठान या समारोह दोनों के कोई प्राविधिक परिणाम नहीं होते।

अपनी इसी कृति में लूसी मेयर ने आगे लीच (Leach) का उदाहरण दिया है। वे लिखते हैं कि लीच और अन्य लोगों ने इस वर्गीकरण में कठिनाई का अनुभव किया है। अपने वैज्ञानिक प्रशिक्षण से मानवशास्त्री जानता है कि भाग लेने वालों के मन के सिवा इन क्रियाओं का और किसी चीज पर प्रभाव नहीं पड़ता पर सम्मिलित होने वाले लोग यह अन्तर नहीं कर सकते। वे इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि जादू के कारण नाव तीव्र गति से चलती है ठीक उसी प्रकार जैसे सही लकड़ी के प्रयोग से वह पानी के ऊपर तैर सकती है। लीच ने यह भी लिखा है कि ऐसी क्रियाएँ, जिन्हें दुर्खीम बिना झिझक पवित्र एवं साधारण वर्ग में रखता, उनके कोई भी तत्त्व उसकी सफलता में योगदान नहीं करते। उसका व्यवहार करने वाले भी ऐसी आशा नहीं रखते। ऐसी अनावश्यक चीजें प्राविधिक कार्यकलापों में इसलिए जोड़ दी जाती हैं कि सदा से ऐसा होता आया है। वह यह दिखाने का प्रयास करता है कि उनके कर्त्ता एक ही संस्कृति के अन्तर्गत हैं। इस तर्क का आशय यह है कि जादू एक वैज्ञानिक कार्यकलाप है। इसका प्रयोग करने वाले ऐसा ही सोचते हैं। सभी गैर प्राविधिक कार्यकलाप अपने कर्त्ता की सामाजिक प्रस्थिति व्यक्त करते हैं और इन सब क्रियाओं को अनुष्ठान की संज्ञा देते हैं। कार्यों को प्राविधिक और आनुष्ठानिक वर्गों में विभक्त करना कठिन है। ये दोनों शब्द सब कार्यों के पहलुओं का वर्णन करते हैं। विभिन्न कार्यों में कोई एक पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। उसके अनुसार अनुष्ठान और प्रविधि में वही विरोध है, जो दुर्खीम के पवित्र (Sacred) और साधारण (Profane) में है।

इस प्रकार दुर्खीम का तर्क पवित्र के विशिष्ट अर्थ पर ही निर्भर है। धर्म उसी से सम्बन्धित है। यदि पवित्र या साधारण में अन्तर नहीं किया जा सकता, तो दुर्खीम का शब्दजाल बेकार है। यदि लीच का यह मतलब है तो साधारण का कोई प्रयोजन नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि लोग इसमें अन्तर नहीं करते। लीच धर्म की परिभाषा नहीं देते हैं। जिस पुस्तक में उन्होंने अपने विचारों का प्रतिपादन किया है, उसमें प्रेतों के एक यज्ञ का वर्णन है। इस यज्ञ की क्रियाओं में से वह सिर्फ प्राविधिक क्रियाओं को ही अलग करके उनका वर्णन करता है। वह जानवरों को मारने, पकाने और खाने का वर्णन करते हैं। इसके साथ ही वह अनुष्ठान के उस भाग का भी विवरण करते हैं जिसमें यह दिखाया गया है कि प्रेतों की श्रेणीबद्धता उनकी पूजा करने वालों की श्रेणीबद्धता से मेल खाती है। इसमें यह विचार निहित है कि प्रेतों के प्राप्त निवेदित होने से ही यज्ञ एक धार्मिक कृत्य बन जाता है। वह मानता है कि इससे सम्बद्ध कितनी ही गैर-वैज्ञानिक क्रियाएँ हैं, पर उनका वर्णन नहीं करता।

लीच (Leach) जिस क्षेत्र की परिभाषा दे रहा है, वह धर्म से कहीं विस्तृत है। साथ-साथ लीच यह भी मानते हैं कि धर्म पूर्णतः उसके दायरे में नहीं आता।

वह अनुष्ठान की परिभाषा देते हैं, उसकी व्याख्या नही करते कि इसे ही अनुष्ठान कहना उपयोगी होगा। अधिकांश मानवशास्त्रियो ने लीच की परिभाषा को उपयोगी नही समझा है। हाल मे यह कहा गया है कि लीच के कथनानुसार धर्म सामाजिक संरचना के विषय मे उक्तियाँ प्रस्तुत करता है। यद्यपि यह आरोप न्यायोचित नही है।

लीच द्वारा दी गई परिभाषा की समस्या पर उनके कैम्ब्रिज के सहयोगी जे आर गुडी (J. R. Goody) ने अपने विचार प्रकट किए हैं। गुडी के विचार मे धर्म और जादू के बीच दुर्खीम ने जो अन्तर किया है कि धर्म सामाजिक है और जादू व्यक्तिगत, वह सदा अथवा शायद कभी नही किया जा सकता। यह सच है कि हम ऐसी क्रियाओ को जादू समझने के आदी हैं, जो एकान्त मे की जाती हैं, समूह मे नही। किसी समाज मे जादू की प्रभावोत्पादकता उसे सामूहिक प्रतिनिधित्व (Collective Representation) का रूप दे देती है। समाज के सदस्य उसे मानते हैं और इस अर्थ मे जादू का भी सामूहिक रूप हो जाता है। क्रियाओ के साथ जो विश्वास जुडे हैं, उन्हे जादू कहा जाता है। जिन विश्वासो को धर्म कहा जाता है, उनमे और जादू मे विरोध नही है और दोनो मिलकर एक सम्पूर्ण इकाई है। गुडी का तर्क यह है कि जिन कार्यों को दुर्खीम ने धार्मिक समझा, जो लोगो को एकत्र कर एक सूत्र मे बाँधते हैं, वे जरूरी नही कि धार्मिक हो, वे समारोह हैं। बडे पैमाने पर समारोहो के अन्तर्गत सिर्फ आस्ट्रेलिया मे टोटमी अनुष्ठान नही आते, बल्कि फ्रांस मे बेस्टील दिवस के गैर धार्मिक उत्सव भी आते हैं।

दुर्खीम ने वस्तुओ का ऐसा कोई वर्ग निश्चित करने का प्रयत्न नही किया, जो सभी जगह पवित्र माने जाएँगे। इसके विपरीत उसने कहा था कि पवित्र क्या है, यह धर्म विशेष पर निर्भर है और जगह-जगह इसमे अन्तर होता है। इस दृष्टिकोण के कारण पवित्र वस्तुओ के वर्ग से ऐसे तत्वो को अलग करना कठिन हो गया, जो अलग किए हुए और निषिद्ध थे। गुडी का कहना है कि रात और दिन मे जो विरोध है, उसे पवित्र और साधारण मे विरोध के अनुरूप ही मानना चाहिए। गुडी ने उत्तरी घाना की लो डागा (Lo Dagaa) नामक जाति मे पवित्र एव साधारण मे कोई निश्चित विरोध नही पाया।

तकनीक और अनुष्ठान मे लीच का विभेद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि अनुष्ठान बातें करते नही बातें कहते है। टाल्कॉट पार्सन्स (Talcott Parsons) और रेडक्लिफ ब्राउन (Redcliffe Brown) की भी यही धारणा है। पर वे कहते क्या है? लीच के अनुसार उनका तात्पर्य प्रस्थिति और प्रस्थिति-जन्य सम्बन्धो से है। जिन मानवशास्त्रियो ने इसका अध्ययन किया है उनका कहना है कि अनुष्ठान का यह सबसे कम महत्वपूर्ण तत्व है। फिर हम कैसे निश्चित करें कि वे क्या कहते हैं? मोनिका विल्सन ने न्याक्यूसा (Nyakyusa) जाति मे अनुष्ठानो का वर्णन किया है। उसने अपने उत्तरदाताओ के शब्दो को भी लिखा है। वह उनके प्रतीक का कोई ऐसा निर्वचन नही दे सकी, जिसमे उसके विचार मिले हों।

गुडी इस विचार से सहमत है। साथ ही उसका कहना है कि कई जातियो मे धर्म के क्षेत्र को परिसीमित करने के कोई विश्वव्यापी सिद्धान्त नही हैं, इसलिए

हम स्वयं ही सिद्धान्त निश्चित करने होंगे। अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा विधि के क्षेत्र मे भी हम यही करना पड़ा है। लीच का तकनीकी और आनुष्ठानिक कार्यों का विभेद, दुर्खीम के पवित्र एवं साधारण भेद से भिन्न है। एक प्रेक्षक के रूप मे, अपने सामान्य वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा, हम यह देख सकते हैं कि उन कार्यों में कौन अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है और कौन नहीं। पर इसी आधार पर मानवशास्त्रियो ने धार्मिक को दैनिक जीवन के क्षेत्रो से अलग किया है। जीवन का एक ऐसा भी पहलू है, जिसमें लोग उन लक्ष्यो को प्राप्त करना चाहते हैं, जो या तो मानव प्रयत्नो के द्वारा प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं अथवा उन साधनो द्वारा प्राप्त नहीं हैं, जिनका प्रयोग किया जाता है। इसलिए वे ऐसे प्राणियो और शक्तियो की सहायता लेते हैं, जो प्रकृति से बाहर हैं, और इसलिए उन्हे पारलौकिक कहा जाता है। इस क्षेत्र के कार्यकलापो मे जादू और धर्म दोनो ही आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुडी ऐसे सिद्धान्तो को नहीं मानता, जो धार्मिक और जादुई कार्यों मे कर्त्ताओं की संवेदनात्मक अभिवृत्तियो पर जोर देते हैं। उसने तथा अन्य लोगो ने संकेत किया है कि अनुष्ठान दकियानूसी तरीके से सम्पन्न किए जाते हैं। जिन लोगो ने अनुष्ठान के प्रतीक का विवेचन किया है, उनका कहना है कि जो लोग उसे मानते है, उनकी भावनाओं और इच्छाओं को व व्यक्त करते हैं। बीटी का विचार है कि इसका अभिव्यंजनात्मक रूप उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितने उसके व्यावहारिक परिणाम।

जादू एवं धर्म मे अन्तर
(Difference between Magic and Religion)

साधारण लोगो मे जादू और धर्म के अन्तर के बारे म यह सामान्य मान्यता है कि वे उसे जानते हैं और यह सामान्य धारणा ठीक भी है। संक्षेप म कहा जा सकता है कि यह भेद प्राणियो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने मे और शक्तियो के मनानुकूल परिचालन म है। जहाँ सम्बन्ध स्थापित करने का विचार प्रबल है, वह क्रिया धार्मिक है और जहाँ इच्छानुकूल परिचालन का विचार है, वह क्रिया जादुई है यद्यपि शक्तियो के साथ सम्पर्क स्थापित करने की कल्पना करना कठिन है, प्राणियो को मनोनुकूल करने के बहुत प्रयत्न होते हैं।

दूसरे प्रकार से यह कहा जा सकता है कि सम्प्रेषण या संचार के द्वारा ही मूर्त तत्त्वो से वर्तन किया जा सकता है। बीटी का कथन है कि लोग अपनी धार्मिक रुचियो को मूर्त रूप इसलिए दे देते हैं, जिससे वे यह अनुभव कर सकें कि उनसे सम्प्रेषण सम्बन्ध किया जा सकता है। हार्टन का कहना है धार्मिक क्रियाएँ इन मूर्त प्राणियो के वश म करने या अपने पक्ष मे करने के प्रयत्न हैं, जैसे किसी मानव के साथ किया जाता है। उदाहरण के लिए, बलि के द्वारा प्रति उपहार देने के लिए उन्हे विवश करना। जैसे हम मानव की प्रतिक्रिया देख सकते हैं, वैसे देवता की प्रतिक्रिया नहीं देख सकते। यदि फल नहीं मिलता तो दूसरा प्रयत्न करके यह आशा की जाती है कि इस बार सफलता मिलेगी। इसीलिए देवताओं के प्रति दृष्टिकोण

निश्चित रूप धारण कर लेते हैं या आनुष्ठानिक हो जाते हैं। अत हार्टन का कथन है कि धर्म मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो का मानव-समाज की सीमा के बाहर विस्तार है। यह धर्म की व्याख्यात्मक परिभाषा है। इससे यह पता नही चलता कि धर्म को उन तत्त्वो से कैसे अलग किया जा सकता है, जो धर्म से परे हैं। यदि यह धर्म का पूरा विवरण है तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हार्टन धर्म और जादू में यह अन्तर करते हैं कि जादूगर मूर्त प्राणियो से सम्बन्ध स्थापित नही करता। वस्तुत हार्टन का सम्पूर्ण तर्क 'देवता' के सन्दर्भ मे है।

मजूमदार एव मदान ने भी इन दोनो मे अन्तर करते हुए लिखा है कि जादू और धर्म के बीच कुछ अन्तर भी है। जादूगर अपना कार्य एकान्त मे (गोपनीय या रहस्यमय ढग से) करता है। उसके अनुयायी आपस मे एक-दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं। धर्म का सम्पादन जनता के बीच खुले तौर पर और सामूहिक रूप मे होता है। इसका एक सामुदायिक पक्ष होता है। जादूगर और पुजारी दोनो ही लोक और परलोक के बीच मध्यस्थता करते हैं। जादूगर से जहाँ जनता डरती है, वही पुजारी जनता का सम्मान प्राप्त करता है। पहले को अहितकारी और दूसरे को हितकारी माना जाता है।[1]

मजूमदार एव मदान आगे लिखते हैं कि फिर भी, जादू और धर्म, अनुकूलन के उपकरणो के रूप मे अपनी भूमिका की दृष्टि से, परस्पर काफी निकट हैं। मनुष्य की सामान्य दक्षता और क्षमता जब जवाब दे देती है तब वे दोनो उसके सहायक सिद्ध होते हैं। जैसा कि मेलिनोस्की ने बताया है, यो तो ट्रोब्रियण्ड द्वीपवासी नावें और फेरियाँ बनाने मे पूर्णत दक्ष कारीगर हैं, इनके निर्माण का परिपूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान रखते हैं, और जानते है कि किस नौका को कैसा आकार दिया जाना चाहिए, कौन-सी नौका कैसे तैरती है और कब डूब सकती है, आदि किन्तु इतना विज्ञान जान लेने के बाद भी वे यह नही समझ पाते कि किसी क्षण उठ खडा होने वाला तूफान कहाँ से आता है और क्यो कोई विशेष नौका डूब जाती है। इस तरह, वैज्ञानिक तक्नीकोत्तर स्तर पर ही जादू और धर्म का प्रवेश होता है। इस प्रकार के दुहरे सत्य का सिद्धान्त स्थापित करने के कारण मेलिनोस्की की काफी आलोचना भी की गई है।

इन दोनो मे एक अन्य अन्तर यह किया जा सकता है कि जादू और धर्म दोनो ससार के रहस्यो से ओत-प्रोत हैं। किन्तु जहाँ धर्म की व्याख्या प्रेतात्माओ और देवी-देवताओ के सन्दर्भ मे होती है, वही जादू की व्याख्या शक्ति (फोर्स) के सन्दर्भ मे। तथापि जादूगर और पुजारी की भूमिका का निर्वाह कभी-कभी एक ही व्यक्ति करने लग जाता है।

जादू की कला और कई धार्मिक कर्मकाण्डो की अभिप्राय सम्मोहनीयता को मन्दिर का स्थापत्य, मद्धिम प्रकाश एव धूप-अगरबत्ती की सुवास, पुजारी का

1 मजूमदार एव मदान : पूर्वोक्त, पृ 142.

परिधान और प्राचीन या अज्ञात भाषा में उच्चारित लय ताल-युक्त स्तुतियाँ आदि परिवद्धित करती हैं।

जादू एवं धर्म दोनों की प्रणाली कर्मकाण्डीय (Ritualistic) है। इनका सम्पूर्ण सयोजन पारम्परिक विधान द्वारा नियन्त्रित रहता है। इसका यथातथ्य अनुपालन करना पडता है। अन्यथा, धार्मिक रीति की कार्यक्षमता समाप्त हो जाती है। दोनों के बीच भेद का आवरण वस्तुत बहुत भीना है। शब्दों के किंचित् हेर-फेर से एक जादुई फार्मूला धार्मिक प्रार्थना मे बदल सकता है।

जादू प्राय तावीजवाद (जड पूजावाद) से भी सम्बद्ध होता है। इस विश्वास के अनुसार कतिपय पदार्थों मे शक्ति निहित मानी जाती है। यह शक्ति विभिन्न कठिनाइयों के समय मनुष्य की सहायता करती है, या उसकी मनोकामनाओं को पूरा करने मे सहायक होती है। इन्हें सामान्यत तावीज कहा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जादू एवं धर्म यद्यपि आपस मे अन्तर्सम्बन्धित हैं परन्तु फिर भी दोनों मे पर्याप्त अन्तर है। सामान्यत सभी प्रकार के समाजों मे जादू की अपेक्षा धर्म को अधिक श्रेष्ठ समझा गया है। आदिम ही नहीं, अनेक सभ्य समाजों मे भी जादू के स्थान पर धर्म को अधिक महत्त्व दिया जाता है।



6

भारत में जनजातियों की स्थिति

(Tribal Situation in India)

भारतीय समाज एवं संस्कृति के निर्माण मे जनजाति अथवा आदिवासी संस्कृति मे अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। यद्यपि जनजातीय समूह हमारे राष्ट्र के सबसे अधिक पिछड़े हुए वर्ग मे रखे जाते हैं। विश्व मे जनजातियो के वितरण की दृष्टि से भारतवर्ष मे जनजातीय जनसंख्या किसी भी राष्ट्र से सर्वाधिक है। जनजातियो को भारतीय समाज मे अनेक विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। मानवशास्त्रियो ने भी जनजातियो के लिए विभिन्न नामो का प्रयोग किया है। अनेक मानवशास्त्री इन्हे 'वन्य जातियाँ' या 'वन-वासी' के नाम से पुकारते हैं।[1] इसका प्रमुख कारण यह है कि इस समूह के लोग प्रायः वनो मे रहते हैं। अनेक लोग जनजातियो के लिए 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग करते हैं। रिजले, रॉबर्ट, मार्टिन, ए वी. ठक्कर, सैंजविक आदि ने इन्हे आदिवासी के नाम से पुकारा है। आदिवासी कहे जाने का मूल कारण यह था कि ये समूह राष्ट्र मे सर्वप्रथम बसने वाले समूह हैं। जे. एच हट्टन ने इन्हे 'आदिम जातियाँ' कहा है। इसका आशय भी यही है कि यह समूह बहुत प्राचीन है। डॉ जी एस घूर्ये ने इन्हे 'तथाकथित आदिवासी' एवं 'पिछड़े हुए हिन्दू' का नाम दिया है। डॉ. घूर्ये ने ही बाद मे इनके लिए 'अनुसूचित जनजातियाँ' (Scheduled Tribes) नाम प्रस्तावित किया था जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अनुसार स्वीकार किया गया। अंग्रेजी शब्द 'प्रिमिटिव' (Primitive) के लिए 'नॉन-लिटरेट' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। गिसबर्ट ने प्रिलिटरेट (Preliterate) (प्राक साक्षर) शब्द का प्रयोग किया है, जिसका प्रयोग काफी समय पूर्व स्वर्गीय श्री वैरियर एल्विन ने भी किया था। एल. एम. श्रीकान्त के अनुसार जनजातियाँ भारतवर्ष मे विभिन्न समयो मे अलग-अलग नामो से जानी गई हैं, जैसे अरण्यक, रानीपरज, आदिवासी।

इससे पूर्व कि हम भारत मे जनजाति की स्थिति का उल्लेख करें जनजाति को परिभाषित कर लेना अधिक उपयुक्त होगा।

1 *Bens :* Census of India, 1891, Vol. I, Part I, p. 158.

जनजाति का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Tribes)

जनजाति शब्द के अनेक अर्थ होने के बावजूद भी वर्तमान मे जनजाति शब्द ही अधिक प्रयुक्त एव सांविधानिक है। भारतीय सविधान के 16वें खण्ड मे कुछ वर्गों के लिए विशेष प्रावधान किया गया है। धारा 330 मे इस बात का उल्लेख किया गया है। ये धाराएँ किन समूहो एव वर्गों पर लागू हुई मुख्यतः सविधान द्वारा प्रदान किए गए ये प्रावधान अनुसूचित जातियो एव अनुसूचित जनजातियो पर लागू होते हैं। धारा 342 मे सविधान मे राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया है कि वह सार्वजनिक सूचना द्वारा उन जनजातियो या जनजातीय समुदायो के हिस्से या समूहो मे इस सविधान के अर्थ के लिए अनुसूचित जनजातियो के नाम से घोषित करेगा। जनजाति की अनेक मानवशास्त्रियो ने भी परिभाषा दी है।

डी एन मजूमदार के अनुसार "कोई जनजाति परिवारो तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है जिनका एक सामान्य नाम है, जिनके सदस्य एक निश्चित भूभाग पर निवास करते हैं, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं तथा विवाह, व्यवसाय के विषय मे कुछ निषेधाज्ञाओ का पालन करते है, जिन्होने एक आदान-प्रदान सम्बन्धी तथा पारस्परिक कर्त्तव्य विषयक एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया है। साधारणतया जनजाति अन्तर्विवाह के सिद्धान्त का समर्थन करती है और उनके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति के अन्तर्गत विवाह करते हैं।"[1]

गिलिन और गिलिन ने अपनी रचना 'कल्चरल एन्थ्रोपोलोजी' मे जनजाति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "स्थानीय जनजातीय समूहो का ऐसा समवाय जनजाति कहा जाता है जो एक सामान्य क्षेत्र मे निवास करता है, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करता है तथा जिसकी एक सामान्य सस्कृति है।"[2]

डॉ रिवर्स ने कहा है कि "यह एक साधारण प्रकार का सामाजिक समूह है जिसके सदस्य एक सामान्य बोली का प्रयोग करते हैं तथा युद्ध आदि जैसे सामान्य उद्देश्यो के लिए सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं।" डॉ रिवर्स ने अपनी परिभाषा मे सामान्य निवास का उल्लेख नही किया है क्योकि अनेक जनजातियाँ खानाबदोशी जीवन व्यतीत करती हैं। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि एक आदिवासी समुदाय की अपनी विशिष्ट भाषा, सस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था, पुराकथा व प्रजाति आदि होती है। अब आमतौर पर प्रत्येक जनजाति एक निश्चित भू-भाग पर निवास करती है, इसे देश के प्राचीनतम लोगो मे से माना जाता है। परन्तु बाहरी आक्रमण से बचने के लिए ये लोग अगम्य प्रदेशो मे शरण लेने को बाध्य हुए। जनजातीय एव गैर-जातीय मे किस प्रकार भेद किया जाए, अर्थात् किस समूह

1 *D. N Majumdar* Races and Cultures of India, p 368
2 *Gillin & Gillin* Cultural Anthropology, p 32

को जनजातीय श्रेणी मे रखा जाए, यह एक विवाद का विषय रहा है। सरकारी कर्मचारी, समाज सुधारक, नृतत्त्वशास्त्री आदि में इस विषय में मतभेद रहा है।

डॉ जी एस घूर्ये ने अपनी रचना 'दि शिड्यूल्ड ट्राइब्स' में यह भेद धर्म, व्यवसाय तथा प्रजातीय तत्त्वो के आधार पर किया है, किन्तु इन्हे इस भेद के लिए पर्याप्त आधार नही माना जा सकता।

प्रोफेसर ए आर देसाई ने "उन जनजातीय समूहो, जो कि अभी तक संस्कृतिकरण एव आत्मसात्मिकरण का विरोध करते आए हैं, के कुछ सामान्य लक्षणो पर प्रकाश डाला है, जो कि एक समय में सभी जनजातियो में पाए जाते थे।" ये सामान्य लक्षण इस प्रकार हैं"[1]—

(1) वे सभ्य जगत् से दूर पर्वतो तथा जगलो में दुर्गम स्थानो में निवास करते हैं।
(2) वे निग्रिटोज, एस्ट्रोलाइड अथवा मगोलाइड मे से एक प्रजातीय समूह से सम्बद्ध हैं।
(3) वे जनजातीय भाषा का प्रयोग करते हैं।
(4) वे आदिम धर्म को मानते हैं जो कि सर्वजीववाद के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है, जिसमें भूतो तथा आत्माओ की पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
(5) वे जनजातीय व्यवसायो को अपनाते हैं, जैसे उपयोगी प्राकृतिक वस्तुओ का सग्रह, शिकार, वन मे उत्पन्न वस्तुओ का सग्रह करना।
(6) वे अधिकांशतया मांसभक्षी हैं।
(7) उनकी खानाबदोशी आदतें हैं तथा मदिरा एव नृत्य के प्रति उनकी विशेष रुचि है।

प्रोफेसर देसाई के अनुसार जनजातीय जनसख्या के केवल 1/5 भाग मे ही अब ये सामान्य लक्षण पाए जा सकते हैं।

नायक ने एक जनजाति के लिए कतिपय निम्नलिखित बातो का होना आवश्यक बताया है, जैसे—

(1) एक जनजाति की समुदाय के भीतर प्रकार्यात्मक अन्तर्निर्भरता होनी चाहिए।
(2) यह आर्थिक रूप से पिछडी हुई होनी चाहिए, जिसका तात्पर्य यह है कि—
    (अ) जनजाति के सदस्य मुद्रा, अर्थव्यवस्था के प्रभाव से अवगत न हो।
    (ब) प्राकृतिक स्रोतो के शोषण के लिए आदिम साधनो को प्रयुक्त करते हो।

1 *Dr A R Desai* Rural India in Transition, p 51-52.

(स) उनकी अर्थव्यवस्था अविकसित हो।

(द) अर्थव्यवस्था विधि आर्थिक गतिविधियो से युक्त हो।

(3) जनजाति के लोग अन्य लोगो की अपेक्षा तुलनात्मक रूप से भौगोलिक पृथक्करण रखते हो।

(4) सांस्कृतिक रूप से एक जनजाति के सदस्यो की एक भाषा/बोली हो, जो कि क्षेत्रीय भिन्नता के साथ-साथ भिन्न हो सकती है।

(5) एक जनजाति राजनीतिक रूप से सगठित हो तथा उसकी पचायत एक प्रभावी सस्था के रूप मे हो।

(6) जनजाति के सदस्य परिवर्तन की न्यूनतम आकांक्षा रखते हो। उनमे अपनी प्राचीन प्रथाओ एवं परम्पराओ को कायम रखने की एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक रूढिबद्धता हो।

(7) एक जनजाति के अपने प्रथागत कानून होने चाहिए तथा उसके सदस्यो पर इन कानूनो का प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पडता हो।

भारत मे जनजातियो का वर्गीकरण
(Classification of Tribes in India)

जनजातियो को अनेक आधारो पर वर्गीकृत किया जा सकता है। इनमे से कुछ प्रमुख आधार भौगोलिक अथवा क्षेत्रीय, भाषाई, प्रजातीय, आर्थिक आदि है विभिन्न विद्वानो ने इन आधारो पर जनजातियो को वर्गीकृत किया है—

(1) भौगोलिक आधार पर जनजातियों का वर्गीकरण
(Classification of Tribes on the Geographical Basis)

भौगोलिक आधार पर भारतीय जनजातियो के वर्गीकृत करने वाले विद्वानो ने डॉ डी एस गुहा, डॉ॰ मजूमदार, डॉ दुबे आदि के नाम प्रमुख हैं।

डॉ डी. एस. गुहा ने जनजातियो को तीन बड़े भौगोलिक प्रदेशो मे बाँटा है—

(1) उत्तरी एवं उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र—जो कि उत्तर मे लेह से लेकर पूर्व मे लुशाई पर्वत तक फैला हुआ है।

(2) मध्यवर्ती क्षेत्र—जो गगा नदी के दक्षिण मे कृष्णा नदी के उत्तर तक फैला हुआ है। नर्मदा तथा गोदावरी नदियो के बीच के पर्वतीय प्रदेश मे अति प्राचीनकाल से जनजातियाँ निवास करती हैं।

(3) दक्षिणी क्षेत्र—कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। दक्षिण प्रदेश की समस्त जनजातियाँ इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। डॉ डी. एन मजूमदार ने भी भौगोलिक आधार पर जनजातियो को उत्तर, उत्तर-पूर्व, मध्यवर्ती तथा दक्षिणी भाग—इन तीन मे विभाजित किया है।

डॉ. एस सी. दुबे ने जनजातीय क्षेत्रो को चार प्रधान भागो मे बाँटा है—

(1) उत्तर और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र—इसमे उन्होने उत्तर प्रदेश के कुमायूँ की भोटिया जनजाति तराई के 'थारू' से लेकर असम की समस्त जनजातियो को सम्मिलित किया है।

(2) पश्चिमी तथा उत्तरी क्षेत्र—पश्चिम क्षेत्र मे पजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र एव गुजरात की जनजातियो को सम्मिलित किया गया है—जैसे राजस्थान के भील, गरासिया, मीणा, बनजारे, गुजरात के डबला, महादेव कोली, कटकरी, वार्ली आदि।

(3) मध्यवर्ती क्षेत्र—यह सर्वाधिक विस्तृत जनजातीय क्षेत्र है। बिहार, उडीसा, मध्य प्रदेश की समस्त जनजातियो को इस क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

(4) दक्षिणी क्षेत्र—इसमे दक्षिणी प्रदेश की जनजातियाँ आती हैं। चूँकि जनजातीय समाज की अधिकाँश समस्याएँ उनकी अर्थ व्यवस्था से सम्बन्ध रखती हैं अत. आर्थिक विकास के आधार पर जनजातियो का वर्गीकरण हमे उनकी आर्थिक समस्याओ से अवगत होने की सहायता प्रदान करेगा।

यहाँ हम कुछ प्रमुख वर्गों को प्रस्तुत करेंगे—

(1) उत्तर पूर्वी क्षेत्र (North East Zone)—उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र मे करीब 44 लाख आदिवासी बसे हुए हैं। ये लोग हिमालय की तराई तथा असम राज्य की इस तराई के समीपवर्ती हिस्सो मे फैले हुए हैं। हिमालय की तराई मे बसी जनजातियो मे सिक्किम की लेप्चा जनजाति का सविस्तार अध्ययन गोरर द्वारा हुआ है। गोरर ने पाया कि इस जनजाति मे ईर्ष्या, स्पर्द्धा, असन्तोष, चचलता एव सघर्ष का लेश भी नही है। इसके अतिरिक्त सुरमा घाटी को ब्रह्मपुत्र से अलग करने वाले केन्द्रीय असम के अतिरिक्त हिस्सो मे रामा, मेचा, काछारी एव मिकिर तथा मेघालय मे गारो और खासी जनजातियो के घर हैं। प्रशासन की दृष्टि से इन्हे विभिन्न इकाइयो मे विभक्त किया गया है। गारो और खासी के अतिरिक्त इस हिस्से की अन्य जनजातियो के बारे मे अधिक जानकारी नही है। इसके अलावा, अरुणाचल प्रदेश मे सुबन श्री नदी के पश्चिम मे आका, दाफला और [illegible] जनजातियाँ बसी हुई हैं। सुबन श्री के ऊपर प्रदेश मे अपातनी जनजाति तथा दिहोग के दोनो किनारों पर अबोर वर्ग की मियो, पगी और परम आदि जनजातियाँ फैली हुई हैं। मिरामी, चूनी काटा, बलेजिया, खामती, सिंगफू आदि [illegible] जनजातियाँ इस प्रदेश मे रहती हैं। इसी हिस्से मे नागालैण्ड नागा जनजाति की भूमि है। उनके प्रदेश का फैलाव पूर्व मे तीरप नदी, दक्षिण मे मणिपुर और पश्चिम मे रेंगमा पहाडियो तक है। नागालैंड के नागाओ मे कोन्यक, रगपात, रोमा, अंगामी, चग और रेंगमा नाम विशेष प्रसिद्ध हैं और इन पर मिल्स, हट्टन जैसे विद्वानो की कितनी ही पुस्तकें हैं।

(2) मध्य क्षेत्र (Middle Zone)—मध्य वर्ग के आदिवासी विंध्याचल, सतपुडा महादेव, मेकल एव अजन्ता के समीपवर्ती हिस्से, हैदराबाद के जगलो से लेकर उत्तर-पश्चिम मे अरावली पर्वत तक फैले हुए हैं। नर्मदा एव गोदावरी के मध्यवर्ती प्रदेश म सबसे अधिक आदिवासी विद्यमान है। केन्द्रीय वर्ग के पूर्वी भाग मे गजाम जिले की सवरा, गडवा और बोण्डो जनजातियाँ, उडीसा की अन्य पहाडियो की कोठ और खाडिया, सिहभूमि तथा मानभूमि की 'हो', छोटा नागपुर के अन्य हिस्सो की सन्थाल, उराँव, मुण्डा, बिरहोर, खारिया टमरिया इत्यादि जनजातियाँ प्रमुख हैं। केन्द्रीय पर्वतीय प्रदेश के पश्चिमी और मध्यवर्ती भाग में प्रमुखत कोल, गोड और भील नामक जनजातियो की घनी आबादी है। बैगा जनजाति प्राय रेला के आसपास केन्द्रित है। बस्तर मे मुरिया और माडिया जनजाति विशेष रूप मे बसी हुई है।

(3) दक्षिणी क्षेत्र (South Zone)—भारत के आदिवासियो का तीसरा प्रधान वर्ग कृष्णा नदी के दक्षिण मे 16 अक्षांश के नीचे वाले हिस्सो म है। इनमे नल्लामलाई पहाडियो के चेंचू, नीलगिरि पहाडियो की टोडा, कोटा, वायनाई की पनियन, इरूला और कुरुम्बा, त्रावनकोर कोचीन पहाडियो की काडर, फलीकर, माल्वदन, माला और कणाडन प्रमुख है। यद्यपि ये जनजातियाँ दक्षिण के पूरे वृहद् प्रदेश मे फैली हैं, तथापि अधिकतर इनकी घनी आबादी दक्षिणी-पश्चिमी हिस्से मे ही केन्द्रित है। इसी क्षेत्र मे भारतीय द्वीप समूहों मे रह रही जनजातियो को भी शामिल किया जा सकता है।

अण्डमान निकोबार द्वीप समूह तो जनजातियो की आबादी के लिए प्रसिद्ध रहा है। आवागमन की असुविधा के कारण अभी यहाँ के आदिवासियो के बारे मे पूरी जानकारी नही हुई है। यहाँ की प्रमुख जनजातियाँ हैं—निकोबारी, ओग, जावरा, शाम्पेन, सेन्ती एव अण्डमानी। लक्षदीव समूह की पूरी मूल जनसख्या जनजाति घोषित है।

(4) पश्चिमी क्षेत्र (Western Zone)—इन तीन प्रमुख क्षेत्रो के अतिरिक्त भारत मे जनजातियो की छिटपुट आबादी कई हिस्सो मे पाई जाती है। राजस्थान मे जनजातियों की काफी आबादी है। इस राज्य म डूँगरपुर जिले मे भीलो की पूरी आबादी है। भील के अलावा कितनी खानाबदोश जनजातियाँ है जो अपने मवेशियो के साथ घूमती रहती हैं। जनजातियो की छिटपुट आबादी हिमालय की तराई मे यहाँ-वहाँ मिलती है। बिहार और उत्तर प्रदेश मे थारू तथा उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश मे खास, गद्दी तका इत्यादि जनजातियाँ हैं।

(2) भाषा के आधार पर जनजातियो का वर्गीकरण
(Classification of Tribes on the Basis of Language)

भाषा की दृष्टि से जनजातियो को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—

1 द्रविड भाषा-भाषी,
2 ग्रास्ट्रो-एशियाटिक (ग्रास्ट्रिक) भाषा-भाषी,
3 तिब्बती-चीनी भाषा-भाषी ।

(1) द्रविड भाषा-भाषी—समूह मध्यवर्ती तथा दक्षिण भारत मे फैला हुआ है । गोड, कन्ध, उरांव, माल्टो और टोडा जनजातियाँ भाषा की दृष्टि से द्रविड परिवार से सम्बन्धित है । मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश तथा हैदराबाद मे गोडी भाषा बोली जाती है । उडीसा मे खोड, बिहार तथा उडीसा म कख्ख अथवा उरांव, बिहार मे राजमहल पहाडियो के आस-पास माल्टो जनजाति की भाषाएँ बोली जाती है । इसके अतिरिक्त इस समूह की अन्य भाषाएँ हैं—मेलर, पोलिया, सओरा, कोया, पनियान, चेंचू, इरूला, कादर, मलसेर तथा मालाकुरवान ।

(2) ग्रास्ट्रो एशियाटिक भाषा मे निम्न जनजातियाँ आती हैं—मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल तथा मुण्डा भाषाएँ, असम मे खासी और निकोबार द्वीप की निकोबारी भाषा को भी इसी भाषा समूह के अन्तर्गत रखा जा सकता है । इसके अतिरिक्त सथाली, कोरकू, सावडा, गदाबा जनजातियो की बोली भी उक्त समूह से सम्बद्ध मानी जाती है । मुण्डारी, हो, खडिया, भूमिज तथा बिहार और असम की अनेक जनजातियो को इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है । मध्य प्रदेश और बरार मे कोरकू, उडीसा मे सवाना (सोरा) तथा गदाबा जनजातियो की बोली भी ग्रास्ट्रो-एशियाटिक भाषा-समूह के अन्तर्गत रखी जा सकती है । अनेक जनजातियो मे मौखिक साहित्य काफी सम्पन्न है तथा कही-कही तो लिपिबद्ध करने का प्रयास भी किया गया है।

(3) तिब्बती-चीनी उद्भव की जनजातीय भाषाएँ—इनमे से अधिकांश बोलियाँ जनसख्या की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नही है । हिमालय की तलहटी तथा असम की अधिकांश जनजातियाँ तिब्बती-चीनी तथा तिब्बती-वर्मी भाषाएँ बोलती हैं । प्रारम्भ मे इन भाषाओ को तिब्बती-चीनी तथा श्यामी-चीन दो भागो मे विभक्त किया गया था परन्तु अमेरिकी विद्वान् रॉबर्ट शेफर ने इन्हे सात शाखाओ मे विभक्त किया है । ये शाखाएँ हैं—

(1) साइनिटिक, (2) मेनिक, (3) बोडिक, (4) गारिक, (5) डाइक अथवा थाई, (6) केरेनिक तथा (7) बर्मी ।

हिमालय के क्षेत्रो, नेपाल तथा दार्जिलिंग मे तिब्बती-बर्मी शाखा का प्रचलन है । खामती के अतिरिक्त सुदूर पूर्वी असम मे बोली जाने वाली अन्य सभी भाषाएँ श्यामी चीनी शाखा के अन्तर्गत आती हैं । शेष असम मे तिब्बती-बर्मी शाखा की बोली का प्रचलन पाया जाता है । उत्तरी असम के सीमान्त पर कुछ तिब्बती बर्मी जनजातियाँ हैं जैसे अबोर, मिरी, डफला आदि ।

इस प्रकार भारतीय जनजातियाँ अनेक भाषाओ से सम्बद्ध हैं । इनकी बोली को जानने का सर्वप्रथम प्रयास ईसाई धर्म-प्रचारको ने किया जो कि धर्म-प्रचार

द्वारा जनजातीय लोगो को ईसाई धर्म मे शामिल करना चाहते थे। अब जनजातीय लोग बाहरी सम्पर्क के परिणामस्वरूप भारतवर्ष की अनेक प्रादेशिक भाषाओ से भी परिचित होते जा रहे हैं। जैसे बगाल मे सन्थाल और मुण्डा क्रमश बगाली और हिन्दी समझ तथा बोल सकते हैं। भोटिया जनजाति के लोग अपनी मूल बोली को करीब-करीब भूल गए है तथा पहाडी (कूर्माचली बोली) और हिन्दी बोलते हैं। इस प्रकार ये जनजातिया सभ्य समाजो की भाषा को अपनाकर अपनी मातृभाषा को भुलाती जा रही है।

(3) प्रजातीय तत्वो के आधार पर जनजातियो का वर्गीकरण
(Classification on the Basis of Racial Elements)

अनेक मानवशास्त्रियो ने भारतीय जनजातियो मे प्रजातीय तत्वो के सम्बन्ध मे अध्ययन करके अपने विचार प्रकट किए हैं जिनमे रिजले, हट्टन, हेडन, डॉ गुहा तथा डॉ॰ मजूमदार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतवर्ष की प्रजातियो के बारे में सवप्रथम हर्बर्ट रिजले ने अपनी रचना 'दि पीपुल्स ऑफ इण्डिया' मे चर्चा की। रिजले ने भारत की प्रजातियो को सात मुख्य भागो मे बाँटा है। इनका कथन है कि सर्वप्रथम भारत मे तीन प्रजातियाँ निवास करती थी जो कि (1) मगोल, (2) द्रविड तथा (3) इण्डो-आर्य के नाम से जानी जाती थी। बाद मे द्रविड तथा इण्डो-आर्य के सम्मिश्रण से इण्डो-द्रविड बन गए तथा द्रविड एव मगोल के सम्मिश्रण से मगोल द्रविड बन गए तथा मगोल की एक अन्य शाखा तथा द्रविड से सिथियन द्रविड बन गए। इसके अतिरिक्त, बलोचिस्तान एव उत्तरी पश्चिमी सीमान्त (जो कि अब पाकिस्तान मे है) मे टर्को-ईरानीय प्रजाति के लोग पाए जाते हैं।

ए सी हेडन ने उपरोक्त वर्गीकरण को अस्वीकार करते हुए भारतीय जनजातियो को 5 भागो मे विभक्त किया, जैसे आदि द्रविड, द्रविड, मगोल, इण्डो आर्य तथा इण्डो-एल्पाइन। हेडन का वर्गीकरण शारीरिक विशेषता, प्रकृति-परिवश, रीति-रिवाज तथा परम्पराओ के आधार पर निर्मित था।

जे एच हट्टन ने भारत की प्रजातियो को 6 मुख्य भागो मे विभाजित किया—

1. निग्रिटा, 2 प्रोटो आस्ट्रेलाइड 3. मेडिटरनियन 4 अल्पाइन, 5 मगोलाइड तथा 6 इण्डो आर्य।

फॉन आइक्स्टेड्ट ने भारतीय जन समाज को तीन समूहो मे विभाजित किया—

1 वेड्डिग समूह
   1 गोंडिड जाति] प्राचीन भारतीय
   2 मेलिग उप जाति]
2. मेलेनिड समूह
   1 मेलेनिड जाति] श्याम वर्ण भारतीय
   2. कोलिड उप जाति]

3 इंडिड समूह

1 इंडिड जाति] नवीन भारतीय

2 उत्तर इंडिड उप-जाति]

वेड्डिग समूह का नाम लका की वेड्डा जनजाति के नाम से पडा है। गोंडिड उप-समूह म गोड, खोड तथा उराँव जनजातियाँ आती हैं। मेलिड समूह के लोग दक्षिण भारत मे पाए जाते है। जनजातियो मे 'सथाल' तथा 'हो' मेलेनिड समूह की कोलिड उप-जाति के सदस्य हैं। गदाबा तथा पानो जनजातियो को भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

डॉ बी सी गुहा ने 1931 मे भारतीय जन-समाज को निम्न प्रजातियो मे वर्गीकृत किया—

1 नीग्रिटो

2 प्रोटोग्रास्ट्रेलाइड

3 मगोलाइड

(अ) पेलियो मगोलाइड—

(क) डोलिको सेफाल्स (लम्बे सिर वाले)

(ख) ब्रेकी सेफाल्स (चौडे सिर वाले)

(ब) टिबेटो मगोलाइड

4 मेडिटरेनियन (भूमध्य सागरीय)

(अ) पेलियो मेडिटरेनियन

(ब) मेडिटरेनियन

(स) ओरियण्टल

5 वेस्टर्न ब्रेकी सेफाल्स (चौडे सिर वाले)

(अ) आल्पिनाइड

(ब) डिनेरिक

(स) आमिनाइड

6 नार्डिक

इनमे से भारतीय जनजातियो की उत्पत्ति प्रथम तीन समूहो नीग्रिटो, प्रोटोग्रास्ट्रेलाइड तथा मगोलाइड से मानी जाती है। भारत की प्राचीन जनजातियाँ नीग्रिटो समूह से सम्बद्ध हैं, जैसे कोचीन के कादर, पलायन, राजमहल पहाडों के आस पास के बागडी, असम के अगामी नागा तथा कुछ अन्य जनजातियाँ इस श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इनका रग काला, नाक चपटी और चौडी, होठ मोटा तथा सिर लम्बा होता है। ये लोग अपने रक्त की कुछ विशेषताओं मे मैलोनेशिया तथा पूर्वी अफ्रीका की नीग्रो जनजातियो से साम्य रखते हैं।

भारतवर्ष के मध्य भाग की जनजातियाँ प्रोटोग्रास्ट्रेलाइड प्रजाति समूह के अन्तर्गत आती हैं। इस समूह की जनजातियो को निषाद कहा जाता है। उत्तर

तथा उत्तर-पूर्व सीमान्त की जनजातियों को मंगो ेद माना जाता है। मंगोल की शारीरिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—हल्के पीले रंग की खाल, नाक चपटी, बाल सीधे, सिर लम्बा, मध्यम कद और अधखुली आँखें। प्रोटोआस्ट्रेलाइड प्रजाति के लोगों का कद छोटे से लेकर मध्यम खाल का रंग काला, सिर लम्बा बाल घुंघराले, नाक छोटी तथा चौडी होती है।

डॉ मजूमदार ने गुहा के उपरोक्त वर्गीकरण को अनुचित बतलाया। उनका कथन है कि हालांकि दक्षिणी एशिया मे नीग्रिटो समूह के लोग पाए जाते थे परन्तु भारत की जनजातीय जनसख्या म इस समूह के लोगो के होने का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नही है। गुहा का सम्पूर्ण वर्गीकरण 2000 व्यक्तियो के मानव मितिक मापो पर आधारित हुआ जो कि सम्पूर्ण देश की जनसख्या को ध्यान मे रखते हुए बहुत कम है। एस सरकार तथा अयप्पन भी इस बात को स्वीकार नही करते हैं कि भारत मे नीग्रिटो प्रजातीय समूह के लोग हैं। यह स्वीकार करना निराधार होगा कि भारतवर्ष की सभी जनजातियों की उत्पत्ति उपरोक्त तीन प्रजातियो से ही हुई है, क्योकि अनेक नृतत्व विज्ञानवेत्ता इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं कि कुछ जनजातियाँ ऐसी हैं जिनकी उत्पत्ति उपरोक्त तीन प्रजातियो से नही जोडी जा सकती है, जैसे नलगिरि की टोडा जनजाति एक ऐसा उदाहरण है जिसका किसी भी प्रजाति से मानवशास्त्री सम्बन्ध नही जोड पाए हैं। फिर भी उपरोक्त वर्गीकरण पर्याप्त महत्वपूर्ण माना जाता है।

(4) आर्थिक विकास के आधार पर जनजातियो का वर्गीकरण
(Classification of Tribes on the Basis of Economic Development)

भाषा एव सस्कृति मे विभिन्नता के साथ-साथ विकास के स्तरो म भी जनजातियाँ विभिन्न अवस्थाओ म रखी जा सकती हैं। उनकी अर्थव्यवस्था अपने आप मे एक विशिष्टता को लिए हुए है। वे अर्थव्यवस्था की विभिन्न अवस्थाओ, जैसे भोजन सग्रह करने की अवस्था से लेकर स्थानान्तरण तथा स्थाई कृषि अवस्था तक म रहती है।

अप्रैल-मई, 1957 मे कोरापुत मे आयोजित चतुर्थ जनजातीय कल्याण सम्मेलन मे पढे अपने भाषण मे डॉ टी सी. दास ने जनजातियो को पाँच भागो म विभाजित किया—

1 खानाबदोश, भोजन सग्रहीता और चरागाही।
2 पहाडी ढालो के स्थानान्तरण कृषक।
3 पठार के तथा पहाड की तलहटी के हल से खेती करने वाले कृषक।
4 जनजातियाँ, जो कि आंशिक रूप से हिन्दू सामाजिक व्यवस्था म लीन हो चुकी हैं।

5. पूर्ण रूप न आत्मसात्कृत जनजातीय समूह, जा कि हिन्दुआ म उच्च सामाजिक पद प्राप्त किए हुए हैं।

डॉ हट्टन ने भारतीय जनजातियो को तीन समूहो म विभाजित किया—

1 वे जनजातियाँ जो वनो से खाद्य सामग्री एकत्रित करती हैं।
2 जनजातियाँ जो चरागाही की अवस्था मे हैं।
3 जनजातियाँ जो कृषि कार्य, शिकार, मछली मारना तथा उद्योगो पर जीवन यापन करती हैं।

मजूमदार तथा मदान ने आर्थिक दृष्टि से भारतीय जनजातियो को निम्न प्रकार से विभाजित किया है—

(1) भारतीय जनजातियो का एक बडा भाग वनो पर निर्भर करता है। इनमे से अधिकाँश जनजातियाँ वन-प्रदेशो मे तथा उनके निकट निवास करती हैं। भोजन जमा करना ही इनकी अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। कोचीन के कादर, ट्रावनकोर के मालापन्तारम, मदुरा के पालयान, वाइनाड के पनियान, हैदराबाद के चेंचु बिहार के बिरहोर, मयूरभंज, सिंहभूमि तथा मानभूम के पहाडी खडिया जनजाति के लोग इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। ये जनजातियाँ नाममात्र को कृषि कार्य करती हैं, और यह कृषि भी स्थानान्तरण-कृषि है।

(2) दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वह जनजातियाँ आती हैं जिनको अर्थ-व्यवस्था भोजन सग्रहीता तथा आदिम कृषि व्यवस्था के प्रकारो के बीच की है। कमार, बैगा तथा विशन पहाडी के रेड्डी जनजाति के लोग इस व्यवस्था के अन्तर्गत आते है।

(3) तीसरी श्रेणी मे जनसख्या का वह बहुत बडा भाग आता है जो कि किसी न किसी प्रकार की कृषि पर आश्रित होने के साथ-साथ निकट के जगलो मे वन्य उत्पादक वस्तुओ का संचय भी करता है। उत्तरी-पूर्वी भारत की जनजातियाँ अधिकांशतया इस श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इसके अतिरिक्त भारत के मध्यवर्ती प्रदेशो मे रहने वाली अनेक जनजातियाँ इस श्रेणी मे रखी जा सकती है। तीसरी श्रेणी की जनजातियो को दो उप श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है—

(अ) स्थानान्तरण कृषि करने वाली जनजातियाँ, जैसे मुडिया, माडिया, कोरवा, साउडा, गारो आदि।

(ब) स्थायी कृषि वाली जनजातियाँ, जैसे गोंड, उराँव, थारू, मुण्डा, भील, कोटा, परजा, भटरा इत्यादि।

(4) चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत उन जनजातियो को रखा जा सकता है जो कि उद्योगो की ओर आकर्षित हुई हैं। विशेष रूप से बिहार, बगाल तथा असम की जनजातियाँ अपने परम्परागत व्यवसायो को छोडकर औद्योगिक प्रतिष्ठानो म कार्य की तलाश मे आने लगी हैं। सन्थाल, हो, मुण्डा, असुर, भुइया, आदि जन-

जातियों के लोग औद्योगिक श्रमिक के रूप में कार्य करने के लिए शहरी क्षेत्रों की ओर आते हैं।

डॉ मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'दि रेसेस एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया' में विभिन्न जनजातियों के आर्थिक स्तर का उल्लेख निम्न तालिका के रूप में किया है।[1]

जनजातियों का आर्थिक स्तर

स्थान	शिकार एवं खाद्य संचय की व्यवस्था	स्थानान्तरण, पेड़ काटना, निर्माण, इत्यादि	स्थायी कृषक (जो जानवरों को पालते हैं), मुर्गी पालन, कपड़ा बुनना, बर्तन निर्माण, आदि
उत्तर प्रदेश	राजी	कोरवा, सहरिया, मुइया, खारवार	थारू, मजही, बिण्ड, बोक्सा, खस, कोल
बिहार	खड़िया, बिरहोर	कोरवा, असुर	मुण्डा, हो, तमारिया, उरांव
बंगाल	कुकी	गारो, माल पहाड़िया	पोलिया, संथाल
मध्य प्रदेश	हिलमाडिया	मूरिया, दण्डामी, माडिया, गोंड,	परजा, भारत
असम	कुकी, कोनयक, नागा	नागा, गारो	खासी, मनीपुरी
मद्रास	कोया, कोन्टारेड्डी, पानियान, कादर, हिलपान्तराम	कोड, कुरूबा, गोंड सोरा, मुण्डावान	बदागा, कारा, इरूला, परजा
उड़ीसा	ज्वांग	सोरा	—
महाराष्ट्र	—	—	भील, गोंड

वर्तमान समय में सचार एवं आवागमन के साधनों का विकास होने के साथ-साथ जनजातियों का अन्य लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित हो गया है और वे अपने परम्परागत व्यवसायों पर ही आश्रित न होकर अन्य नए व्यवसायों को अपनाने लगे हैं। शिक्षा के प्रसार ने जनजातीय लोगों को विभिन्न व्यवसायों में प्रवेश पाने के योग्य बना दिया है जैसे-अध्यापक, डॉक्टर, इन्जीनियर व अन्य राजकीय पदों को प्राप्त करने के लिए ये लोग वांछित योग्यता प्राप्त करने लगे हैं। अतः किसी एक जनजाति को व्यवसाय विभाजन की एक निश्चित श्रृंखला में रखना कठिन है क्योंकि परम्परागत व्यवसाय के साथ साथ अन्य व्यवसाय भी ये लोग अपनाने लगे हैं। जैसे भोटान्त प्रदेश की महिलाएँ जो कि कपड़ा बुनने व दरी-कालीन बनाने एवं काढ़ने में निपुण मानी जाती हैं, अब विद्यालयों में प्राप्त

1 *Dr. D N. Majumdar* : Quoted from H. C. Upreti op. cit, p. 14

टीचर हो गई हैं तथा लघु उद्योगो मे कार्य करने लग गई हैं। इस प्रकार नौकरी के साथ-साथ अवकाश के समय घर म बुनने व काढने का कार्य करने से उनकी आय म वृद्धि हो जाती है। इसके साथ ही साथ भोटिया लोग भेडो को पालते है, उनमे सामान ढोकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाते है व वस्तु विनिमय-प्रथा को निभाते है जो कि इनका परम्परागत व्यवसाय रहा है। ये लोग खाना-बदोशी जीवन भी व्यतीत करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपरोक्त व्यावसायिक वर्गीकरण अब कठोर रूप मे नही रह गया है। वस्तु-विनिमय की व्यवस्था का अब धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है। फिर भी उपरोक्त वर्गीकरण को मोटे तौर पर स्वीकार किया जा सकता।

(5) विकास के स्तर के आधार पर जनजातियो का वर्गीकरण

(Classification of Tribes on the Basis of Level of Development)

आदिवासियो को विकास के विभिन्न स्तरो पर रखा जा सकता है। ग्रामीण तथा नागरीय समूहो से दूरी के आधार पर उन्हे विभिन्न अवस्थाओ मे वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ जनजातियाँ सभ्य जातियो के अधिक निकट सम्पर्क मे आ गई हैं तथा कुछ पर्याप्त दूरी पर हैं। एल्विन ने सांस्कृतिक सम्पर्क के आधार पर भारतीय आदिवासियो को चार भागो मे विभक्त किया। प्रत्येक भाग सभ्यता के स्तर को इ गित करता है—

(1) प्रथम स्तर में एल्विन ने उन आदिवासियो को रखा जो कि सच्चे अर्थों मे 'जनजातीय लोग' हैं जैसे–उडीसा के ज्वांग, बस्तर के पहाडी, माडिया, गदाबा, तथा बोदा को इस श्रेणी मे उसने रखा है। इनका सामाजिक सगठन परम्परागत स्वरूप युक्त है। एल्विन ने इनकी निम्न विशेषताओ का उल्लेख किया है—

(अ) ये लोग अधिकतर सघ बनाकर रहते हैं तथा सामुदायिक जीवन व्यतीत करते हैं।

(ब) अर्थव्यवस्था व्यक्तिगत न होकर सामुदायिक है।

(स) कृषि की प्राचीनतम प्रणाली-स्थानान्तरण कृषि का पालन किया जाता है जो कि धार्मिक विश्वास एव परम्पराओ द्वारा पूर्ण रूप मे समर्थित है।

(द) ये लोग सरल ईमानदार तथा बाहरी लोगो से बहुत कम सम्पर्क रखते हैं।

(2) दूसरी श्रेणी मे एल्विन से माडिया, भूमिया, बिजवार तथा बैगा का उल्लेख किया है जिनमे अब परिवर्तन आने लगे हैं।

इनकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(अ) ग्रामीण जीवन प्राय व्यक्ति-प्रधान होता जा रहा है।

(ब) गरीबी-अमीरी का भेदभाव बढता जा रहा है।

(स) स्थानान्तरण कृषि, जो कि जीवन का एक भाग था, अब मात्र एक आदत के रूप में रह गई है।

(द) प्रथम वर्ग की अपेक्षा ये लोग बाहरी लोगों के अधिक सम्पर्क में आने लगे हैं। ये निकट के बाजारों में भी जाते हैं तथा वस्त्रों का अधिक प्रयोग करते हैं।

(3) तीसरी श्रेणी के लोगों की संख्या सर्वाधिक है। बाहरी सम्पर्क के परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन आने लगे हैं। ये पारम्परिकता का त्याग करने लगे हैं तथा बाहरी जगत से अधिकाधिक प्रभावित होते जा रहे हैं।

(4) चौथी श्रेणी में एल्विन ने प्राचीन सामन्त तथा जमींदार जैसे भील मुखिया, नागा, सरदार, गाँड, राजा, कोरकू, सामन्त, धनी संथाल, उरांव नेता, सभ्य मुण्डा आदि को रखा है। ये जनजातीय नाम, गोत्र तथा धर्म की कुछ विशेषताओं के अतिरिक्त पूर्ण रूप से आधुनिकता में प्रवेश कर रहे हैं, हिन्दू धर्म स्वीकार कर चुके हैं, तथा सामाजिक-आर्थिक जीवन को अधिक उन्नत बना चुके हैं। ये आधुनिक सभ्यता से सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। एल्विन का कथन था कि प्रथम श्रेणी के जनजातियों की कोई समस्याएँ नहीं हैं।

डी एन मजूमदार ने इस बात का खण्डन किया है। उसने जनजातीय संस्कृति को दो श्रेणियों में रखा है—

(1) आत्मसात्कृत (2) अनुकूलित।

प्रथम के अन्तर्गत वे जनजातियाँ आती हैं जिनकी संस्कृति पूर्ण रूप से सभ्य जातियों में समा गई है तथा अनुकूलित जनजातियाँ वे हैं जो कि सम्पर्क में आने वाली संस्कृतियों का अनुकूलन कर रही हैं। मजूमदार ने एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार आदिवासियों को तीन समूहों में रखा है—

(1) वे आदिवासी जो कि ग्रामीण नगरीय समूहों से सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत दूर हैं, जो कि इनके सम्पर्क में अभी तक नहीं आ पाए हैं।

(2) वे जो ग्रामीण-नगरीय समूहों की संस्कृति से प्रभावित हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके जीवन में असुविधाएँ एवं समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।

(3) वे जनजातियाँ जो कि ग्रामीण नगरीय समूहों के साथ सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप कोई असुविधा एवं समस्या का सामना नहीं कर रही हैं।

1952 में कलकत्ता में आयोजित भारतीय समाज कार्य सम्मेलन में एक जनजातीय कल्याण समिति का गठन किया गया जिसने भारतीय जनजातियों को निम्न सांस्कृतिक श्रेणियों में विभक्त किया—

(1) जनजातीय समुदाय—जो कि अभी तक अगम्य प्रदेशों में निवास करती हैं तथा जीवन की प्राचीन विधियों का पालन करती हैं।

(2) अर्ध जनजातीय समुदाय जो कि अब निकट के गाँवो मे स्थायी रूप से रहने लगे है तथा जिन्होने कृषि एव सम्बद्ध व्यवसायो को अपना लिया है।

(3) संस्कृति-प्रभावित जनजातीय समुदाय अर्थात् वे जनजातियाँ जो कि अब कस्बो तथा नगरो की ओर आने लगी हैं तथा उद्योग एव व्यावसायिक कार्य करने लगी हैं। इन लोगो ने आधुनिक सांस्कृतिक लक्षणो को अपना लिया है।

(4) पूर्ण आत्मसात्कृत जनजातीय समुदाय अर्थात् जो कि अपना जनजातीय अस्तित्व लगभग खो चुकी हैं तथा सम्य समाजो के साथ आत्मसात्करण कर चुकी हैं।

जी. एस घुर्ये ने अपनी कृति 'दि शिड्यूल्ड ट्राइब्स' मे भारतीय जनजातियो को तीन वर्गों मे विभाजित किया है—

(अ) वे आदिवासी जिन्होंने सफलतापूर्वक युद्ध लडा है तथा जो हिन्दू समाज के अन्दर भी पर्याप्त उच्च स्तर वाले माने जाते हैं।

(ब) वे आदिवासी समुदाय जो कि आंशिक रूप से हिन्दू समाज के अग बन गए हैं अथवा हिन्दुओ जैसे हो गए हैं अथवा हिन्दुओ के निकट सम्पर्क मे आ गए हैं।

(स) इस श्रेणी मे पर्वतीय प्रदेशो मे रहने वाली वे जनजातियाँ आती हैं, जिन्होने ऐसी बाहरी सस्कृतियो, जिन्होने उनकी सीमाओ पर दबाव डाला है, का विरोध करने मे अपनी सामर्थ्य का परिचय दिया है।

जनजातीय समाजों की समस्याएँ
(Problems of Tribal Societies)

जब तक हम जनजातीय जीवन की सामान्य विशेषताएँ एव भारतीय जनजातीय जीवन के सामान्य आर्थिक विकास स्तर से अवगत नही हो जाते, हमे उनकी समस्याओ को समझने मे कठिनाई होगी। उपरोक्त विवरण हमे भारतीय जनजातीय जीवन, उनका सामान्य वितरण, विकास के विभिन्न स्तरो के बारे मे प्रारम्भिक जानकारी प्रदान करेगा।

जनजातीय समाजो की समस्याएँ गैर-जनजातीय समाजो की समस्याओ की तुलना मे पर्याप्त मात्रा मे भिन्न हैं। यद्यपि गैर-जनजातीय समाजो की तरह की अनेक समस्याएँ जनजातीय समाजो मे भी व्याप्त हैं, परन्तु कतिपय समस्याएँ ऐसी हैं जो कि जनजातीय जीवन व्यवस्था, उनका सामाजिक जीवन, उनका पृथकत्व, उनके धर्म, जादू रीति-रिवाज एव परम्पराओ की देन हैं जिनका कि नीचे विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

मई, 1972 मे विज्ञान भवन, नई दिल्ली मे इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडीज, शिमला तथा भारतीय सामाजिक अनुसधान परिषद, नई दिल्ली

के संयुक्त तत्वावधान में हुई समाज मानव-वैज्ञानिकों की गोष्ठी ने जनजातियों की समस्याओं की पहचान या शिनाख्त निम्न बिन्दुओं में की है—

(1) देश की राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेने के परिणामस्वरूप उत्पन्न आदिवासी समस्याएँ

(क) नवीन राजनीतिक संस्कृति का उद्गम तथा इसके संगठनात्मक तथा विघटनात्मक पहलू,

(ख) पृथकता और अशान्ति में वृद्धि।

(2) देश की आर्थिक प्रक्रियाओं में जनजातियों के भाग लेने के फलस्वरूप उत्पन्न समस्याएँ

(क) बाजार अर्थव्यवस्था का जनजातियों की परम्परागत अर्थव्यवस्था पर प्रभाव,

(ख) भूमि समस्याएँ,

(ग) जनजातियाँ और औद्योगीकरण की समस्या,

(घ) जनजातियाँ और नवीन आर्थिक अवसर,

(ङ) जनजातियों द्वारा अपरम्परागत व्यवसायों को अपनाना।

(3) देश की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में जन-जातियों के भाग लेने के परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्याएँ

(क) सामाजिक, सांस्कृतिक अस्तित्व का अभाव,

(ख) अन्य वर्गों के साथ समानता,

(ग) जनजातीय समूह के नवीन स्वरूप का उद्गम,

(घ) प्रकट और प्रच्छन्न तनाव व संघर्ष।

समाज वैज्ञानिकों के अनुसार आदिवासियों की समस्याओं का जो खुलासा हमने ऊपर दिया है इससे स्पष्ट है कि आदिवासियों की अधिकांश समस्याएँ वे हैं, जो आज के सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप आई हैं। एडवांस स्टडीज, शिमला के तत्वावधान में हुई एक और गोष्ठी ने भारतीय जनजातियों की समस्याओं का विस्तृत विवेचन किया। इस गोष्ठी में हुई गतिविधियों को अब पुस्तक रूप में (ट्राइबल सिचुएशन इन इण्डिया) प्रकाशित किया गया है। इस गोष्ठी के अनुसार आदिवासियों की मुख्य रूप से निम्नलिखित समस्याएँ हैं—

(1) सीमान्त क्षेत्र जैसे मीजोराम, अरुणाचल, नागालैंड, असम आदि पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों की समस्या राजनीतिक चेतना और संचार व्यवस्था के कारण उत्पन्न समस्याएँ हैं। ये आदिवासी समूह अपने स्वयं के अस्तित्व के प्रति चेतन हो गए हैं और इस कारण क्षेत्रीय स्वायत्तता की माँग कम या अधिक रूप में इन समूहों ने रखी है। यह एक राष्ट्रीय समस्या है, इसलिए कि इससे राष्ट्र की सार्वभौमिकता को आँच आने का भय बना रहता है।

(2) संविधान आदिवासियों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। उनके विकास का वादा करता है। आज आदिवासियों का शोषण हो रहा है। इनके

जीविकोपार्जन के मुख्य दो स्रोत है—भूमि और जगल। भूमि के सम्बन्ध मे आदिवासियो के हित के लिए नई पट्टेदारी व्यवस्था बनानी चाहिए तथा आदिवासियो की आवश्यकताओ को देखकर देश की नवीन राष्ट्रीय जगल नीति बनानी चाहिए।

(3) जनजातियो की समस्याओ का एक और स्रोत बाँध तथा भारी सयत्रो और कारखानो की स्थापना से होने वाला विस्थापन है। भिलाई के इस्पात सयत्र ने जनजातियो की एक बहुत बडी बस्ती को विस्थापित कर दिया। इसी तरह राजस्थान मे माही नदी पर बनने वाले बजाज सागर'बाँध से कई जनजातियो के विस्थापित होने की समस्या उत्पन्न हुई है। उनके गाँव और जमीन पानी म डूब जाएँगे। विस्थापन की स्थिति मे जनजातियो के सामने पुन बसने की समस्या आ जाती है। इसका समुचित निराकरण होना चाहिए।

(4) वे आदिवासी जिन्होने परम्परागत कृषि को छोडकर नए धन्धो को अपनाया है, उन्हे आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। ऐसे आदिवासी नवीन अर्थव्यवस्था मे नए उद्यमकर्त्ता हैं। उन्होने साहूकारी को भी अपनाया है। ये नए उद्यमकर्त्ता अपने स्वय के समूह के सदस्यो के लिए शोषक सिद्ध हुए हैं। यह आदिवासियो मे होने वाले सामाजिक परिवर्तन से उत्पन्न समस्या है।

(5) हमारा यह देश बहुत विशाल है। यहाँ एकाधिकार सस्कृतियाँ हैं। औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रियाओं के कारण स्थानीय तथा सामाजिक गतिशीलता बढ गई है। इस सन्दर्भ मे जनजातियो की बहुत बडी समस्या उनके एकीकरण की है। ये समूह अपनी स्वतन्त्र सस्कृति के अस्तित्व को रखकर भी राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा मे आ सकते हैं। एकीकरण की इस प्रक्रिया मे सचार साधनो का बहुत बडा हाथ है। अत एक ओर एकीकरण को प्राप्त करना तथा दूसरी ओर सचार साधनो को विकसित करना, जनजातियो के सन्दर्भ म बहुत बडी समस्या है।

प्रोफेसर जी एस धुर्ये ने आदिवासियो की समस्याओ का विश्लेषणात्मक कार्य अपनी पुस्तक 'शिड्यूल्ड ट्राइब्ज' मे किया है। उन्होने इस शताब्दी के तीसरे दशक म कहा था कि आदिवासी समस्या मूलत. खेतिहरो की समस्या है। जिस तरह हम किसानो की समस्याओ का हल निकालते हैं. वैसे ही आदिवासियो की समस्याओ का हल भी निकालना चाहिए। धुर्ये तो आदिवासियो को पिछडे हुए हिन्दू समझते हैं। उन्होने आदिवासियो की समस्याओ को तीन श्रेणियो मे रखा है—

(1) प्रथम श्रेणी मे आदिवासियो के वे समूह हैं जैसे कि राजगोड एव अन्य, जिन्होंने एकीकरण की लडाई को सफलतापूर्वक लड लिया है और जिन्हे समाज मे प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त है।

(2) दूसरी श्रेणी मे वे समूह हैं जिनका आंशिक रूप से हिन्दूकरण हो गया है और जो हिन्दुओ के निकट सम्पर्क मे आ गए हैं।

(3) तीसरी श्रेणी मे वे जनजातीय समूह है जो पहाडी क्षेत्र में रहते है और जिन्होने दूसरी सस्कृतियो को स्वीकार करने में प्रतिरोध उत्पन्न किया है ।

आदिवासियो की समस्याओं पर मार्क्सवादी समाजशास्त्री ए. आर देसाई (A R Desai) ने भी टिप्पणी की है । उसका कहना है कि जनजातियो की समस्याएँ कृषि मजदूरो, कृषको और कारीगरो की समस्याओ जैसी हैं । ऐसी अवस्था मे जनजातियों की समस्याओं को शोषण के सन्दर्भ मे देखना चाहिए । मजदूर, किसान या कारीगर जहाँ कही काम करते हैं, नियोजक या मालिक उनका शोषण करते हैं । ऐसी अवस्था मे मुख्य समस्या शोषण की है । वे लिखते हैं—

"बहुत सीधा-सादा सत्य यह है कि हमारी जनसख्या का बहुत बडा भाग ऐसा है जो कृषि से जीविकोपार्जन करता है, और जिसका शोषण विभिन्न तरीको से साहूकारो, अनुपस्थित जमीदारो और बिचोलियो द्वारा होता है ।"

प्रो ए आर देसाई की दृष्टि मे जनजातियो की समस्या वस्तुत आर्थिक एव राजनीतिक है । समस्या यह नही है कि जनजातियो की विशिष्ट संस्कृति का क्या होगा, उनकी रग-बिरगी पोशाक का क्या होगा ? मदिरा और मांस से उन्मादित उनके नाच और गानो का क्या होगा ? सस्कृति के सम्बन्ध मे ये सब प्रश्न, जिनकी दुहाई कुछ समाज वैज्ञानिक देते हैं, बेमतलब हैं । सस्कृति के ये तत्त्व उनकी जीविका से बन्धे हैं और आज उनकी जीविका ही सक्रमणकाल मे है । अत जनजातियो की मूलभूत समस्याएं तो आर्थिक राजनीतिक ही हैं । जनजातियो को आज रोजगार की सुरक्षा चाहिए, उनका जीवन स्तर ऊँचा होना चाहिए, सभ्य जीवन की सुविधाएँ उन्हे प्राप्त होनी चाहिए, उन्हे शिक्षा चाहिए जिससे वे यह निर्णय कर सकें कि उनके कौनसे रीति-रिवाज उन्हे रखने चाहिए, और कौनसे छोड देने चाहिए। इस जागृति से ही वे यह निश्चय करेंगे कि उन्हे किन सस्कृतियो मे मिलना है या शायद किसी सस्कृति मे नही मिलना है । देसाई के अनुसार जनजातियो की समस्याओं का मूल आधार यही है कि उन्हे एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था दी जाए जो अवसरो की समानता पर सस्थापित हो तथा शोषण-मुक्त हो ।

डॉ श्यामचरण दुबे का कहना है कि जनजातियो की समस्या का स्वतन्त्र अस्तित्व है । इस समस्या को प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय हितो से सम्बद्ध एव सन्तुलित करने की निश्चित कार्य-प्रणाली के रूप मे देखा जाना चाहिए ।

जनजातीय समस्याओ के कारण
(Causes of Scheduled Castes Problems)

दुर्गम स्थानों का होना—जनजातियाँ सामान्यत ऐसे स्थानो पर रहती हैं जो एकान्त मे हैं एव जहाँ तक पहुँचने के लिए यातायात एव आवागमन के साधनो का अभाव रहा है । अत्यन्त दूरस्थ प्रदेशो मे रहने के कारण तथा बाह्य प्रदेशो से आवागमन एव यातायात की समुचित व्यवस्था न होने के कारण जनजातीय लोगों

को जीवनयापन के अधिकांश साधन स्वय को जुटाने पडते हैं जो कि अपने आप मे एक समस्या है। यदि स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था होती तो समस्या अधिक जटिल न होती, परन्तु साधनो के अभाव के कारण ये सदैव आर्थिक एव अन्य प्रकार की कठिनाइयो का सामना करते आए हैं। गैर-जनजातीय लोग भी इनके समस्या समाधान में इस कठिनाई की वजह से आज तक अपना अधिक योगदान नही दे पाए हैं। जनजातीय तथा सभ्य जातियो के मध्य भौगोलिक दूरी ने सामाजिक दूरी (Social Distance) भी उत्पन्न करदी परिणाम स्वरूप सभ्य लोग जो कि अपेक्षाकृत रूप से एक उत्तम जीवन व्यतीत करते है, जनजातियो के प्रति अधिक उदार दृष्टिकोण नही बना पाए। दोनो ने ही एक दूसरे को शकापूर्ण दृष्टि से देखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि भौगोलिक बसावट ने जनजातीय समाज में समस्याएँ उत्पन्न करने मे अपना योगदान दिया।

जनजातीय समाजो मे कुप्रथाओ का चलन तथा उनमे व्याप्त अन्धविश्वास—चूँकि ये लोग काफी समय पश्चात् सभ्य समाजो के साथ सम्पर्क मे आए, उनके समाजो मे आर्थिक विभिन्नता, अन्धविश्वास, जादू टोने का प्रचलन तथा अनेक कारणो के फलस्वरूप कुछ कुप्रथाओ का चलन हुआ जिनका कि यहाँ पर उल्लेख किया जा रहा है।

स्वजाति-भक्षण/नरभक्षण (Cannibalism)—यह प्रथा अफ्रीका की कतिपय जनजातियो मे, ओसनिका (न्यूगिनी) तथा हडसन की खाडी के एस्किमो लोगो मे पाई जाती थी। तिब्बत के कुछ आदिम लोग भी नर भक्षण करते थे। लेक सुपीरियर के इण्डियन्स (Amer Indians) भी अतीत मे नरभक्षी थे।

सिर का शिकार (Head Hunting)—अनेक जनजातीय समाजो मे मानव का अथवा जीवित व्यक्ति का सिर काटकर लाना बहादुरी का प्रतीक समझा जाता था। उदाहरण के तौर पर अगामी नागाओ मे (असम की एक जनजाति) तो यह कृत्य एक युवक के वैवाहिक अवसरो में वृद्धि करना है। कहने का तात्पर्य यह है कि जनजातीय परम्परा के अनुसार एक लडकी जीवन साथी के रूप मे उस युवक का वरण करना चाहती है जो कि सिर के शिकार मे सफल रहा तथा इस प्रकार अपना शौर्य प्रदर्शन कर जनजातीय समाज मे वह अपने लिए एक सम्मानपूर्ण स्थान बना पाया है।

मानव हत्या के उदाहरण अन्यत्र भी देखने को मिलते हैं। किरगिज जनजाति के लोग कबीले के वृद्ध लोगो को (जब वे अपना जीवन यापन करने मे असमर्थ हो जाते हैं), आर्थिक कठिनाइयो की वजह से दूर वन मे जाकर छोड आते हैं जहाँ कि जगली जानवर उन्हे मारकर अपना भोजन बना लेते हैं। इस प्रकार वे अपना आर्थिक भार कम करते हैं। धर्म एव जादुई विश्वास भी अनेक जनजातियो मे मानव हत्या का कारण बना है।

कार्य स्वच्छन्दता अथवा यौन साम्यवाद (Promiscuity or Sex Communism)—अनेक जनजातीय समाजो मे विवाह से पूर्व अथवा विवाह के

इतर भी यौन-सम्बन्धो का चलन पाया जाता है जिसे कि सभ्य समाजो मे अनैतिकता की सज्ञा दी जाती है। कभी-कभी तो इस प्रकार के यौन-सम्बन्धो को जनजातियो की सामाजिक सस्थाएँ (Dormitories or Night Clubs) विधिवत् रूप से मान्यता प्रदान करती हैं। उदाहरण के रूप में मध्य प्रदेश की माडिया-मुडिया जनजातियो के घोटुल (Chonging Ghotuls) इसके उदाहरण हैं। इन जनजातियो के घोटुल (Ghotuls) इस बात को मानकर चलते हैं कि समस्त कबीले की स्त्रियाँ कबीले की सम्पत्ति है तथा किसी एक व्यक्ति का उसमें विशेषाधिकार न हो, विवाह से पूर्व (Unmarried Boys or Girls) यदि कोई एक लडका किसी एक लडकी के साथ घोटुल में तीन रोज से अधिक समय तक देखा गया तो उसे दण्डित किया जाता है। यद्यपि इस एकाधिकार के विरुद्ध नियम अविवाहितो के लिए ही लागू है तो भी ये प्रथाएँ किसी भी सभ्य समाज की दृष्टि में अनैतिक हैं। इन्ही कुप्रथाओ की वजह से सभ्य कही जाने वाली जातियाँ जनजातियो को घृणा एव हीन दृष्टि से देखती हैं। यद्यपि जनजातीय युवागृह (घोटुल) अनेक महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ भी निभाते हैं, ये जनजाति की सस्कृति के धरोहर के रूप में हैं, कबीले की रक्षा, मनोरजन, सहयोग सद्भावना के केन्द्र स्थल हैं परन्तु ये कतिपय व्याप्त कुरीतियाँ समस्या का कारण बन जाती है।

कन्या (शिशु) हत्या का चलन (Female Infanticide)—वैवाहिक समस्या एव बाहरी शत्रुओ के भय से कुछ जनजाति के लोगो मे कन्या हत्या का चलन था। जैसे भारत मे नीलगिरि के आसपास के टोडर और इरुला लोगो मे कन्या हत्या का चलन पाया जाता था।

जादू टोना एव अन्धविश्वास (Magic and Superstition)—जनजातियो का जादू-टोने मे अत्यधिक विश्वास रहा है। ये लोग जादू मे धर्म से अधिक आस्था रखते हैं तथा उनकी यह मान्यता है कि जादू धर्म से अधिक शक्तिशाली (Powerful) है। इसकी वजह से अनेक जघन्य कुरीतियाँ जैसे मानव बलि आदि का चलन इन लोगो मे अधिक है।

विवाह सस्था में व्याप्त कुरीतियाँ—जनजातीय समाज की विभिन्न सस्थाओ मे व्याप्त कुरीतियाँ इनकी समस्याओ तथा इनके पिछडेपन का कारण रही हैं जैसे हरण विवाह (Marriage by Capture), सेवा विवाह, बहुपति-विवाह अनेक नवीन समस्याओ के कारण बने हैं। यहाँ पर सक्षिप्त मे कुछ भारतीय जनजातियो मे व्याप्त इन प्रथाओ का उल्लेख किया गया है।

भारत की नागा, हो, भील, गोड तथा असम, बिहार व मध्य प्रदेश की अनेक जनजातियो मे 'हरण विवाह' का चलन था, परन्तु राजकीय नियन्त्रण के फलस्वरूप इसमें कमी आई है। भारत के बाहर भी आस्ट्रेलिया की मेरी बोरो प्रदेश की जनजातियो, अमेरिका के रेड इण्डियन तथा एस्किमो जनजाति मे भी अपहरण की प्रथा देखने मे आई है।

सेवा विवाह (Marriage by Service) के अन्तर्गत पत्नीधन (Bride-Price) न दे सकने की स्थिति मे बेगार कराने की प्रथा भारत मे गोंड, बैगा तथा बिरहोर जनजाति में देखने को मिलती है। काडा-बारा, चौखुटिया भूनिया का सांकेतिक बाण विवाह, वास्तविक विवाह से पूर्व एक लडकी को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। गारो कोन्रोम जनजाति मे सम्पत्ति पर अधिकार बनाए रखने के लिए सास दामाद विवाह देखने को मिलता है जो कि जनजातिया के पिछडेपन तथा उनके समाज मे व्याप्त नियमो का प्रतीक हैं। उत्तर प्रदेश के चकरौता के निकट का क्षेत्र जानसर बावर के खस लोगो मे बहुपति विवाह प्रणाली उन लोगो म व्याप्त यौन रोगो का कारण रही है। इसी प्रकार चोरी (Theft) करने का रिवाज भी अनेक जनजातियो मे पाया जाता है। उदाहरण के रूप मे रेड इण्डियन्स मे घोडे की चोरी का रिवाज था, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले की कोरवा जनजाति मे चोरी करना (कबीले से बाहर) प्रचलित था। इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी पाए जाते हैं जो कि जनजातीय समाज को अधिक समस्याग्रस्त बनाने मे सफल हुए हैं।

जनजातियो की प्रमुख समस्याएँ
(Main Problems of Tribals)

उपर्युक्त विवरण के आधार पर जनजातियो की कुछ प्रमुख समस्याओं का उल्लेख किया जा सकता है। जनजातियो की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(1) आर्थिक समस्याएँ (Economic Problems)

जनजातीय लोगो का आर्थिक दृष्टिकोण गैर-जनजाति के लोगो के दृष्टिकोण से पर्याप्त भिन्नता लिए हुए है। लोग उपभोग की अर्थव्यवस्था मे विश्वास करते हैं, सचय मे नही। कल की परवाह नही करते। सरल, सादा जीवन व्यतीत करते हैं, उनकी टैक्नोलोजी भी सरल प्रकार की है। लेकिन इन लोगो को अपनी अनभिज्ञता के कारण तथा सम्पूर्ण रूप से प्रकृति पर ही आश्रित होने के कारण आर्थिक विपदाओं का सामना करना पडा है। जनजातियो की आर्थिक समस्याओं को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

(अ) गरीबी तथा ऋणग्रस्तता (Poverty and Indebtedness)—गरीबी इनकी सर्वाधिक जटिल समस्या है। प्रकृति की वस्तुओं का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा तथा उत्पादन की विधि से अनभिज्ञता इनकी गरीबी का कारण बनी।

दूसरे, बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क के परिणामस्वरूप, जगल के ठेकेदारो, सेठ साहूकारो ने इनका शोषण किया। इन्हे कर्ज देकर इनकी निरक्षरता, अज्ञानता का लाभ उठाकर इनसे मनमाना ब्याज वसूल किया तथा इस प्रकार इन्हे इतना अधिक ऋण ग्रस्त बना दिया कि ये सदियो से ब्याज ही अदा करते आए हैं।

(ब) जनजातीय क्षेत्रों मे जनसख्या मे वृद्धि (Population Growth in Tribal Areas)—जनजातीय जनसख्या मे वृद्धि भी इनकी समस्याओ का एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। वन्य-सम्पदा एक ओर कम होती जा रही थी तथा दूसरी ओर जनसख्या मे वृद्धि हो रही थी, अत स्वाभाविक था कि इनकी आर्थिक समस्या और अधिक जटिल स्वरूप धारण करती।

(स) भूमि का पतन तथा वन्य प्रदेशों की सम्पदा मे इनके एकाधिकार की समाप्ति—ब्रिटिश सरकार ने जगल कानून अधिनियम पारित कर जनजातियो के वनो मे एकाधिकार को समाप्त कर इनकी अर्थ व्यवस्था को काफी ठेस पहुँचाई। यद्यपि जगलो की सुरक्षा राष्ट्रीय एव देश के हित मे थी, परन्तु बदले मे जनजातियो को जो कुछ दिया गया, जगलों से बेदखल करके वह उनके सुचारू जीवन-यापन के लिए अपर्याप्त था। अनेक विद्वानो ने इस बात को महसूस किया है। हट्टन ने अपनी रचना 'मॉर्डन इण्डिया एण्ड वैस्ट' मे उल्लेख करते हुए कहा कि "इनको सर्वाधिक उत्तम भूमि से बेदखल किया गया।" वैरियर एल्विन ने भी माना कि "इनकी समस्याओ का कारण इनका वनो तथा भूमि से वचित होना है।"

(द) स्थान परिवर्ती कृषि (Shifting Cultivation)—इसे स्थान परिवर्ती कृषि, या झूम कृषि अथवा कुल्हाडे से की जाने वाली कृषि (Axe Cultivation) भी कहते हैं। इस पद्धति मे हल के बजाय कुल्हाडे का प्रयोग किया जाता है। पहाडी ढलानो मे कुल्हाडे से पेड व पौधो को काटकर उनम आग लगा दी जाती है तथा उस राख म बीज बोकर खेती की जाती है। पुन दूसरी फसल के लिए यही विधि एक अन्य स्थान मे दोहराई जाती है। इस प्रकार धीरे-धीरे जगलो को काटकर कृषि की जाती है। इस प्रकार की कृषि का सर्वाधिक नकारात्मक प्रभाव जगलो का अभाव एव भूमि का कटाव है। भारत मे बैगा जनजाति तथा असम की अनेक जनजातियो मे इसका चलन था। काफी प्रयास के पश्चात् बैगा लोगों को हल से की जाने वाली कृषि के लिए तैयार किया जा सका क्योंकि ये लोग 'धरती' को 'माँ' समझते थे तथा हल से खेती करना माँ के सीने पर प्रहार करना समझते थे। सरकारी अधिकारियो ने जब इनकी भावनाओ को समझे बिना इस प्रकार की कृषि पर प्रतिबन्ध तथा वनों पर अपना नियन्त्रण किया तो अनेक जनजातीय कबीले भडक उठे और उन्होंने विद्रोह किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि कृषि की जनजातीय पद्धतियाँ उनके पिछडेपन का कारण रही हैं।

कृषि की नवीन विधियो के प्रति उदासीनता, जनजातियो के पिछडेपन का कारण रही है। इनका यह पिछडापन आज भी एक चुनौती बना हुआ है तथा अनेक योजनाओ के क्रियान्वयन के पश्चात् भी आज तक जनजातीय समाज को सम्य लोगो के समकक्ष नही लाया जा सका है।

(2) बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क एव समस्याएँ
(Problems Related to Contact with Outer World)

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के इस युग मे जनजातियो को पृथकत्व मे नही रखा जा सकता है। यातायात एव आवागमन के साधनो का प्रसार हुआ तथा ये लोग बाहरी जगत् के सम्पर्क मे आए। यह सम्पर्क दो कारणो से हुआ—

(1) प्रथम तो जनजातीय क्षेत्रो मे जनाधिक्य एव जीवनयापन के साधनो के अभाव के परिणामस्वरूप ये लोग बाहरी प्रदेशो की ओर आए।

(2) दूसरे, बाहरी जीवन के साथ सम्पर्क ने इन्हे आकर्षित किया अत जनजाति के लोग गैर-जनजाति के लोगो के साथ सम्पर्क मे आए। इस सम्पर्क के परिणाम स्वरूप जनजातीय समाज अनेक समस्याओ का केन्द्र-बिन्दु बना जिसका कि आगे उल्लेख किया गया है।

जनजाति के लोगो का शोषण

जगलो के ठेकेदार, सरकारी कर्मचारी, सेठ साहूकारो ने इनका शोषण करने मे किसी भी प्रकार की कसर शेष नही रखी। ठेकेदारो ने कम मजदूरी देकर इनसे काम लिए, सरकारी कर्मचारियो ने इनके साथ उदारतापूर्ण व्यवहार नही किया। महाजन तथा सेठ साहूकारो ने इन लोगो को कर्जा देकर इनसे मनमाना ब्याज वसूल किया। अनेक अवसरो पर इनकी जमीनें हड़प ली गईं।

ब्राह्मणो व पण्डितो ने इनको जाति-व्यवस्था मे शामिल करने तथा जाति शृखला मे उच्च स्तर पर रखने का लालच देकर मनमाना रुपया इनसे लेकर इनकी नकली वशावलियां बनवाईं। दूसरी ओर, सामान्य हिन्दुओ ने इन्हे घृणा की दृष्टि से देखा तथा इन्हें हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के निम्नतम सोपान मे ही स्थान मिल पाया। इस सम्पर्क का परिणाम तथा हिन्दुओ के साथ निकट सम्पर्क एव हिन्दुओ मे निम्नतम जातीय स्तर के लोगो का इनके द्वारा अनुकरण किए जाने से इन लोगो के समाज मे अनेक निम्नलिखित कुरीतियां प्रवेश कर गई जो कि हिन्दुओ के सम्पर्क का परिणाम थी—

(अ) बाल-विवाह—सामान्यतया आदिम समाज मे बाल विवाह का चलन नही था पर हिन्दू समाज से सम्पर्क ने विवाह की आयु मे कमी कर दी तथा धीरे-धीरे बाल-विवाह का प्रचलन बढा।

(ब) कन्या मूल्य/स्त्री धन—निम्न हिन्दुओ मे व्याप्त कन्या मूल्य, स्त्रीधन की प्रथा धीरे-धीरे जनजातीय समाजो मे भी फैलती गई।

(स) दहेज प्रथा—वे जनजातियाँ जो उच्च जातियों का अनुकरण कर रही थी, अथवा जिन्होंने जातीय पदसोपान क्रम म उच्च स्थान पाने मे सफलता प्राप्त की थी, व दहेज प्रथा की समस्या से अपने आप को मुक्त नही कर सके।

(द) युवक-युवकों की वैवाहिक स्वतन्त्रता का हनन—विवाह मे माता-पिता का हस्तक्षेप बढने लगा और स्वेच्छा मे विवाह का चलन धीरे-धीरे समाप्त होता गया। साथ ही जब बाल विवाह का रिवाज अस्तित्व मे आया तो स्वेच्छा का प्रश्न ही नही उठता था।

(इ) महिलाओ की निम्न स्थिति—जनजातीय समाज मे स्त्रियो को पुरुषो के समकक्ष स्थान प्राप्त था। हिन्दू समाज से सम्पर्क के परिणामस्वरूप स्त्रियो की स्थिति मे गिरावट आई। उनके अधिकारो का हनन हुआ। इनको चल सम्पत्ति की भांति खरीदा व बेचा जाने लगा।

(ई) युवागृहो का पतन—जनजातीय युवागृहो (Dormitories) का पतन हुआ। यह जनजातीय संस्कृति, कला व मनोरंजन के केन्द्र स्थान थे। इनमे व्याप्त कुरीतियो को समाप्त कर सुधार लाने की आवश्यकता थी न कि उनको बन्द करने की। इस प्रकार जनजातीय कला, संस्कृति एव मौखिक साहित्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप नकारात्मक रूप से प्रभावित हुआ।

(उ) सभ्य जातियो का इनके प्रति उपेक्षित दृष्टिकोण—सभ्य जाति के लोगो का दृष्टिकोण जनजातियो के प्रति उपेक्षा का रहा। उन्होने जनजाति के लोगो को हीन दृष्टि से देखा जिससे जनजातियो के लोगो मे हीनता की भावना पैदा हुई। इस प्रकार हम देखते है कि बाहरी जगत् के साथ जनजातियो का सम्पर्क इनकी समस्याओ मे वृद्धि का एक प्रमुख कारण रहा है।

(3) ईसाई मिशनरियो की भूमिका
(Role of Christian Missionaries)

अंग्रेजी काल मे ही मिशनरियो ने जनजातीय क्षेत्रो में कल्याण एव सुधार का बाना (आवरण) पहनकर, जनजातियो का धर्म परिवर्तन कर उन्हे एक नवीन स्थिति मे लाकर खड़ा कर दिया। यद्यपि हिन्दू समाज ने भी उनके साथ न्याय नही किया था क्योकि उन्होने जनजातीय लोगो को अछूतो के समकक्ष रख दिया था, पर मिशनरियाँ सुधारवादी संस्था के रूप मे कार्य करें और आदिवासियो को आर्थिक लाभ देकर ईसाई बना दें, यह उनकी समस्या का समाधान नही था। अनजाने मे, बिना निश्चित विश्वास के इनका धर्म परिवर्तन करना, समस्या मे कमी करने के बजाय, वृद्धि करना ही रहा। इससे जनजातियो मे पृथकतावादी तत्व का प्रसार हुआ, जिसके लिए उन्होने संघर्ष भी किया। इस प्रकार मिशनरियो के धर्म परिवर्तन करने की नीति ने भी जनजातियों की समस्या मे वृद्धि ही की।

(4) शिक्षा की कमी (Lack of Education)

अशिक्षा इनकी समस्त समस्याओ की जड रही है। इनका अज्ञान, बाहरी जगत् के लोगो द्वारा इनका शोषण इनके अशिक्षित होने के ही परिणाम है। इनकी समस्याओं को हल करने का सर्वोत्तम उपाय जनजातीय क्षेत्रो मे वांछित शिक्षा का प्रसार, हो सकता है।

(5) स्वास्थ्य एवं उपचार की समस्या (Health Problem)

जनजातीय समाज जादू-टोनो मे अत्यधिक विश्वास करता है तथा जादू टोना ही उपचार का माध्यम इनके समाजो में बना हुआ है । यद्यपि जगली जड़ी-बूटियो आदि का भी प्रयोग किया जाता है, परन्तु अन्धविश्वास सर्वोपरि है । अत. आज के विज्ञान के युग मे इस अन्धविश्वास को समाप्त कर उन्हे चिकित्सा एव-उपचार को नवीन पद्धतियो से अवगत कराना आवश्यक है ।

(6) प्रशासनिक समस्याएँ (Administrative Problems)

जनजतीय क्षेत्रो में प्रशासन की समस्या भी अपने आप में एक जटिल समस्या है । जनजातीय क्षेत्रो में जिन प्रशासनिक कर्मचारियो को भेजा जाता है तथा जो लोग सुधार एव प्रशासन हेतु इन क्षेत्रो में भेजे जाते है, कभी कभी वे समस्याओ के समाधान के बजाय उनमें वृद्धि करते हैं, इसका कारण यह है कि वे कुशल कर्मचारी होते हुए भी जनजातीय जीवन एव सस्कृति से अनभिज्ञ होते हैं । जन-जातीय सस्कृति, उनका सांस्कृतिक स्तर, उनकी भावनाएँ एव सवेग तथा उनके जीवन दृष्टिकोण के विपरीत उन पर कोई बात थोपने का तात्पर्य प्रशासन के विरुद्ध विरोध मोल लेना होगा । यह कटु अनुभव यूरोप के लोगो को अपने उपनिवेशो की प्रशासनिक व्यवस्था के दौरान हुआ है । भारत मे भी जब जगल सरक्षण कानून अधिनियम तथा इसी प्रकार के अन्य नियम जनजातीय समाजो के लिए लागू किए गए तो प्रशासन के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था । जनजातीय लोग बगावत करने पर उतारू हो गए थे तथा सरकारी कर्मचारी जनजातीय प्रदेशो मे अकेले जाने मे भी घबराते थे, अत मानवशास्त्रीय ज्ञान जनजातीय क्षेत्र मे सफल प्रशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक है । मानवशास्त्री प्रशासन के क्षेत्र मे अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर प्रशासको को वस्तु की वास्तविकता से अवगत कराकर उन्हे सही राय दे सकते हैं तथा इस प्रकार जनजातीय समाज की समस्याओ का निराकरण करने मे उनका महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है ।

(7) आत्मसात्करण तथा एकीकरण की समस्या
(Problem of Assimilation and Integration)

आत्मसात्करण की प्रक्रिया कोई नवीन नही अपितु हजारो वर्षों से चली आ रही है । जनजातीय समाज के लोगो को आज एक पृथक् इकाई के रूप मे नही रखा जा सकता है । वृहद् समाज के साथ तादात्म्य ही इनकी समस्याओ के समाधान का कारण बन सकता है । जनजाति के बाहरी समाज के साथ सम्पर्क के बारे मे मतान्तर रहे हैं । कुछ विद्वानो की यह मान्यता रही है कि जनजातियो का बाहरी लोगो के साथ सम्पर्क न हो जिससे कि इन्हें सुरक्षित रखा जा सके ।

दूसरी धारणा इसके विपरीत है, जो प्रतिपादक है । उनका कहना है कि जनजातियो का गैर-जनजाति के लोगो के साथ पूर्ण रूप से आत्मसात् हो जाना चाहिए ।

तीसरी धारणा उन लोगों की है जो कि जनजातीय जीवन के अस्तित्व को बनाए रखते हुए भी भारतीय समाज के साथ उनका एकीकरण करना चाहते हैं। एकीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि जनजातीय जीवन की विशेषताओं को समाप्त कर दिया जाए। इस प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता है परन्तु एकीकरण की प्रक्रिया मे जनजातियो के सवेगो एव उनकी भावनाओं को ठेस न पहुँचे, यह बात ध्यान मे रखने की है। हम आज उन्हे पृथकत्व मे रखने की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं तथा न ही उनको जनजातीय जीवन की विशेषताओं को समाप्त करने अथवा उन्हे बनाए रखने के लिए विवश कर सकते है। मात्र एक मार्गदर्शक का काम किया जा सकता है। यद्यपि उन प्रवृत्तियो व कुप्रथाओं पर प्रतिबन्ध आवश्यक है जो कि जनजातीय समाज एव राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल हैं। शिक्षा का प्रसार, जनजातीय क्षेत्रो की आर्थिक उन्नति उन्हे एकीकरण के मार्ग की ओर उन्मुख करेगी। शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप, सम्पर्क की वजह से उत्पन्न नकारात्मक प्रवृत्तियो का अनुकरण स्वत: ही कम हो जाएगा।

इस प्रकार जनजातीय समाज की समस्याएँ आन्तरिक एव बाह्य कारणों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं जिनका समाधान जनजातीय समाज के हित की दृष्टि से एव राष्ट्र के हित की दृष्टि से आवश्यक है।

जनजातियो की समस्याओ के समाधान के सुझाव
(Suggestions of Removing Problems for the Tribes)

(क) आर्थिक समस्याओ का समाधान

जनजातियो की आर्थिक दशा सुधारने के लिए निम्नलिखित उपाय अपेक्षित हैं—

1 जनजातियो के प्रत्येक परिवार को कृषि के लिए पर्याप्त भूमि दी जानी चाहिए और साथ ही अच्छी खेती करने के तरीको की शिक्षा भी दी जानी चाहिए।

2 कृषि सम्बन्धी अन्धविश्वासो से छुटकारा दिलवाने के लिए जनजातियो मे समुचित प्रचार किया जाना चाहिए।

3 कृषि के लिए खाद, बीज और अन्य कृषि-उपकरण सुलभ किए जाने चाहिए। आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता भी दी जानी चाहिए।

4 स्थानान्तरित कृषि का अन्त किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे आसाम, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश की जनजातियो के प्रति विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

5 वन-विभाग को चाहिए कि वह वन्य सम्पत्ति के श्रेष्ठतम प्रयोग के सम्बन्ध मे जनजातियो को उचित शिक्षा दे।

6 जनजातियो को लघु उद्योग धन्धो तथा गृह उद्योग-धन्धो की उचित शिक्षा दी जानी चाहिए ताकि वे इन कार्यों को भली प्रकार कर सकें और भरण-पोषण के लिए आवश्यक धनोपार्जन कर सकें। इन उद्योग-धन्धो के लिए भी सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

7. जनजातीय क्षेत्र के श्रमिको की स्थिति को सुधारने की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। यहाँ काम के घण्टे और वेतन निश्चित किया जाना चाहिए तथा काम करने की अच्छी दशाओ की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

8 जिन औद्योगिक केन्द्रो मे जनजाति के लोग ज्यादा काम करते हैं, श्रमिक कल्याण कार्य अधिक विस्तृत रूप से होने चाहिए।

9 जनजातीय क्षेत्रो मे सहकारी समितियो को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

10 जनजातीय छात्रो और छात्राओ दोनो की शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए जिससे वे सरकारी सेवा भी कर सकें।

11 ऐसी प्रथाओ को कानूनन प्रभावी रूप मे समाप्त कर दिया जाना चाहिए जो जनजातियो को बेगार करने को बाध्य करती है। यह एक शोचनीय बात है कि राजस्थान मे सागडी प्रथा और उडीसा मे गोटी प्रथा कानूनन समाप्त होने पर भी व्यवहार मे प्रचलित है।

12 जनजातियो को आर्थिक सहायता के अतिरिक्त बिना ब्याज के ऋण देने की व्यवस्था भी होनी चाहिए ताकि वे महाजनो और साहूकारो के शोषण से बच सकें।

(ख) सामाजिक समस्याओ का समाधान

1 व्यवहार मे देखा गया है कि बाल-विवाह प्रथा कानून द्वारा समाप्त नही की जा सकी है, हाँ अकुश अवश्य लगा है। बाल-विवाह की कुप्रथा को समाप्त करने के लिए जनमत तैयार किया जाना चाहिए।

2 कन्या-मूल्य की प्रथा को भी लोकमत के माध्यम से ही दूर किया जा सकता है।

3 शहरो मे मकानो की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि जनजातीय श्रमिक अपने परिवारो के साथ वहाँ रह सकें।

4 जनजातीय लोगो की आर्थिक दशा अच्छी होने पर वेश्यावृत्ति पर अपने आप ही प्रभावी अकुश लग सकेगा।

5 युवागृहो को सक्रिय रूप से पुनर्जीवित किया जाना चाहिए और उन्ही के द्वारा जनजातीय लडको तथा लडकियों की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

6. सामाजिक चेतना के प्रसार और सामाजिक कुरीतियो के निवारण के लिए जनजातीय क्षेत्रो मे उदार और धैर्यवान कार्यकर्त्ता भेजे जाने चाहिए।

(ग) स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओ का समाधान

1 जनजातीय क्षेत्रो मे चल चिकित्सालयो (Mobile Dispensaries) की व्यवस्था की जानी चाहिए।

2 छोटी-छोटी दवाओ का ज्ञान जनजातीय लोगो को दिया जाना चाहिए। साथ ही पौष्टिक तत्त्वो का ज्ञान दिया जाना आवश्यक है।

3. जनजातीय लडकियो को कम्पाउण्डर तथा नर्स का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

4. सामान्य दवाओ के छोटे बक्से स्कूलो, पचायत घरो तथा युवागृहो मे रखने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

5 चूंकि जनजातियां जडी-बूटियो मे काफी विश्वास करती हैं, अतः जडी-बूटियो के सम्बन्ध मे नए वैज्ञानिक विश्लेषण होने चाहिए और उनसे जनजातियो को अधिकाधिक परिचित कराया जाना चाहिए।

6 ऐसे कदम नही उठाए जाने चाहिए जिससे जनजातियो के दैनिक जीवन के, उनकी आदतो और सांस्कृतिक प्रथाओ को गहरा धक्का पहुँचे। यदि ऐसे कदम उठाए गए तो जनजातियो के मानस पर विपरीत प्रभाव पड सकता है और फलस्वरूप उनके स्वस्थ जीवन को भी हानि पहुँच सकती है।

(घ) शिक्षा सम्बन्धी समस्याओ का समाधान

जनजातियो की शिक्षा सम्बन्धी समस्याओ के निदान के लिए डॉ. विश्वास ने जो सुझाव दिए हैं, वे विचारणीय हैं—

1 जनजातियो को उनकी अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रादेशिक भाषा का स्थान गौण होना चाहिए।

2 किताबी शिक्षा के साथ-साथ दस्तकारी अथवा अन्य पेशे सम्बन्धी प्रशिक्षण भी दिए जाने चाहिए ताकि जनजाति के लोग भविष्य मे उपयुक्त पेशे का चुनाव कर सकें और अपने परिश्रम का मूल्य समझ सकें।

3 आमोद-प्रमोद के साधनो का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। नृत्य, सगीत, खेल तथा विभिन्न जनजातीय मनोरजन सुलभ होने चाहिए।

4 जनजातीय क्षेत्रो के स्कूलो की छुट्टियां साप्ताहिक बाजार के दिन तथा जनजातीय त्यौहारो के अनुकूल होनी चाहिए।

5 जनजातीय स्कूल दो प्रकार के होने चाहिए—प्राथमिक एव व्यवसाय सम्बन्धी। इनमे कृषि-कार्य, मछली पकडने, पशुपालन आदि के सम्बन्ध मे व्यावहारिक शिक्षा दी जानी चाहिए।

शिक्षा सम्बन्धी समस्याओ के निदान के लिए निम्नलिखित उपाय भी किए जाने चाहिए—

6. जनजातीय लोग वर्तमान शिक्षा के प्रति उदासीन हैं क्योंकि यह शिक्षा उनके लिए अनुत्पादक है। अतः ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो उनके लिए उत्पादक हो।

7 जनजातियो मे शिक्षा प्रसार के ऐसे कार्यों को रोका जाना चाहिए जिनका मूल उद्देश्य विदेशी धर्म का प्रसार करना हो तथा आदिवासियो का धर्म-परिवर्तन करना हो।

(ङ) सांस्कृतिक समस्याओ का समाधान

1. जनजातियों को उनकी भाषा मे ही शिक्षा दी जानी चाहिए। इससे

भाषा सम्बन्धी समस्या के समाधान के साथ-साथ उनमे अपनी संस्कृति के प्रति लगाव की भावना उत्पन्न होगी।

2 शिक्षा जनजातीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार होनी चाहिए।

3. जनजातीय ललित-कलाओ को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। एलविन का सुझाव है कि पश्चिमी अफ्रीका के अकीमोटा कॉलेज की भाँति भारत मे भी जनजातीय ललित-कलाओ की रक्षा हेतु कॉलेज होना चाहिए।

4 शिक्षा द्वारा जनजातीय धार्मिक कट्टरता को एक वैज्ञानिक स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(च) अन्य सुझाव

1 सविधान और प्रशासन द्वारा जनजातियो की सुरक्षा के लिए जिन सरक्षणो की व्यवस्था की गई है, उन्हें प्रभावी रूप से अमल मे लाया जाना चाहिए।

• 2. जनजातियो की कला, सस्कृति, भाषा, रीति-रिवाजो आदि का अध्ययन करने वाली अनुसधान सस्थाओ को अधिक साधन-सम्पन्न, अधिक कार्यक्षम बनाया जाना चाहिए। इनकी सख्या भी बढाई जानी चाहिए।

3. योजनाओ मे अलग-अलग जनजाति की समस्या को मद्‌देनजर रखना चाहिए। उनकी परम्परावादी सस्थाओ के दोषो को दूर करना आवश्यक है। जनजातियो की आवश्यकताओ, आकांक्षाओ और विचारो को बनाए रखकर ही यह विकास करना आवश्यक है। इस विकास मे केवल ऐसे अधिकारी होने चाहिए जिनको जनजातियो की सस्कृति, रीति-रिवाजो आदि का अच्छा ज्ञान हो। इससे उनका सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। बिना उनके सहयोग के कोई भी योजना सफल नही हो सकती।

4 वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा जनजातियो के सामाजिक सगठन और मूल्यो के ज्ञान की उपलब्धि का भी अध्ययन करना चाहिए।

5. जनजातियो की समस्याओ के निदान के लिए डॉ घुर्ये, एलविन, शरतचन्द्र राय, हट्टन आदि प्रमुख समाज वैज्ञानिको ने अनेक सुझाव दिए हैं जो पुनरुद्धार, पृथक्करण एव सात्मीकरण से सम्बन्धित हैं। एलविन ने एक राष्ट्रीय उपवन (National Park) की स्थापना का सुझाव दिया है। उनके मतानुसार एक ऐसा क्षेत्र बनाया जाना चाहिए जहाँ निकटवर्ती जनजातियो को बसाया जाए और उस क्षेत्र मे अन्य लोगो के प्रवेश पर प्रतिबन्ध हो। इस क्षेत्र पर जनजाति आयुक्त का सीधा नियन्त्रण रखा जाए। इस उपवन मे यथासाध्य जनजातियो की सस्कृति तथा विशिष्ट विशेषताओ को बनाए रखने का प्रयास किया जाए। एलविन के सुझाव की घुर्ये तथा अन्य विद्वानो ने कटु आलोचना की है, क्योकि इससे जनजातियो की सामाजिक सरचना मे उचित परिवर्तन भी रुक जाते है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि देश की जनजातियाँ राष्ट्रीय धारा मे बहने लगें, अपना पृथक् अस्तित्व न मानकर अपने को देश के विशाल समाज का अग समझने लगें। हट्टन, मजूमदार आदि ने जनजातियो की सामाजिक-सांस्कृतिक धरोहर की निरन्तरता

बनाए रखने के लिए यह आवश्यक माना है कि उनका पृथक् अस्तित्व बनाए रखा जाए लेकिन साथ ही ये विद्वान् जनजातीय जीवन मे ऐसे परिवर्तनो के पक्षपाती हैं जो इनके लिए हानिकारक न हो। डॉ घुरिये, अक्षय देसाई, निर्मलकुमार बोस आदि ने जनजातियो के पृथक् अस्तित्व के विचार को अस्वीकार करते हुए उन्हे हिन्दू समाज मे आत्मसात कर लेने का सुझाव दिया।

उल्लेखनीय है कि जनजातियो की विभिन्न समस्याओ के समाधान के प्रति प्रशासन, स्वयसेवी सस्थाएँ काफी जागरूक हैं—

1 सांविधानिक प्रावधान—स्वतन्त्र भारत के सविधान निर्माताओ ने जनजातियो की सुरक्षा हेतु अनेक सरक्षणो की व्यवस्था की है। लोकसभा और राज्यो की विधान सभाओ मे उनके लिए सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था की गई थी, जो कि आज भी चली आ रही है। कुछ राज्यो मे जनजातियो के लिए अलग से जनजातीय कल्याण मन्त्रालयो प्रादेशिक परिषदो, विशेष प्रशासनिक व्यवस्थाओ की स्थापना की गई। अखिल भारतीय सेवाओ और प्रान्तीय सेवाओ के साथ-साथ लगभग अन्य सभी सेवाओ मे उनके लिए सुरक्षित स्थान रखे गए हैं। इनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की व्यवस्था है। अध्ययन हेतु सहायता दी जाती है। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वे एक ऐसे अधिकारी की नियुक्ति करें जो कि जनजातियो के कल्याण हेतु आवश्यक सुझाव देता रहे। राज्यो के राज्यपाल प्रतिवर्ष यह रिपोर्ट भेजते हैं। इनको नौकरियो मे, पदोन्नति योग्यता, आयु सीमा, चुनाव आदि सभी क्षेत्रो मे विशेष छूट दी गई है।

2 कल्याणकारी योजनाएँ—राष्ट्रपति द्वारा एक अनुसूचित जनजाति आयुक्त और सत्रह सहायक आयुक्त नियुक्त किए गए हैं। विभिन्न राज्यो मे इनके प्रशासन की अलग से व्यवस्था है। पृथक् समितियाँ, मन्त्री आदि नियुक्त किए गए हैं। भारत की विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे करोड़ो रुपये इनके कल्याण हेतु खर्च किए जा चुके हैं। इनके लिए परीक्षा पूर्व प्रशिक्षण केन्द्रो पर पथ प्रदर्शको की स्थापना की गई है। इनके लिए छात्रावासो की व्यवस्था भी की गई है।

3 अनुसन्धान सस्थाएँ—अनेक अनुसन्धान संस्थाएँ इन पर अध्ययन कर रही हैं। ये जनजातियो की कला, सस्कृति भाषा, रीति-रिवाजो आदि का गहन अध्ययन करती है। इससे जनजातियो का जीवन पूर्वापेक्षा बहुत अच्छा होता जा रहा है, लेकिन अभी भी बहुत कुछ करना शेष है।

4. अनेक समाजसेवी सस्थाओ ने भी जनजातियो के उत्थान के लिए अपने-अपने प्रयत्न किए हैं। इन सस्थाओ मे भारतीय आदिम जाति सेवक सघ (नई दिल्ली), आन्ध्र प्रदेश आदिम जाति सेवक सघ, रामकृष्ण मिशन, ठक्करबापा आश्रम, केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, भारतीय रेडक्रॉस, ईसाई मिशनरियाँ, आर्य समाज आदि प्रमुख हैं। आदिम जातियों और पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए महात्मा गांधी ने जो प्रयत्न किए, उन्हे भी भुलाया नही जा सकता। आर्य समाज

जनजातियो को हिन्दू समाज व्यवस्था मे सम्मिलित करने का पक्षधर रहा है। ईसाई मिशनरियो ने यद्यपि जनजातियो को भौतिक सुख-सुविधाएँ प्रदान की हैं, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य धर्म प्रचार रहा है जिससे अनेक नई समस्याएँ पैदा हुई हैं।

जनजातियो का साँविधानिक संरक्षण, सरकारी नौकरियो मे आरक्षण, जनजाति क्षेत्रो का प्रशासन और जनजाति विकास तथा कल्याण कार्यक्रम की दिशा मे सरकार के प्रयत्न

भारत सरकार के 1985 के वार्षिक विवरण मे अनुसूचित जातियो के विभिन्न सांविधानिक तथा प्रशासनिक पक्षा और उनके विकास और कल्याण कार्यक्रमो पर जो प्रकाश डाला गया है वह विस्तृत जानकारी प्रदान करता है। यह विवरण इस प्रकार है—

सविधान के अनुच्छेद 341 व 342 के प्रावधानो के अन्तर्गत जारी किए गए राष्ट्रपति के 15 आदेशो मे अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ उल्लिखित की गई हैं। 1981 की जनगणना के अनुसार देश की कुल आबादी मे अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ 23 51 प्रतिशत थीं। इसके अलावा कुछ राज्य सरकारो मे, अन्य पिछडे वर्ग के नाम से कुछ अन्य लोग, विमुक्त जातियो, खानाबदोश तथा अर्द्ध-खानाबदोश समुदायो का भी उल्लेख किया गया है। इन जातियो की आबादी के निश्चित आँकडे उपलब्ध नही हैं।

यद्यपि भारत के सविधान मे इन वर्गों की सुरक्षा तथा सरक्षण की व्यवस्था है, पचवर्षीय योजनाओ मे भी इन जातियो के उत्थान को राष्ट्रीय नीति का मुख्य लक्ष्य माना गया है।

साँविधानिक सरक्षण

जबकि भारत के सविधान मे अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जनजातियो तथा अन्य पिछडे वर्गों का शैक्षिक तथा आर्थिक दृष्टि से उत्थान करने, उनका परम्परागत सामाजिक पिछड़ापन तथा उनकी सामाजिक असमर्थताओ को दूर करने के उद्देश्य से सुरक्षा तथा सरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। मुख्य सरक्षण इस प्रकार हैं—

(1) अस्पृश्यता का उन्मूलन तथा सके किसी भी रूप में प्रचलन का निषध (अनुच्छेद 17),

(2) इन जातियो के शैक्षिक तथा आर्थिक हितो की रक्षा और उनका सभी प्रकार के शोषण तथा सामाजिक अन्याय से बचाव (अनुच्छेद 46),

(3) हिन्दुओ के सार्वजनिक धार्मिक सस्थानो के द्वारा समस्त हिन्दुओ के लिए खोलना (अनुच्छेद 25),

(4) दुकानो, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों, तालाबो, स्नान घाटो और ऐसी सडको तथा सार्वजनिक स्थानो का उपयोग करने पर लगी सभी रुकावटें

हटाना जिनका पूरा या कुछ व्यय सरकार उठाती है अथवा जो जनसाधारण के निमित्त समर्पित हैं [अनुच्छेद 15 (2)]

(5) किसी भी अनुसूचित जनजाति के हित मे सभी लोगो के स्वतन्त्रता पूर्वक आने जाने बसने तथा जायदाद प्राप्त करने के अधिकारो पर प्रतिबन्ध लगा सकने की व्यवस्था [अनुच्छेद 19 (5)]

(6) सरकार द्वारा सचालित अथवा सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षालयों मे प्रवेश पर किसी तरह के प्रतिबन्ध का निषेध [अनुच्छेद 29 (2)],

(7) राज्य को यह अधिकार देना है कि वह जन सेवाओ मे पिछडे वर्गों प्रतिनिधित्व अपर्याप्त होने पर, उनके लिए स्थान सुरक्षित करे। राज्य का यह दायित्व है कि सार्वजनिक नियुक्तियाँ करने मे अनुसूचित जातियो एव जनजातियो के हितो का ध्यान रखे (अनुच्छेद 16 और 335)

(8) ससद् तथा राज्य विधानसभाओ में अनुसूचित जातियों/जन जातियो को 25 जनवरी 1990 तक विशेष प्रतिनिधित्व देना (अनुच्छेद 330, 332 तथा 334)

(9) उनके कल्याण तथा हितो की सुरक्षा के प्रयोजन से राज्यो मे जनजाति सहलाकार परिषदो तथा पृथक् विभागो की स्थापना और केन्द्र म एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति (अनुच्छेद 164 तथा 338 और पाँचवी अनुसूची),

(10) अनुसूचित जाति तथा जनजाति क्षेत्रो मे प्रशासन तथा नियन्त्रण के लिए विशेष व्यवस्था (अनुच्छेद 244 और पाँचवी तथा छठी अनुसूचियाँ), और

(11) मनुष्यों के क्रय विक्रय तथा बेगार पर रोक (अनुच्छेद 23)।

अस्पृश्यता निवारण पद्धति

अस्पृश्यता कानून को अधिक व्यापक बनाने तथा इसके दाण्डिक उपबन्धो को और कठोर बनाने के लिए अस्पृश्यता (अपराध) सशोधन तथा प्रकीर्ण उपब ध अधिनियम 1976 द्वारा जो कि 19 नवम्बर 1976 को लागू हुआ था, अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955 मे व्यापक रूप स सशोधन किया गया था। इस सशोधन क साथ मूल अधिनियम का नाम बदलकर नागरिक अधिकार सरक्षण अधिनियम 1955 रख दिया गया है। इस अधिनियम मे किसी व्यक्ति को अस्पृश्यता के उन्मूलन से प्राप्त अधिकारो का अस्पृश्यता के आधार पर प्रयोग करने स रोकने के लिए दण्ड देने की व्यवस्था की गई है। परवर्ती अपराधों के लिए और अधिक दण्ड देने/जुर्माना लगाने की भी व्यवस्था की गई है।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की धारा 8 के उपबन्धो के अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति अधिनियम के अन्तर्गत किसी अपराध को करने का दोषी पाया जाए तो दोष सिद्धि की तारीख से छ वष की अवधि तक ससद् तथा राज्य विधान मण्डलो के चुनाव लडने के लिए अयोग्य हो जाना है।

नागरिक अधिकार सरक्षण अधिनियम, 1955 समय-समय पर राज्य सरकारों द्वारा भी लागू किया जाता है। अधिनियम के एक उपबन्ध के अन्तर्गत

केन्द्रीय सरकार अधिनियम की धारा 15-क के उपबन्धो के कार्यकरण के बारे मे हर वर्ष एक वार्षिक रिपोर्ट ससद् की प्रत्येक सभा के समक्ष रखती है।

नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम

नागरिक अधिकार सरक्षण अधिनियम, 1955 की धारा 15-क के अन्तर्गत किए गए उपबन्धो के अनुसरण मे राज्य सरकारो तथा केन्द्र शासित प्रदेशो को केन्द्र से सहायता दी जाती है। 20 राज्यो ने नागरिक अधिकारो के सरक्षण से सम्बन्धित मामलो में पीडित अनुसूचित जातियो के लोगो को कानूनी सहायता देने की व्यवस्था की है। नागरिक अधिकार सरक्षण अधिनियम के उपबन्धो का उल्लघन करने के लिए मुकदमे दायर करने और उन पर निगरानी रखने के लिए 19 राज्यो ने विशेष कक्ष/दस्ते स्थापित किए हैं। दिसम्बर, 1982 तक 18 राज्यो न अस्पृश्यता की समस्याओ तथा इससे सम्बद्ध मामलो की आवधिक समीक्षा करने तथा नागरिक अधिकार सरक्षण अधिनियम को प्रभावी ढग से लागू करने के लिए विभिन्न उपाय सुझाने हेतु विभिन्न स्तरो पर समितियाँ स्थापित की थी। नागरिक अधिकार सरक्षण अधिनियम के उपबन्धो के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए जिसके लिए नागरिक अधिकार सरक्षण अधिनियम के क्रियान्वयन सम्बन्धी केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजना के अन्तर्गत राज्यो को समतुल्य आधार पर केन्द्रीय सहायता दी जाती है, समय-समय पर राज्यों को आवश्यक दिशा निर्देश तथा अनुदेश जारी किए जाते हैं। नागरिक अधिकार सरक्षण अधिनियम के क्रियान्वयन की केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजना के अन्तर्गत विद्यमान शुष्क शौचालयो को बदलकर सफाई कर्मचारियो को मल उठाने के काम से मुक्त करने का कार्य भी आरम्भ किया गया है।

विधान मण्डलो का प्रतिनिधित्व

सविधान के अनुच्छेद 330 तथा 332 के अन्तर्गत अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो की जनसख्या के अनुपात मे इनके लिए लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओ मे स्थान आरक्षित किए जाते हैं। आरम्भ मे यह रियायत सविधान के लागू होने से 10 वर्ष तक की अवधि के लिए थी किन्तु सविधान मे सशोधन करके इसे 25 जनवरी, 1999 तक बढा दिया गया है। ससदीय अधिनियमो म विधान मण्डल वाले केन्द्र शासित प्रदेशो मे इसी प्रकार का आरक्षण करने की व्यवस्था है। राज्य सभा तथा राज्य विधान परिषदो मे कोई स्थान आरक्षित नहीं किए जाते।

पचायती राज लागू होने पर अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के लिए ग्राम पचायतो तथा अन्य स्थानीय निकायो म स्थान आरक्षित करने की व्यवस्था है ताकि इनमे उनका समुचित प्रतिनिधित्व हो सके।

सेवाओ मे आरक्षण

सविधान के अनुच्छेद 335 मे यह व्यवस्था है कि केन्द्र अथवा राज्यो के

कार्यों के सम्बन्ध मे पदो तथा सेवाओ के लिए नियुक्ति करते समय प्रशासनिक कुशलता को बनाए रखते हुए अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के दावो पर विचार किया जाएगा। अनुच्छेद 16(4) पिछडे वर्गों के लिए उन सेवाओ मे, जिनमे उनका प्रतिनिधित्व पर्याप्त न हो आरक्षण करने की अनुमति देता है। इन उपबन्धो के अनुसरण मे भारत सरकार ने अपने नियन्त्रण के अधीन आने वाली सेवाओ मे अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के लिए आरक्षण किया है।

अखिल भारतीय आधार पर खुली प्रतियोगिता के द्वारा जिन पदो पर भर्ती की जाती है, उनमे अनुसूचित जातियो के लिए 15 प्रतिशत रिक्तियाँ आरक्षित की जाती हैं और अखिल भारतीय स्तर की किसी अन्य तरीके से की जाने वाली भर्ती के मामलो मे $16\frac{2}{3}$ रिक्त स्थान आरक्षित किए जाते हैं। दोनो मामलो मे अनुसूचित जनजातियो के लिए $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत रिक्त स्थान आरक्षित किए जाते हैं। समूह 'ग तथा 'घ' पदो म, जिनमे आम तौर पर स्थानीय अथवा क्षेत्रीय उम्मीदवार आते हैं सीधी भर्ती के मामले म सम्बन्धित राज्यो तथा केन्द्र शासित प्रदेशो मे अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो की जनसख्या के अनुपात मे स्थान आरक्षित किए जाते हैं।

समूह 'ख', 'ग' तथा 'घ' मे विभागीय उम्मीदवारो के लिए सीमित प्रतियोगी परीक्षाओ के आधार पर की जाने वाली पदोन्नतियो तथा समूह 'ख', 'ग' तथा 'घ' और समूह 'क' म सबसे निचले स्तर के ग्रेडो अथवा उन सेवाओ मे जिनमे सीधी भर्ती, यदि कोई हो $66\frac{2}{3}$ प्रतिशत से अधिक न हो, तो अनुसूचित जातियो के लिए 15 प्रतिशत और अनुसूचित जनजातियो के लिए $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत की दर से रिक्त स्थान आरक्षित किए जाते हैं। समूह क', 'ख', 'ग' तथा 'घ' के पदो उन ग्रेडो अथवा सेवाओ मे, जिनमे सीधी भर्ती, यदि कोई हो $66\frac{2}{3}$ प्रतिशत से अधिक न हो, वरिष्ठता तथा उपयुक्तता के आधार पर पदोन्नति के मामले मे अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

समूह 'क' के 2,250 रुपए प्रतिमास या इससे कम वेतन वाले पदों पर चयन द्वारा पदोन्नति करने के मामले मे अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियों के उन अधिकारियो को जो वरिष्ठता के आधार पर विचार किए जाने योग्य हैं और जो पदोन्नति के लिए रिक्त स्थानो की निर्धारित सख्या के अन्दर आते हैं, पदोन्नति के लिए उपयुक्त पाए जाने पर चयन-सूची मे सम्मिलित कर लिया जाता है।

इन जातियों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से कुछ रियायतें दी जाती हैं जो इस प्रकार हैं—(1) आयु सीमा म छूट, (2) उपयुक्तता के मानदण्ड मे छूट, (3) पदो के लिए चयन बशर्ते वे अनुपयुक्त न पाए जाएँ, (4) जहाँ कहीं

आवश्यक हो, अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के उम्मीदवारो के लिए अनुभव सम्बन्धी योग्यताओ मे छूट, (5) अनुसन्धान के लिए अपेक्षित समूह 'क' के सबसे निचले स्तर के ग्रेड के वैज्ञानिक तथा तकनीकी पदो का भी आरक्षण योजना मे सम्मिलित किया जाना। समूह 'ग' तथा 'घ' (श्रेणी तृतीय तथा चतुर्थ) के पदो मे अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के लिए आरक्षित रिक्त स्थानो की रोजगार कार्यालयो को सूचना देने अथवा उनके बारे मे अखबारो मे विज्ञापन देने के साथ-साथ अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो की अधिक संख्या वाले क्षेत्रो मे स्थित आकाशवाणी केन्द्रो से इन रिक्त स्थानो के बारे मे प्रसारण किया जाता है। इनकी सूचना अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो की स्वयसेवी सस्थाओ तथा राज्यो और केन्द्र शासित प्रदेशो के अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति कल्याण निदेशको को भेजी जाती है। सघ लोक सेवा आयोग के माध्यम से परीक्षा से भिन्न तरीके से भरे जाने वाले रिक्त स्थानो को पहली बार केवल अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के लिए विज्ञापित किया जाता है और पहली बार, निष्फल हो जाने पर दोबारा विज्ञापन दिया जाता है और अन्य समुदायों के उम्मीदवारो पर तब विचार किया जाता है जब अनुसूचित जातियो/जनजातियो के उम्मीदवार उपलब्ध न हो रहे हो। अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के लिए किए जाने वाले आरक्षण (जिनमे आगे ले जाए गए रिक्त पद भी सम्मिलित हैं) की अधिकतम सीमा कुल रिक्त स्थानो की सख्या का 50 प्रतिशत है। सरकारी क्षेत्र के उपक्रमो द्वारा भी आरक्षण योजना अपनाई जा रही है। सरकार से पर्याप्त मात्रा मे सहायता अनुदान प्राप्त करने वाली स्वयसेवी एजेन्सियो के लिए भी एक शर्त के रूप मे यह अपेक्षित है कि वे अपने प्रतिष्ठानो मे आरक्षण योजना की कुछ विशिष्ट बातो को अपनाएँ।

आरक्षण लागू करने के लिए अखिल भारतीय आधार पर खुली प्रतियोगिता द्वारा की जाने वाली सीधी भर्ती और खुली प्रतियोगिता से भिन्न तरीके से की जाने वाली भर्ती तथा पदोन्नति के मामले मे 40 प्वाइण्ट का आदर्श रोस्टर निर्धारित किया गया है तथा स्थानीय और क्षेत्रीय आधार पर की जाने वाली भर्ती के लिए 100 प्वाइण्ट का रोस्टर निर्धारित किया गया है। यदि किसी सेवा या सवर्ग मे रिक्त पदो की सख्या बहुत ही कम है तो इस प्रयोजन के लिए छुट-पुट पदो को सीधी भर्ती के साथ सम्मिलित किया जाता है। सरकार द्वारा जाँच किए जाने के लिए भर्ती प्राधिकारियो के लिए यह अपेक्षित है कि वे वार्षिक विवरण प्रस्तुत करें। विशेष प्रतिनिधित्व आदेशो का क्रियान्वयन सुनिश्चित करने के लिए सरकार के विभिन्न मन्त्रालयो मे सम्पर्क अधिकारी नियुक्त किए गए हैं।

राज्य सरकारो ने भी सविधान की सातवी अनुसूची की मद सख्या 41 के तहत इन श्रेणियों के लिए राज्य सेवाओ मे आरक्षण देने और उनका प्रतिनिधित्व बढाने हेतु नियम बनाए हैं। परन्तु राज्य सरकार की सेवाओ के अन्तर्गत

दिया जाने वाला आरक्षण एकाधिकारिक रूप से राज्य सरकारों के ही क्षेत्राधिकार में है।

अनुसूचित और जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन

आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्र संविधान के अनुच्छेद 244 तथा पचम अनुसूची के अन्तर्गत अधिसूचित किए गए हैं। सम्बन्धित राज्यों के राज्यपाल अपने राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजते हैं।

असम, मेघालय तथा मिजोरम के जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन संविधान की छठी अनुसूची के उपबन्धों के अधीन किया जाता है। अनुसूची के अन्तर्गत उन्हें स्वायत्तशासी जिलों म बाँट दिया गया है। इस प्रकार के आठ जिले हैं—असम में उत्तरी कछार तथा मिकिर पहाड़ी जिले, मेघालय में संयुक्त खासी, जयन्तिया, जवाई और गारो पर्वतीय जिले तथा मिजोरम में चकमा, लाखेर और पावी जिले। प्रत्येक स्वायत्तशासी जिले में एक जिला परिषद् है जिसमें अधिक से अधिक 30 सदस्य होते हैं जिनमें से अधिक से अधिक 4 सदस्य मनोनीत किए जाते हैं और शेष वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं। परिषदों को कुछ प्रशासनिक, विधायी तथा न्यायिक अधिकार दिए गए हैं।

कल्याण तथा सलाहकार एजेन्सियाँ—भारत सरकार का गृह मन्त्रालय अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के विकास कार्यक्रमों की समग्र नीति बनाने, उनकी आयोजना तथा समन्वय करने के लिए प्रमुख मन्त्रालय है। प्रत्येक केन्द्रीय मन्त्रालय तथा विभाग अपने क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रमुख मन्त्रालय अथवा विभाग है। गृह मन्त्रालय केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों के साथ सम्पर्क बनाए रखता है।

जुलाई, 1978 में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए एक आयोग का गठन किया गया था जिसमें एक अध्यक्ष तथा अधिकतम चार अन्य सदस्य सम्मिलित थे। इन सदस्यों में एक विशेष अधिकारी भी है जिसे संविधान के अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत नियुक्त किया जाता है तथा जिसे अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयुक्त के नाम से जाना जाता है। आयोग का कार्य सांविधानिक संरक्षणों, सरकारी सेवाओं में आरक्षण से सम्बन्धित सभी मामलों की जाँच पड़ताल करना, अस्पृश्यता तथा उससे उत्पन्न घृणित भेदभाव को समाप्त करने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 के क्रियान्वयन के बारे म अध्ययन करना और अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के व्यक्तियों के प्रति किए जाने वाले अपराधों के लिए जिम्मेदार सामाजिक-आर्थिक तथा अन्य सगत परिस्थितियों का पता लगाना है ताकि समुचित उपचारात्मक उपाय सुझाए जा सकें।

संसदीय समिति—भारत सरकार ने अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए सांविधानिक सरक्षणो के क्रियान्वयन की जांच करने के लिए तीन ससदीय समिनियाँ गठिन की । पहली समिति 1968 मे, दूसरी समिति 1971 मे और तीसरी समिति 1973 मे गठित की गई । यह एक स्थायी ससदीय समिति है और इसके सदस्यो का कार्यकाल एक वर्ष होता है ।

राज्यो मे कल्याण विभाग—राज्य सरकारो तथा केन्द्र शासित प्रदेशो के प्रशासनो ने अनुसूचित जातिया तथा अनुसूचिन जनजातियो और अन्य पिछडे वर्गों के कल्याण का कार्य देखने के लिए अलग विभाग बनाए हैं । विभिन्न राज्यो मे इस सम्बन्ध मे प्रशासनिक ढांचा अलग-अलग है । बिहार, मध्य प्रदेश और उडीसा मे सविधान के अनुच्छेद 164 मे निर्धारित व्यवस्था के अनुसार जनजातीय कल्याण कार्य देखने के लिए पृथक मन्त्री नियुक्त किए गए हैं । कुछ अन्य राज्यो ने केन्द्र की ससदीय समिति के अनुरूप राज्य विधान मण्डलो के सदस्यो की समितियाँ गठित की हैं ।

अनुसूचिन क्षेत्र वाले सभी राज्यो तथा तमिलनाडु और पश्चिमी बगाल ने राज्य मे अनुसूचित जनजातियो के कल्याण तथा उत्थान से सम्बन्धिन मामलो के बारे मे सलाह देने के लिए सविधान की पचम अनुसूची मे किए गए उपबन्धो के अनुसार जनजातीय सलाहकार परिषदें स्थापित की हैं ।

स्वैच्छिक सगठन

कई स्वैच्छिक सगठन भी अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के कल्याण के लिए कार्य करते हैं । अखिल भारतीय स्तर के महत्त्वपूर्ण सगठन इस प्रकार हैं—हरिजन सेवक सघ, दिल्ली, भारतीय रेडक्रॉस सोसाइटी, नई दिल्ली हिन्द स्वीपर सेवक समाज, नई दिल्ली, रामकृष्ण मिशन, नरेन्द्रपुर, पश्चिमी बगाल, भारतीय आदिम जाति सेवक सघ, नई दिल्ली, आन्ध्र राष्ट्र आदिम जाति सेवक सघ, नेल्लूर, रामकृष्ण मिशन, चेरापूंजी, रांची पुरी, सिलचर, शिलांग और पुरुलिया तथा भारतीय समाज उन्नति मण्डल, भीलवडी, महाराष्ट्र, ठक्कर बापा आश्रम, नुमाखण्डी उडीसा, भारत सेवक समाज, पुणे तथा सामाजिक कार्य एव शोध केन्द्र तिलोनिया, राजस्थान ।

सरकार अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचिन जनजातियो के बीच कार्य कर रहे गैर-सरकारी स्वैच्छिक सगठनो को सहायता अनुदान देती है ।

कल्याण योजनाएँ

अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के कल्याण पर केन्द्र तथा राज्य दोनो सरकारो द्वारा विशेष ध्यान दिया जाता है । इनके कल्याण के लिए प्रत्येक पचवर्षीय योजना मे विशेष कार्यक्रम आरम्भ किए गए हैं और इन विशेष कार्यक्रमो पर किए गए निवेश की मात्रा मे प्रत्येक योजना मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है जैसा कि अग्रिम सारणी मे दिखाया गया है—

(करोड़ रुपयों में)

	अवधि	परिव्यय	व्यय
पहली योजना	1951-56		30 04
दूसरी योजना	1956 61		79 41
तीसरी योजना	1961-66		100 40
वार्षिक योजना	1966-69		68 50
चौथी योजना	1969-74		172 70
पांचवीं योजना	1974-78		296 19
छठी योजना	1980-85		
(1) केन्द्रीय क्षेत्र		240	
(2) राज्य क्षेत्र		720	
(3) जनजातीय क्षेत्र में भी उपयोजनाओं के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता		470	
(4) अनुसूचित जातियों के विकास की सघटक योजनाओं के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता		600	

योजनागत कार्यक्रम

इसके अलावा राज्य सरकारें अपने गैर-योजनागत बजट में से भी इन वर्गों के कल्याण हेतु काफी धन व्यय करती हैं। केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजनाओं में से कुछ महत्वपूर्ण योजनाएँ इस प्रकार हैं—

शिक्षण तथा उससे सम्बद्ध योजना—केन्द्र/राज्य सरकारों तथा सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों, बैंक सेवाओं, भारतीय जीवन बीमा/साधारण बीमा निगम के अधीन आने वाले विभिन्न पदों तथा सेवाओं में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के प्रतिनिधित्व में सुधार लाने की दृष्टि से देश के विभिन्न भागों में परीक्षापूर्व शिक्षण केन्द्र स्थापित किए गए हैं जिनमें अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के उम्मीदवारों को सघ लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग तथा अन्य भर्ती निकायों द्वारा आयोजित की जाने वाली विभिन्न प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिए तैयार किया जाता है।

मैट्रिक के बाद दी जाने वाली छात्रवृत्तियाँ—अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए मैट्रिक के उपरान्त छात्रवृत्ति की योजना 1944-45 में देश के विभिन्न विद्यालयों तथा कालिजों में मैट्रिक के उपरान्त अध्ययन करने वाले अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के छात्रों को वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य से प्रारम्भ की गई थी ताकि वे अपनी पढ़ाई पूरी कर सकें। अनुसूचित

जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के छात्रवृत्ति पाने वाले छात्रो की सख्या 1983-84 मे बढकर 8·33 लाख हो गई तथा 1984-85 मे इस सख्या के 9 लाख से भी अधिक हो जाने की सम्भावना थी ।

लड़कियों के लिए छात्रावास—राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेशो की सरकारो को उन स्थानो मे नए छात्रावासो का निर्माण करने तथा विद्यमान छात्रावासो का विस्तार करने के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है, जहाँ इन वर्गो की लडकियो के लिए इस प्रकार की सुविधाएँ पर्याप्त नही हैं ।

अनुसन्धान और प्रशिक्षण—केन्द्रीय सरकार, अनुसूचित जातियो के आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक विकास के लिए कार्यक्रम तैयार करने, उनका क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन करने से सम्बन्धित समस्याओ के बारे मे अल्पावधि कार्योन्मुख अध्ययन करने हेतु प्रतिष्ठित तथा सक्षम सगठनो/सस्थाओ को शत-प्रतिशत वित्तीय सहायता देती है । लेकिन इन अध्ययनो मे इन समुदायो की आर्थिक समस्याओ पर बल दिया जाता है ।

पुस्तक-बैंक योजना—यह योजना अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के उन छात्रो के लिए है जो देश मे चिकित्सा इजीनियरी के डिग्री पाठ्यक्रमो मे अध्ययन कर रहे हैं । इस योजना के अन्तर्गत उन छात्रो को पाठ्य-पुस्तके उपलब्ध कराई जाती हैं जो राजकीय सहायता के बिना महँगी पढाई जारी नही रख सकते । तीन विद्यार्थियो पर पुस्तको का एक सैट दिया जाता है तथा एक सैट की पुस्तको का जीवनकाल 3 साल निर्धारित है ।

मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्तियाँ—यह योजना 1977-78 मे आरम्भ की गई और इसका उद्देश्य उन बच्चो का शैक्षिक विकास करना है जो शुष्क शौचालयो की सफाई करने, चर्मशोधन तथा खाल-निकालने जैसे तथा कथित अस्वच्छ उपायो/कार्यों मे लगे हुए हैं । इस योजना के अन्तर्गत छठी मे दसवी कक्षा तक के प्रत्येक छात्रो को प्रतिमाह 145 रुपए की छात्रवृत्ति दी जाती है ।

अनुसूचित जातियों के विकास के लिए नीति—अनुसूचित जातियो के विकास मे तेजी लाने के लिए तीन सूत्री नीति तैयार की गई है—

(क) केन्द्रीय मन्त्रालयो तथा राज्यो की विशेष सघटक योजनाएँ,

(ख) राज्यो की अनुसूचित जातियो का विशेष सघटक योजनाओ के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता तथा

(ग) राज्यो मे अनुसूचित जाति विकास निगम ।

विशेष सघटक योजनाओ मे विकास के सामान्य क्षेत्रो के अन्तर्गत ऐसी योजनाओ को जिनसे अनुसूचित जातियो को लाभ हो, निर्दिष्ट करने, प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत सभी विभाज्य कार्यक्रमो के लिए निधियो की मात्रा का निर्धारण करने तथा विशिष्ट लक्ष्य निर्धारित करने की व्यवस्था है ताकि यह पता लग सके कि प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत इन कार्यक्रमों से कितने परिवारो को लाभ होगा । इस सबके पीछे मूल उद्देश्य यह है कि अनुसूचित जाति के परिवारो की आमदनी पर्याप्त रूप से

बढ़ाने म उनकी मदद की जाए। विशेष सघटक योजनाओ के अन्तर्गत बुनियादी सेवाएँ तथा सुविधाएँ उपलब्ध कराने और सामाजिक तथा शैक्षिक विकास के अवसर प्रदान कराने के कार्यक्रम भी शामिल किए जाएँगे।

छठी योजनावधि मे विशेष सघटक योजना के लिए 4,481 91 करोड रुपये का प्रावधान किया गया है। यह बँटवारा योजना के कुल व्यय 46,831·30 करोड रुपयो मे से किया गया है। केन्द्रीय सरकार के मन्त्रालयो विभागो ने भी अनुसूचित जातियो के लिए विशेष सघटक योजनाएं तैयार करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक केवल आठ केन्द्रीय मन्त्रालयो विभागो ने इस प्रकार की योजनाएँ तैयार की हैं। बाकी मन्त्रालयो/विभागो को भी ऐसी योजनाएँ तैयार करने के लिए कहा गया है।

विशेष केन्द्रीय सहायता—राज्यो द्वारा अनुसूचित जातियो के लिए विशेष सघटक योजनाओ को सरकार विशेष केन्द्रीय सहायता देती है। अनुसूचित जातियो के लिए राज्यो की योजनाओ व कार्यक्रमो के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता अतिरिक्त रूप से दी जाती है तथा विशिष्ट योजनाओ के सुनिश्चित ढाँचे के मुताबिक यह सहायता नही दी जाती। अनुसूचित जातियो के विकास के लिए किए जा रहे राज्यो के प्रयत्नो को उनकी सम्पूर्णता मे आंक कर ही ऐसी सहायता दी जाती है। राज्यो द्वारा यह अतिरिक्त केन्द्रीय सहायता उनकी विशेष सघटक योजनाओ के परिव्यय के साथ जोडी जाती है और इसका उपयोग केवल आय वृद्धि करने वाली आर्थिक विकास योजनाओं से किया जाता है। अभिप्राय यह है कि गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे जितने भी अनुसूचित जातियो के व्यक्ति हैं उनमे से अधिक से अधिक लोगो का आर्थिक स्थिति मे सुधार हो सके। यह सहायता राज्य सरकारो तथा केन्द्र शासित प्रदेशो के प्रशासनो के बीच अनुसूचित जाति के लोगो की सख्या, राज्य के पिछडेपन की स्थिति और राज्य सरकारो के प्रयास को ध्यान मे रखते हुए वितरित कर दी जाती है।

अनुसूचित जाति विकास निगम—आर्थिक विकास से सम्बन्धित ऐसी योजनाओ मे जिनमे बैंक की जरूरत होती है, अनुसूचित जाति के परिवारो को वित्तीय सस्थानो से आर्थिक सहायता प्राप्त होनी है। अनुसूचित जाति विकास निगम भी इन परिवारो को अल्प राशि वाली सहायता देकर वित्तीय सस्थानो से मिलने वाली सहायता मे वृद्धि करते हैं।

ये निगम 17 राज्यो तथा 2 केन्द्र शासित प्रदेशो (दिल्ली तथा चण्डीगढ) मे स्थापित किए गए हैं। सरकार द्वारा राज्य सरकारो को इन निगमो की शेयर-पूंजी मे 49 51 के अनुपात मे पूंजी निवेश के लिए अनुदान दिए जाते हैं।

जनजातीय विकास

पाँचवी योजना के दौरान जनजातीय विकास के लिए भी एक नई योजना बनाई गई। इसके अनुसार जिन इलाको मे 50 प्रतिशत व इससे अधिक प्रतिशत

जनजाति के लोग रहते हैं ऐसे इलाको के लिए 19 राज्यो और केन्द्र-शासित प्रदेशो मे उप-योजनाएँ बनाई गई। आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर, उडीसा, राजस्थान, तमिलनाडु, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बगाल, अण्डमान निकोबार द्वीप समूह और गोआ, दमन व दीव ऐसे क्षेत्र है जिनमे ऐसी योजनाएँ बनाई गई। सिक्किम म जनजाति उप-योजना क्षेत्र अगस्त, 1980 म तय किए गए। कुछ राज्यो और केन्द्र शासित प्रदेशो मे जनजातियो की सख्या बहुत अधिक है, जैसे अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड, लक्षद्वीप और दादरा और नागर हवेली। इन्ह उप-योजनाओ के अन्तर्गत नही लिया गया क्योकि इन राज्यो की योजनाएँ वस्तुत जनजाति विकास के लिए हैं।

जनजाति के लिए बनी उप योजनाओ के मुख्य उद्देश्य है—

(1) जनजाति क्षेत्रो और अन्य क्षेत्रो के बीच विकास के अन्तर को कम करना।

(2) जनजातियो के रहन-सहन को ऊँचा उठाना।

इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए जनजातियो का शोषण समाप्त करने, विशेषकर भूमि, महाजनी, कृषि और वन की उपज मे अनाचार समाप्त करने आदि को उच्च प्राथमिकता दी गई है। जनजाति क्षेत्रो के समेकित विकास के लिए जनजाति उप योजनाओ के अधीन सम्पूर्ण भौतिक और वित्तीय उपायो की व्यवस्था है। इन क्षेत्रीय उप-योजनाओ की धनराशि केन्द्रीय मन्त्रालयो और विभागो के केन्द्रीय परिव्यय, राज्य योजनाओ के सस्थागत वित्त तथा विशेष केन्द्रीय सहायता मे प्राप्त होती है। पांचवी योजना के दौरान विशेष केन्द्रीय सहायता 120 करोड रुपये थी। छठी योजना मे यह सहायता 470 करोड रुपए रखी गई।

19 राज्यो और केन्द्र शासित प्रदेशो के जनजाति उप-योजना क्षेत्रो का 180 समेकित जनजाति विकास परियोजनाओ मे परिचालन इकाइयो के रूप मे विभाजित किया गया है।

छठी योजना के दौरान जनजातियो के ऐसे क्षेत्रो को, जिनकी कुल आबादी 10 000 तथा जनजातियो की आबादी 50 प्रतिशत अथवा उससे अधिक है उप-योजना की नीति के अनुरूप सशोधित क्षेत्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लिया गया है। उप योजना की नीति लचीली है ताकि उसे स्थानीय स्थिति के अनुरूप चलाया जा सके। कार्यक्रमो के अन्तर्गत कृषि, सिचाई, हाट व्यवस्था और सहकारिता, शिक्षा आदि हैं। बहुत ही पिछडे हुए जनजाति समूहो की ओर विशेष ध्यान देने के लिए अलग से योजनाएँ बनाई जाती हैं।

जनजाति विकास कार्यक्रम शुरू से ही दो नीतियो को ध्यान मे रखकर चलाया जा रहा है–(1) इनके जीवन स्तर को उठाने के लिए विकास गतिविधियो को बढावा देना और (2) कानूनी तथा प्रशासनिक उपायो द्वारा इनके हितो का सरक्षण।

जनजाति अनुसन्धान संस्थान

जनजाति अनुसंधान तथा प्रशिक्षण संस्थान आन्ध्र प्रदेश, असम; बिहार, गुजरात, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में काम कर रहे हैं। इन्होंने जनजातीय उप-योजनाओं की परियोजना रिपोर्ट तैयार करने, इनकी निगरानी और मूल्यांकन करने, अनुसन्धान-अध्ययन और कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के मामले में बड़ा उपयोगी काम किया है।

भारत की कुछ प्रमुख जनजातियाँ एवं उनकी स्थिति
(Some Main Tribes of India and Their Situation)

यहाँ हम भारत की कुछ प्रमुख जनजातियों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे—

(1) गारो (Garo)

गारो लोग प्रधानतः मेघालय की गारो पहाड़ियों के कामरूप तथा असम के ग्वालपाड़ा जिले में रहते हैं। मैमनसिंह जिले में भी इनकी आबादी है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार गारो की पूरी आबादी 2,66,645* है। गारो 'बारा' या 'लोडो' नामक बोली बोलते हैं जो तिब्बती, बर्मी भाषा परिवार के अन्तर्गत असमी-बर्मी भाषा की एक उपश्रेणी है। गारो के अलावा 'लोडो' अन्य दूसरी जनजातियों की भी भाषा है और इस कारण बोली में साम्य है। परन्तु गारो और कछारी की बोलियों में बहुत अधिक साम्य है। इस आधार पर प्लेफेयर का मत है कि दोनों जनजातियाँ मूलतः एक ही थीं परन्तु सांस्कृतिक मामलों में इस समय भिन्नता भी कम नहीं है। मंगोल प्रजाति के विशिष्ट प्रभाव के कारण इनके शरीर का रंग पीला, चेहरा छोटा, परन्तु चौड़ापन लिए और कद नाटा होता है। मेजर प्लेफेयर के अनुसार साधारणतया पुरुषों की ऊँचाई 156·2 से मी (5′ 1½″) और स्त्रियों की 147·3 से मी· (4′ 10″) होती है। शरीर की बनावट हृष्ट-पुष्ट होती है और वे देखने में हट्टे कट्टे होते हैं।

भौगोलिक एवं आर्थिक दृष्टि से गारो दो श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—प्रथम वे जो पहाड़ी हिस्से में रहते हैं और झूम प्रणाली की अस्थाई कृषि करते हैं और दूसरे, वे जो मैदान में रहते हैं और अधिकांशतः मछली मारकर जीवनयापन करते हैं। प्रथम को स्थानीय बोली में पहाड़िया और दूसरे को दम्बदानी की संज्ञा दी जाती है। पहाड़ पर रहने वालों का मुख्य पेशा खेती है। किसी स्थान के जंगलों को जला कर वे दो तीन वर्ष तक धान आदि पैदा करते हैं, फिर उसे छोड़ कर दूसरे स्थान के जंगलों को जला कर खेत तैयार करते हैं। धान के अलावा रुई, बाजरा, आलू, मिरची इत्यादि भी पैदा करते हैं। फलों में विशेषतः नारंगी की बागवानी करते हैं। इनके कृषि सम्बन्धी औजार भी अनोखे और अपर्याप्त हैं। गारो के मकान बाँस के बने होते हैं। गारो की पोशाक भी साधारण होती है। पुरुष साधारणतया 'गांडो' नामक वस्त्र कमर में लपेटे रहते हैं। यह

पीले रंग का टुकडा होता है जिसको किनारी लाल रग की बनी होती है। सिर पर पगडी रखने की परम्परा है। सर्दी के मौसम म एक सूती चादर से काम चल जाता है। औरतें भी साये की तरह कपडे का टुकडा कमर के चारो ओर लपेटे रहती हैं जिसे स्थानीय भाषा मे रिकिंग कहा जाता है। गारो औरतो के आभूषण भी अनेक नही हैं। पुरुष और नारी दोनो ही कानो मे बालियाँ पहनते हैं। य बालियाँ कांसे की बनी होती हैं। मर्द 12 से 20 बालियाँ और औरतें 50 बालियाँ तक पहनती है। इतनी अधिक बालियां पहनने के कारण औरतो के कान फट कर दो हिस्सो मे विभक्त हो जाते हैं। कान के ऊपरी हिस्से मे छोटी तथा पतली बालियाँ पहनी जाती है। चाँदी की चूडियाँ और मूंगो की मालाएँ भी पहनी जाती हैं। अपने पति के निधन और अन्त्येष्टि क्रिया के समय औरतें आभूषण, विशेषतया कानो की बालियाँ निकाल देती है और पुन गर्मी की समाप्ति पर पहन लेती हैं।

गारो का सामाजिक सगठन मातृसत्तात्मक है। परिवार मे औरतो का स्थान विशिष्ट है। गारो परिवार का सगठन पति-पत्नी तथा उनकी पुत्री सन्तानो को मिलाकर होता है। उनके लडके 'नक पाण्टे' नामक युवा गृहो मे रहते हैं। ये युवा गृह गारो युवको के प्रशिक्षण केन्द्र है। प्रत्येक गाँव मे एक युवा गृह होता है। मैदानो मे इसका प्रचलन कम है। अविवाहित युवक ऐसे ही गृहो मे रहते हैं और दोनो समय माता-पिता के साथ खाना खाते है।

अविवाहित लडकियाँ परिवार मे रहती हैं। लडकियो मे से एक उत्तराधिकारिणी निर्वाचित कर ली जाती है, जिसे 'नोकना' कहा जाता है। नोकना का निर्वाचन माता-पिता की सहमति से होता है। मतभेद होने पर माता की सहमति मान्य समझी जाती है। नोकना सबसे बडी अथवा सबसे छोटी या कोई दूसरी पुत्री भी होती है। इस निर्वाचन मे लडकी की विलक्षणता और निपुणता का अन्दाज लगाया जाता है और उसमे सबसे दक्ष को 'नोकना' चुना जाता है, और वही सभी पारिवारिक सम्पत्ति की मालकिन होती है। उसकी अन्य बहनें अपने पतियो के साथ साधारणतः उसी गाँव मे अलग मकान बनाकर रहती है। नोकना की अनुमति से वे उसके परिवार मे भी रह सकती है। यदि किसी नोकना की पुत्री नही रहती है, तो वह अपनी बहन की पुत्री को गोद ले लेती है। यह प्रथा बहुत प्रचलित है। बहनें नोकना को गोद दे देना अपना कर्त्तव्य समझती हैं। यदि कोई नोकना पुत्रीहीन रही और किसी लडकी को गोद नहीं ले सकी, तो सम्पत्ति विवाहित बहनो के बीच बँट जाती है। नोकना के पति को नोकरोम कहा जाता है जो पत्नी के घर मे रहता है और सम्पत्ति की देख-रेख करता है।

गारो की पीढी औरतो के नाम से चलती है। जितने लोगो के पूर्वज मूलतः एक ही होते हैं, वे एक ही मचोग या मातृत्व के सदस्य कहलाते हैं। ऐसा विश्वास है कि एक मचोग के सभी सदस्यो के मध्य रक्त-सम्बन्ध है। ये आपस मे शादी-ब्याह नही

करते हैं। मचोग के अतिरिक्त गारो जनजाति तीन सामाजिक श्रेणियों में विभक्त है–काराक, मोकीन और साँगमा। प्रत्येक श्रेणी मे कितने ही मचोग होते हैं।

विवाह के सिलसिले मे भी निश्चित नियम है जिसका सीमित परिवारो मे से ही निर्वाचन करना पडता है। फुफेरे भाई से शादी करना गारो लडकियो के लिए आवश्यक है। फुफेरे भाई के अभाव मे उसका इसी परिवार के अन्य सदस्यो से शादी करना अच्छा समझा जाता है।

'कोरा देव' इनका इष्ट देव है। इनके घरो मे काँसे की एक छोटी थाली, जिस पर कुछ आकृतियाँ बनी रहती हैं, किसी जगह लटका कर कोरा देव मानकर पूजा जाता है तथा उसे बलि चढाकर प्रसन्न किया जाता है। इनका विश्वास है कि जब घर वाले सोते है उस समय कोरा देव थाली से निकल कर आहार की खोज मे बाहर जाता है और लौट कर फिर वहीं आ जाता है। बात और पहाडी दर्रे के आस-पास रहने वाले गारो सूर्य और चन्द्रमा की पूजा भी करते हैं। इनके धार्मिक कृत्यो मे बैल, बकरी, सुअर, मुर्गे, कुत्ते इत्यादि का बलिदान किया जाना आवश्यक समझा जाता है। अन्य आदिम जातियो की भाँति इनमे अनेक अन्धविश्वास भी प्रचलित हैं। ये भूत-प्रेत, पिशाच और जादूगरनी का अस्तित्व मानते हैं। इनकी धारणाएँ ये है कि कुछ व्यक्तियो की आत्माएँ उनके शरीर से बाहर निकल कर अपनी इच्छानुसार बाघ तथा अन्य जानवरो का रूप धारण कर लेती हैं। हिन्दुओ और ईसाई पादरियो का भी इन पर कम प्रभाव नही पडा है।

रीति-रिवाज तथा सांस्कृतिक विशेषताओ मे गारो असम की जनजातियो मे नागा से अधिक मिलते-जुलते हैं। अगामी और रोमा नागाओ की तरह गारो मे यह विश्वास प्रचलित है कि कुछ व्यक्ति अपने को बाघ के रूप में परिवर्तित कर सके हैं। ऐसे लोगो को बाघ-मानव की सज्ञा दी जाती है। यदि कोई व्यक्ति बाघ द्वारा मार डाला जाता है, तो 'ल्होटा' और 'अग्री' नागाओ के परिवार को अनेक प्रकार के सामाजिक निषेधो को मानना पडता है। गारो में भी थोडी-बहुत यह प्रथा प्रचलित है। फिर ल्होटा और अग्रो नागाओ की तरह गारो समाज में भी कितने ही निषेधो को, जिन्हे वे 'मारंग' कहते हैं, मानना पडता है। उदाहरण के लिए सन्तान पैदा होने के दिन खेत के पास जाना गारो मे निषेध या मारंग समझा जाता है। पुनः दोनो, नागा और गारो, बाघ के दाँतो से पागल होने पर शपथ लेते हैं। 'सीप' का व्यवहार दोनो जातियो के सदस्य बहुतायत मे करते हैं। दोनो के पर्वो मे नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दोनो नर-मुण्ड का शिकार करने वाली जातियाँ हैं परन्तु गारो में यह प्रथा अधिक प्रचलित नही है।

2. खासी (Khasi)

मेघालय की जयन्तिया और खासी की पहाडियाँ, जो 25 और 26 उत्तर अक्षांश तथा 90 47 और 92 57 पूर्व देशान्तर रेखाओ मे है, खासी' जनजाति का निवास स्थान है। 1961 की जनगणना के अनुसार इस जनजाति की कुल आबादी 3,56,208 है। इन पहाडी इलाको के अलावा खासी निकटवर्ती मैदानो

मे भी आ बसे हैं। विलियम हण्टर के अनुसार मदानी खासी असम के कछार और डारग तथा बगला देश के सिलहट जिले की समतल भूमि मे पाए जाते है।

खासी भी गारो की तरह मगोल प्रजाति से विशेष प्रभावित हैं। इनकी त्वचा का रग पीलापन लिए होता है। स्थानीय तौर पर रग म कुछ विभेद मालूम पडता है। उदाहरणार्थ चेरापूंजी के खासी विशेष गोरे तथा जयन्तिया के खासी विशेष काले होते हैं। ज्यो ज्यो इनके स्थान की ऊँचाई बढती जाती है, इनकी त्वचा का रग भी हल्का पडता जाता है। इनका कद छोटा होता है और शरीर की बनावट गठन्ी होती है। नाक चपटी और छोटी होती है। परन्तु नाक के सूराख बडे होते हैं। ललाट ऊँचा और चौडा होता है। इनके सिर लगभग चौडे होते हैं और कर्नल हेयर के अनुसार इनका कपालांक औसत 77 9 है। आँखें मध्यम आकार की होती हैं। आँखो की परत अधिक स्पष्ट रहती है और उनका आकार तिरछा होता है। मुँह बडा होता है और होठ थोडा सा मोटा होता है। गाल की हड्डियाँ उभरी होती है। खासी औरतें और बच्चे देखने मे बडे खूबसूरत होते हैं। वे हमेशा प्रसन्न, हँसमुख और स्वस्थ दीखते हं परन्तु क्रोधित होने पर वे बडे भयकर हो जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से खासी का अध्ययन बडा दिलचस्प है। खासी भाषा का अध्ययन कितने ही विद्वानो ने किया है, जिनमे ग्रियर्सन, जे आर लोगन और अस्टकुन, फादर डब्ल्यू. स्मीड्ट तथा मेजर गाडन के नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि खासी भाषा तिब्बती बर्मी परिवार की भाषा से भिन्न है। यह भी स्पष्ट है कि द्रविड परिवार की भाषा से इसका कोई सम्बन्ध नही है। ग्रियर्सन, स्मीड्ट और गार्डन के अनुसार यह आस्ट्रो एशियाटिक परिवार की भाषाओं का कुछ विशेष अग है। इसे मान खमेर परिवार की सज्ञा दी जाती है। मुण्डा और खासी भाषा मे बहुत समानता दिखलाई गई है। फादर स्मीड्ट ने इस भाषा समूह को मान-खमेर-मलक्का मुण्डा-निकोबार-खासी, अथवा आस्ट्रोएशियाटिक परिवार की सज्ञा दी है।

मानवशास्त्रियो का मत है कि खासी मेघालय के मूल निवासी नही हैं। वे कहाँ से, कैसे और कब आए, इनके बारे मे बहुत से मत प्रचलित हैं। रेवरेण्ड रोबट ने 'इट्रोडक्शन टू द खासी ग्रामर' मे खासी का राजनीतिक सम्बन्ध बर्मी लोगो से स्थापित करते हुए प्रमाणित करने की कोशिश की है कि वे बर्मा से आए हैं। एक मत है कि वे उत्तरी हिस्से से इस क्षेत्र मे आए हैं। फादर स्मीड्ट ने भाषा के पहलू से खासी का सम्बन्ध मुण्डा, हो इत्यादि से दर्शाते हुए उनकी उत्पत्ति की जाँच करने की चेष्टा की है। मिस्टर सेंडवेल का भी यह मत है कि खासी बर्मा से पटकोई पर्वत-श्रेणी होते हुए यहाँ आए।

खासी प्रधानत कृषि जनजाति है। कृषि प्रणाली तो विशेषतया 'झूम' ही है। जयन्तिया के दक्षिणी और पूर्वी हिस्सों मे झूम प्रणाली अलावा अन्य तरह की कृषि प्रणाली अधिक प्रचलित नहीं है। झूम के अलावा हाली अथवा पानी

रोक कर धान पैदा करने की प्रणाली प्रचलित है। खाद के उपयोग से वे परिचित हैं और खेत का उत्पादन बढ़ाने के लिए इसका उपयोग करते हैं। इनके कृषि-सम्बन्धी औजार भी साधारण ही होते हैं। वे हल का उपयोग करते हैं परन्तु हंसुए का उपयोग फसल की कटनी के लिए करना निषिद्ध है। मिकिर में भी यह प्रथा प्रचलित है। वे कटनी की जगह बालियों को हाथ से ही तोड़ते हैं। धान के अलावा वे आलू, सनरे, पान और सुपारी भी पैदा करते हैं। वे सूती और रेशमी कपड़े बुनने का काम करते हैं। कुछ लोग शराब बनाने में लगे हैं। शिकार करना, मछली मारना उनका अन्य गौण पेशा है। शिकार करने में साधारणतया तीर-कमान का उपयोग होता है। चिड़ियों को फँसाने में भी वे प्रवीण होते हैं। साधारणतया जलाशयों के कुछ भागों को घेरकर विशेष पौधों द्वारा पानी विषाक्त कर देते हैं, फिर मछली पकड़ते हैं। इसमें वे दक्ष हैं।

खासी का प्रमुख आहार चावल और सूखी मछलियाँ हैं। चावल न मिलने पर वे ज्वार का उपयोग करते हैं। खासी लगभग सभी जंगली जानवरों का माँस खाते हैं। कुत्ता पवित्र जानवर समझा जाता है और नागा, गारो तथा कुकी के प्रतिकूल वे इसका माँस नहीं खाते हैं। दूध, दही और मक्खन से भी खासी को परहेज है। चेरा श्याम परिवार के सदस्य सूखी मछली भी नहीं खाते। दरबार कबीले के सदस्यों के लिए, सूअर का माँस भी निषिद्ध है। शराब इनका प्रमुख पेय है। शराब चावल या ज्वार से बनाते हैं। इन अनाजों में उस्लाचौंग नामक पौधे की जड़ मिलाकर वे दो तरह की शराब बनाते हैं, जिन्हें वे खा-इद हीयर और खा-इद-उम कहते हैं। खा इद-हीयर विशेष पुष्टिकर और नशीली होती है। खा-इद-उम प्रत्येक उत्सव और पर्व के अवसर पर उपयोग में आती है। अब उनमें देशी शराब का प्रचलन बहुत बढ़ गया है।

खासी समाज में कितनी ही तरह की पोशाकें प्रचलित हैं। वे विशेषत रंगीन पोशाक पसन्द करते हैं। साधारणतया खासी पुरुष धोती पहनते हैं। यह खासी संस्कृति की विशेषता है। कमर में लंगोटी लटकती रहती है। परन्तु अब मिशनरियों के प्रभाव से उनकी पोशाकों में भी काफी परिवर्तन हो गया है। सफेद पगड़ी अब केवल बूढ़े लोग पहनते हैं। उसकी जगह अब दोपलिया टोपी लेती जा रही है। महिलाओं की पोशाकें बहुत आकर्षक होती हैं। रंग बिरंगे कपड़ों से वे पूरे शरीर को विभूषित किए रहती हैं। शरीर के अंग-अंग इतने कपड़ों से ढँके रहते हैं कि उनके आकार का भी पता नहीं लगता। 'काजम्पीयन' नामक पोशाक वे पूरे शरीर में लपेट कर कमर में बाँधे रहती हैं, इसका एक हिस्सा घुटने तक लटकता रहता है। भूरे रंग के रेशमी कपड़े का एक टुकड़ा जिसे 'का-जैनबेसेन' कहते हैं, पहने रहती हैं। 'का-जैनबेसेन' के ऊपर की 'का-जैनकुप' नामक पोशाक होती है। यह गले पर आगे और पीछे लटकती रहती है। सिर पर कपड़े का दूसरा टुकड़ा रहता है जिसे 'का-टैप-मोह्-सनीह' कहते हैं। पोशाक के साथ-

साथ खासी महिलाओ को आभूषणो से भी बहुत प्रेम होता है। सोने और मोती के बने कितने ही आभूषण वे पहनती है। मूंगे की माला उन्हें अधिक प्रिय है। कानो मे बालियाँ स्त्री और पुरुष दोनो पहनते हैं। परन्तु उनकी सख्या गारो की तरह बहुत नही होती है।

खासी स्थायी गाँवो मे निवास करते हैं। इनके गाँव नागा और कूकी की तरह पहाड की चोटियो पर नही रहते। वे चोटियो के नीचे ही विशषत ऐसी जगह मे रहते हैं जहाँ आँधियो से रक्षा हो सके। उनके मकान साधारणतया साफ होते हैं। वे जगल की लकडियो और घास फूस की बनी बडी झोपडी-सी लगते हैं। दीवार कहीं-कही पत्थर की भी होती है। चेरापूंजी के मकान लम्बे होते हैं। पुरोहितो के मकान बहुत बडे होते हैं। मकान-निर्माण-कला मे बहुत परिवर्तन होता जा रहा है। मकान के निर्माण मे लोहा, शीशा, सीमेट इत्यादि का उपयोग होने लगा है।

खासी अब खटिया, स्टूल, कुर्सी इत्यादि का भी उपयोग करते हैं। ढोल, बाँसुरी, गिटार इत्यादि उनके प्रिय वाद्य यन्त्र हैं। तीर-कमान के साथ-साथ तलवार, भाला, कवच इत्यादि इनके प्रमुख हथियार हैं। ये लोहे के बने होते हैं। लोहे को गलाने और उससे हथियार बनाने की कला इन्हें ज्ञात है। रेशम के कीडे पालने, उनसे रेशम निकालने और उनके कपडे बुनने की कला इन्हे बहुत पहले से ही ज्ञात है। रेशम के अलावा सूती कपडे भी ये बनाते हैं। मिट्टी के बर्तन बनाने का उद्योग विशेषतया जयन्तिया पहाड के लारनाई स्थान मे केन्द्रित है।

खासी जनजाति का सामाजिक सगठन मातृसत्तात्मक सिद्धान्त पर आधारित है। खासी कई गोत्रो मे विभक्त हैं। प्रत्येक की उत्पत्ति किसी महिला पूर्वज के नाम के साथ सम्बन्ध रखती है। खासी ऐसी महिला की पूजा करते हैं। गोत्र को खासी भाषा मे शिकुर और उसके सदस्यो को का-लाकेई की सज्ञा दी गई है। खासी अपने शिकुर से बाहर शादी करते हैं। इसके अन्दर शादी करना खासी समाज मे बडा अपराध समझा जाता है। कुछ खासी शिकुरो के नाम जानवरो तथा वृक्षो के नाम पर भी हैं उदाहरणार्थ, भील, थाम, डीगरट इत्यादि। परन्तु अधिकांश जनजातियो की तरह ये खासी के इष्टदेव प्रतीक नही कहे जा सकते। इसका कारण यह है कि खासी इनके मारने, काटने, खाने या उपयोग मे कोई परहेज नही करते।

प्रत्येक शिकुर परिवार मे विभक्त होता है। परिवार ही खासी समाज की सबसे छोटी इकाई है। पुत्रियाँ, उसकी माँ, तथा उसकी माँ, सभी एक परिवार और मकान मे रहते हैं। शादी के पश्चात् पति ही अपनी पत्नी के घर मे रहने के लिए जाता है। परिवार की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी गारो जनजाति की तरह पुत्री ही होती है। परन्तु गारो जनजाति मे माता-पिता की इच्छानुसार कोई भी पुत्री उत्तराधिकारिणी होती है जिसे 'का-खादुद' कहा जाता है। परिवार

मे धार्मिक उत्सवो मे भी सबसे छोटी पुत्री का विशिष्ट स्थान है। परन्तु कितने ही अवसरो पर उसे अपनी बडी बहनो की सहमति लेनी पडती है। उदाहरणार्थ, बिना अपनी बहनो की राय लिए सम्पत्ति का कोई अश बेचने का अधिकार उसे नही है। किसी निषेध का उल्लघन करने एव अपना धर्म बदलने पर उसे उत्तराधिकारिणी के पद से वचित कर दिया जाता है।

खासी समाज मे मामा का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। भाई अपनी बहन के घर का मालिक समझा जा सकता है, प्रत्यक अवसर पर वह हस्तक्षेप कर सकता है और अपनी राय दे सकता है, अपनी बहन के बच्चो के जन्म, विवाह अथवा मृत्यु के समय मामा की उपस्थिति आवश्यक है। उसे इन अवसरो पर कुछ आवश्यक अनुष्ठान भी पूरा करना पडता है। फिर भी पति का अपना अलग स्थान है। एक दो बच्चे पैदा होने पर वह अलग मकान बनाते है। इस मकान की मालकिन तो उसकी पत्नी होती है परन्तु उस ही उसकी पूरी देख रेख करनी पडती है। गार्डन ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि पिता को ही साधारणत बच्चा एव घर की देखरेख करनी पडती है। मामा तो उसी समय आता है जब उसकी बहन तथा सन्तान के जीवन मरण का प्रश्न रहता है। इस तरह यद्यपि भाई माँ के परिवार का उत्तराधिकारी नही होता है और उसकी पत्नी के साथ रहने के लिए दूसरी जगह चला जाता है, फिर भी इस रीति या परम्परा के अनुसार वह अपनी माँ के परिवार यानी बहन और उसकी सन्तान की देख रेख करता रहता है। जहाँ तक परिवार का प्रश्न है, वह विवाह के बाद पत्नी के परिवार म रहता ही है, और उसकी भी देख रेख करता ही है।

इन तरह से विचार किया जाय तो प्रत्येक खासी व्यक्ति का उत्तरदायित्व और लगाव दोनो परिवारो से हमेशा बना रहता है। विवाह के बाद सम्बन्ध की रूपरेखा मे परिवर्तन तो होता ही है, परन्तु उनके सामाजिक सगठन मे गडबडी नहीं होती। कहना नही होगा कि खासी समाज की मूल इकाई वह गृह है जहाँ बच्चे होते हैं, जहाँ औरतें आजीवन रहती हैं। मरने के बाद पुरुष की हड्डियाँ लाकर इसी मत गृह मे गाड दी जाती हैं, चाहे शादी के बाद वे कही भी रहन के लिए चल जाएँ। डॉ॰ चट्टोपाध्याय का भी यही मत है कि खासी समाज मे कुछ ऐसी प्रथाएँ हैं, जो पितृस्थानीय समाज म नही पाई जाती हैं। औरतो का कुछ अधिक अधिकार प्राप्त है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि समाज मे औरतो का एकाधिकार है। वस्तुत पिता ही परिवार का मुखिया होता है।

खासी मे प्रधानतया एक-पत्नी प्रथा प्रचलित है। सन्तान रहने पर विधवा-विवाह भी करना मना है। तलाक की प्रथा प्रचलित है परन्तु इसके लिए दोनो पक्षो की स्वीकृति आवश्यक है। गर्भ की स्थिति मे स्त्री को तलाक नही दिया जा सकता। गोद लेने की प्रथा भी खासी के मध्य पाई जाती है। यदि किसी दम्पति को पुत्री नहीं है तो वे किसी परिवार की लडकी को गोद ले सकते हैं। गोद लेन पर लडकी

उस परिवार की उत्तराधिकारिणी होती है। माँ के मरने के बाद वही दाह क्रिया करती और अन्य धार्मिक विधियो को पूरा करती है।

खासी क्षेत्रो म ईसाई मिशनरियो के प्रचार के फलस्वरूप जनजातियो के धार्मिक विश्वास मे बहुत परिवतन हो गए हैं। पढे लिखे खासी अपने धार्मिक रीति-रिवाज का स्वय मखौल उडाते हैं। फिर भी उनके मूल धार्मिक विश्वास अभी बड पैमाने पर प्रचलित हैं। गाडन न खासी को भूत-प्रेतवादी बताया है। निश्चिय ही य शुभ और अशुभ भूत प्रेत की पूजा किया करते हैं। खासी कितने ही देवी देवताओ की पूजा करते है जिनमे यूलेई मुलुक, यूलेई उमटांग, यूलेई स्याह, यू रनगजेव इत्यादि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यूलई-मुलुक की पूजा साल मे एक बार होती है। इस अवसर पर बकरे और मुर्गे की बलि दी जाती है। यूलइ उमटांग की भी पूजा इसी तरह एक बार होती है। उनका विश्वास है कि पानी के देवता की आराधना स स्वच्छ जल हमेशा मिलता रहगा। अधिक सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए धन देवता और ग्राम की उन्नति के लिए ग्राम-देवता की पूजा की जाती है।

इनके अलावा छोटे-छोटे देवताओ अथवा अशुभ प्रेतो का भी वर्णन मिलता है। इन देवताओ के नाम बीमारियो के नाम पर रखे गए है, जैसे कारीह मलरिया के भूत का खलाम, हैजे के भूत का डूबा, आदि। खासी धर्म का मूलत इन्ही बीमारियो का निवारण करने के लिए देवता विशेष की पूजा एव बलि के साथ प्रारम्भ हुआ है। गाडन ने भी कितने ही उदाहरण देते हुए इस मत का समर्थन किया है। जेनकीस न लिखा है कि वे लोग चेचक को दवता के रूप मे देखत हैं और उसका स्वागत करते हैं।

इनके अतिरिक्त खासी प्रकृति पूजक हैं। कितनी ही नदियाँ, पहाड इनके देवता हैं, जिनकी पूजा ये किया करते हैं। खासी अपने पूवजो की भी आराधना करते हैं। प्रसाद के रूप मे विभिन्न तरह के खाद्य पदार्थ साल मे एक दो बार पूर्वजो के नाम से चढाए जाते हैं। उनका विश्वास है कि इस तरह करने से पूर्वज विपत्ति पडन पर उनकी मदद करेंगे। खासी विशेषत जातीय माँ की आराधना करना नही भूलते हैं। जातीय माँ की सम्पत्ति लेने के लिए तथा अन्य अवसरो पर भी अण्डे अवश्य फोडे जाते हैं।

खासी युद्ध देवता की भी आराधना करते हैं। यही देवता सफल योद्धाओ का शत्रुओ का सिर हस्तगत करवाते हैं। ये इस देवता के नाम पर मुर्गे की बलि देते हैं। बलि देने के पूर्व योद्धा वेदी के चारो ओर, जिस पर मुर्गे के पख तलवार, कवच, तीर कमान, पान और फूल रखे जाते हैं नाचते हैं। बलि देन के पश्चात् तलवार की नोक पर मुर्गे के सिर को रख कर तीन बार जोर-जोर स चिल्लाते हैं। नर-बलि की प्रथा भी खासी के बीच प्रचलित थी। उनका विश्वास था कि नर बलि से यू थेलम नामक भयकर साँप शान्त रह सकता है और लाभ पहुँचा सकता है परन्तु अब नर बलि समाप्त सी हो गई है।

खासी शव को जलाते हैं। शव को जलाने के पूर्व अण्डा अर्पित किया जाता है। मुर्गी की बलि दी जाती है। शव को जलाने के बाद राख और हड्डियो को वे अपने गोत्र के मावशीग या कब्रिस्तान मे लाकर गाड़ते हैं। ये लोग अपने मृतको की अस्थियो पर स्मारक शिलाएँ रखते हैं। पुराने समय मे ये शिलाएँ सैकडो मन वजन की होती थी। आश्चर्य की बात है कि ये लोग इतने बडे पत्थर कैसे उठाकर लाते थे। आज भी यह प्रथा खासी जाति के बीच प्रचलित है। परन्तु अब छोटे-छोटे पत्थरो का उपयोग होने लगा है।

(3) गोंड

१ मध्य प्रदेश की प्रमुख जनजाति गोंड है जो अधिकांशतया बस्तर जिले मे निवास करती है। गोंड कहने से किसी एक जनजाति का बोध नही होता है। वस्तुत यह नाम समीपवर्ती हिन्दुओ तथा सरकारी अधिकारियो द्वारा उन सभी जनजातियो के लिए उपयोग मे लाया जाता है जो 'कोइतार' नामक प्रजाति के हैं। वस्तुत गोंड का मूल नाम 'कोइतार' ही है जिससे कितनी ही जनजातियो का बोध होता है जैसे—मुरिया, मारिया, भन्ना, प्रजा आदि। इसके अलावा कुछ हिन्दुओ द्वारा प्रभावित जनजातियाँ भी हैं जो छत्तीसगढ से आकर यहाँ बसी है जैसे राजगोंड, राजकोरक, राजमुरिया, नायक गोंड। इन्हे भी गोंड कहा जाता है। इन सभी गोंड जनजातियो मे मुरिया और मारिया विशेष उल्लेखनीय हैं जो मुख्यतया मध्य प्रदेश के बस्तर जिले के पहाडी तथा समतल क्षेत्रो मे निवास करती हैं। प्रस्तुत प्रसग मे, विशेषतया मुरिया गोंड की सांस्कृतिक विशेषताओ का उल्लेख किया जा रहा है।

मारिया गोंड की आबादी म से बस्तर मे अधिकांशतया मारिया पहाडो पर रहते हैं और बाकी मारिया मैदानो मे निवास करते है। मारिया, लगभग 150 पहाडी गाँवो मे रहते है। मैदान मे रहने वाले मारिया, जिनको 'बाइसन', 'हॉर्न मारिया' या 'मैदानी मारिया' कहा जाता है, बडे-बडे गाँवो मे रहते हैं। मैदानी मारिया की बस्तियाँ अधिकांशतया नदी की घाटियो और समतल भूमि पर अवस्थित है जहाँ वे हल द्वारा खेती-बारी सरलतापूर्वक कर सकते हैं। मारिया की तरह मध्य प्रदेश के मुरिया गोंड भी भौगोलिक दृष्टिकोण से पहाड और मैदान दोनो तरह के क्षेत्रो म रहते हैं।

इस तरह भौगोलिक दृष्टि से मध्य प्रदेश के गोंड को दो भौगोलिक श्रेणियो में बाँट सकते हैं—पहाडी और मैदानी गोंड। इन दोनो के आर्थिक, व्यावसायिक और सांस्कृतिक विशेषताओं में भी काफी अन्तर आ गया है। जहाँ पहाड पर रहने वाले गोंड जगल जलाकर खेती करने की प्रणाली पर आश्रित हैं वहीं मैदान में निवास करने वाले गोंड हल द्वारा खेती करके अपनी जीविका का निर्वाह करते है। अबूझमार पहाड के मोरिया गोंड जगल जलाकर खेती करने की प्रणाली के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। वे इस प्रणाली को अपनी 'हवली' भाषा में पेंडा कहते हैं।

मध्य प्रदेश के दूसरे क्षेत्रो में जगल जलाकर खेती करने की प्रणाली को दाही, बेबर, पोरका इत्यादि भी कहा जाता है। भारत के अन्य पहाडी क्षेत्रो में भी इस तरह की खेती प्रचलित है जिसे असम में झूम और बिहार के सथाल परगना में कुरुवा या खालू इत्यादि कहा जाता है। सक्षेप में गोड की पेण्डा प्रणाली की खेती के तरीके इस प्रकार हैं—

जनवरी और फरवरी महीनो मे वे जगल को काट कर सूखने के लिए छोड देते हैं। जब लकडियाँ और पत्ते सूख जाते हैं तब मई माह मे वे उन्हे जला डालते है। जब वे राख के रूप मे परिणत हो जाते हैं तब राख को पटका लाठी नामक औजार से वे फैला देते हैं। जब प्रथम बार मानसूनी वर्षा होती है तो वे जमीन मे लकडी से छेदकर बीज रोपण करते हैं। जब वे एक ही स्थान मे दो या तीन बार खेती कर चुकते हैं तो उस स्थान को छोडकर जंगल के दूसरे हिस्से को काटते हैं। इस क्षेत्र मे भी वे इसी तरह जगल जलाकर खेती करते हैं। इस पेण्डा प्रणाली के द्वारा जगलो का दिनो-दिन ह्रास होता जा रहा है और पहाडिया गोड इस खेती-प्रणाली के कारण आलसी से हो गए हैं। इस तरह की पेण्डा-प्रणाली द्वारा खेती करने के अलावा पहाडिया गोड जगलो से खाद्य सग्रह करके अपनी जीविका निर्वाह करते हैं। जगलो मे बहुत तरह के खाद्य-पदार्थ कन्दमूल, फल फूल मिलते हैं। ऐसे पदार्थो मे महुआ के फूल तथा तेन्दू, जामुन और जगली आम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका सग्रह प्राय औरतें करती हैं।

पहाडी मारिया शिकार करने मे भी प्रवीण होते हैं और गर्मी मे वे शिकार करने निकलते हैं। उन शिकारो मे अधिकांशतया सिंह जगली भैंस, हिरण इत्यादि भी मारा करते हैं। जंगली भैंस, बाईसन और हिरण के मांस भी वे बडी रुचि से खाते हैं। उनके शिकार के प्रमुख औजार हैं—तीर, धनुष, लाठी, गंडासा और कुल्हाडी। वे मछली भी मारते है और मछली मारने के कितने ही तरीको से परिचित हैं।

पहाडी गोड के मकान अधिकांशतया लकडी, बाँस और घास के बने होते हैं जो मुश्किल से पाँच साल तक रहने के लायक होते हैं। मैदानो मे रहने वाले गोंड के मकान इनकी अपेक्षा मजबूत, टिकाऊ तथा मिट्टी के बने होते हैं। कपडे के नाम पर पहाडी गोड नर-नारियाँ एक छोटा टुकडा कमर मे लटकाए रहती हैं। उनकी औरतो को आभूषण से बहुत प्रेम है और उनके शरीर काँसे के आभूषण, बडी-बडी अगूठियो, हार आदि से भरे रहते हैं। गोदना गुदाने मे भी उनकी अभिरुचि है और उनका पूरा शरीर गोदने से सुशोभित रहता है।

गोड की प्रत्येक जनजाति अनेक गोत्रो मे बँटी है। इन गोत्रो के नाम किसी वृक्ष, पक्षी या पशु के नाम पर होते हैं। जिस जानवर या वृक्ष के नाम पर उनके गोत्र का नाम होना है, उस जानवर या वृक्ष को वे कभी हानि नहीं पहुँचाते और न उसे खाते हैं। अपने गोत्र की लडकी के साथ विवाह करना उनके समाज म नितान्त वर्जित है।

गोंड की, विशेषकर मुरिया गोंड की सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषता घोतुल नामक संस्था है। घोतुल वह सामूहिक घर या शयनागार है जहाँ मुरिया गाँव की अविवाहित युवक युवतियाँ सोती हैं और अनेक सामाजिक कामों में हिस्सा बँटाती हैं। घोतुल वस्तुतः मुरिया जनजाति के परम्परागत स्कूल हैं। यहाँ युवक और युवतियाँ केवल सोती ही नहीं, बल्कि सामाजिक रीति-रिवाज, सांस्कृतिक नृत्य-गान एवं समाज के अन्य मूल्यों की शिक्षा भी पाती हैं। घोतुल मुरिया की एक सुव्यवस्थित संस्था है और गाँव के सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य का स्थान भी है।

प्रत्येक घोतुल का एक सरदार होता है जिसे 'सलाउ' कहते हैं। घोतुल की युवक युवतियाँ आयु के दृष्टिकोण से लगभग पाँच श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं। घोतुल के सदस्यों की औसत आयु साधारणतया 15 वर्ष की होती है। पहाड़ी मारिया के मध्य केवल अविवाहित युवकों के लिए घोतुल की प्रथा है। मैदानी मारिया कोया, प्रजा इत्यादि विकसित गोंड जनजातियों में घोतुल संस्था का एकदम अभाव है।

प्रत्येक मारिया गाँव का शासन एक व्यक्ति-विशेष के हाथों में रहता है जिसे 'गैता' कहते हैं। गैता गाँव के पंचायत की मदद से सभी काम करता है। गैता ही गाँव का धार्मिक गुरु होता है और पूजा पाठ, बलिदान इत्यादि करवाता है।

गोंड साधारणतया पृथ्वी, ग्राम माता और कविला नामक तीन देव-देवियों की पूजा करते हैं और उनके नाम पर बलिदान भी करते हैं। वे अपने पूर्वजों के नाम पर भी बलि देते हैं। मृत्यु के बाद इनके बीच गाड़ने और जलाने, दोनों की प्रथाएँ हैं। साधारणतया गाँव के मुख्य व्यक्तियों तथा उनकी पत्नियों की लाश जला दी जाती है पर साधारण लोगों के मरने पर उन्हें गाड़ दिया जाता है।

जलाने की प्रथा हिन्दुओं से मिलती-जुलती है। मृतात्मा के नाम पर स्मारक पत्थर रखने की प्रथा इनमें प्रचलित है। इस तरह के पत्थर को अंग्रेजी में 'मेनहीर' कहा जाता है। मृत्यु के एक मास बाद यह स्थापित किया जाता है। उस अवसर पर गाय या सुअर की बलि दी जाती है।

गोंड संस्कृति पर हिन्दू धर्म का पूरा प्रभाव पड़ा है। जो गोंड मैदान में रहते हैं, उन पर आधुनिकता के प्रभाव के कारण बहुत अधिक परिवर्तन हो चुके हैं। पहाड़ी इलाके की गोंड जनजाति पर भी आधुनिकता का प्रभाव पड़ रहा है और वह दिन दूर नहीं जब गोंड प्रगति के पथ पर पूर्ण रूप से अग्रसर होते दिखाई देंगे।

(4) भील (Bhil)

भील का स्थान भारत की अनुसूचित जनजातियों में तीसरा है। जनसंख्या के अनुसार भीलों का राजस्थान में अपना महत्त्व है। ये गुजरात मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में पाए जाते हैं।

राजस्थान के भील आदिवासी राज्य की अन्य जनजातियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। ये अधिकांशतया राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों के किनारे पाए जाते हैं।

उदयपुर, सिरोही, डूँगरपुर और बाँसवाडा जिलो की सीमाएँ, गुजरात के साबरकाँठा, पचमहल और बनासकाँठा जिलो से मिलती हैं। राज्य के ये ही जिले भील जनजाति के लोगो के निवास केन्द्र हैं। राज्य के अनुसूचित क्षेत्रो मे से डूँगरपुर, बाँसवाडा तथा चितौड जिले की प्रतापगढ तहसील मे से प्रधानत दो जिलो (डूँगरपुर, बाँसवाडा) मे भील जनजाति निवास करती है। इस तरह उदयपुर जिले में भीलो की जनसख्या 2,29,661 है। राज्य भर में उनकी पूरी जनसख्या 9 06,705 है।

सभी राज्यो के भील अपने को एक ही भील जाति के अग मानते है। इन्होने विश्वसनीय सैनिको के रूप मे राजस्थान के राजाओ की ओर से मुगल बादशाहो से लडाइयाँ लडी हैं। आरम्भ मे भील मुख्य रूप मे 'शिफ्टिग कल्टिवेशन' करते थे। किन्तु अब भीलो की मुख्य आजीविका कृषि है। भीलो की प्रधान बस्तियाँ राजस्थान के दक्षिणी भाग मे मामेर, मगरा आदि स्थानो मे केन्द्रित हैं। सारा प्रदेश जगलो से घिरा है अत यहाँ की भूमि उपजाऊ नही है। स्वभावतया भील अलग-अलग पहाडी टेकरियो पर झोपडियाँ बनाकर रहते हैं। अलग-अलग झोपडियो को मिलाकर 'फला' बनता है और फला' सम्मिलित होकर गाँव बनता है जिसे 'पाल' कहा जाता है। जमीन के उपजाऊ न होने के कारण, मवेशियो की कमी, सिंचाई के अभाव, खाद की कमी इत्यादि बहुत-से कारणो से भील की खेती की पैदावार बहुत कम है और उनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय है।

भील समुदाय का महत्त्वपूर्ण अग ग्राम होता है। नियन्त्रण और सगठन की दृष्टि से इनके इस अग का सर्वाधिक महत्त्व है। वे कई प्रकार के गाँवो मे निवास करते हैं, जैसे बहुजातीय ग्राम, सघन भील-ग्राम और बिखरा ग्राम।

ये अनेक बहिर्विवाही कुलो मे बँटे हुए हैं जिन्हे ये जात या अखड कहते हैं। एक ही कुल मे विवाह वर्जित है। यदि कोई दूसरी जाति मे विवाह करता है तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसे अपनी जाति मे तभी मिलाया जाता है तब वह जाति पचायत को जुर्माना दे देता है। विवाह बहुत-से रीति-रिवाजो द्वारा सम्पन्न होता है। बधु मूल्य चुकाए बिना विवाह सम्भव नही है। भील बाला का विवाह परिवार को आर्थिक लाभ पहुँचाता है। आजकल पति के पिता को वधु-मूल्य देना होता है। इन लोगो के बीच विधवा-विवाह भी प्रचलित है। स्त्री-पुरुष एक दूसरे को तलाक भी दे सकते हैं।

इन लोगो की अपनी जाति-पंचायत होती है जिसमे बडे-बूढो का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

भील समुदाय मे मृतक को केवल जलाया जाता है। मृत्यु से लेकर एक वर्ष तक नित्य मृत व्यक्ति के नाम से खाना दिया जाता है। पर्व-त्यौहारो के अवसर पर भी जितने पकवान बनते हैं, उनमे से थोडा-थोडा निकालकर मृत व्यक्ति के नाम से अलग किया जाता है।

जहाँ तक भील धर्म का प्रश्न है यह उल्लेख्य है, कि इस जाति में अधिकतर भूत-प्रेत की ही पूजा की जाती है। इसके अलावा भील बहुत-से देवी देवताओं की भी पूजा करते हैं। बहुत-से देवी-देवता पहाड़, जगल, पानी, इत्यादि से सम्बन्धित हैं। उनके त्योहार में 'जतरा' मुख्य है।

यद्यपि उनकी आस्था अपने पुरातन धर्म मे है, तथापि बहुत-से धार्मिक आन्दोलनो, जैसे सुरमादास का आन्दोलन, गोविन्द गिरि का आन्दोलन, इत्यादि का उनके जीवन के धार्मिक और अन्य पहलुओ पर प्रभाव पड रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कारणो से भी उनके जीवन मे बहुत से परिवर्तन हुए हैं।

उनका आर्थिक जीवन निम्न स्तर का है तथापि तभी वे मुख्यतया ईमानदार और कर्मठ होते हैं।

(5) टोडा (Toda)

दक्षिण भारत मे टोडा जनजाति है। भारत की जनजातियो मे इसका स्थान आता है। लगभग दस वर्ष पूर्व तक इनकी जनसख्या का ह्रास हो रहा था परन्तु मद्रास सरकार के स्वास्थ्य विभाग द्वारा इस पर विशेष ध्यान दिया गया तथा इस जनजाति को नष्ट होने से बचा लिया गया है। यद्यपि इसकी जनसख्या 1961 के अनुसार लगभग 716 है, फिर भी इन्होने ससार के प्रत्येक मानव-विज्ञानियो का ध्यान आकृष्ट किया है तथा मानव-विज्ञान की प्रत्येक पुस्तक मे इनका उल्लेख मिलता है। ये देखने मे पर्याप्त मजबूत और हट्टे-कट्टे लगते है। बलिदान के बाद ही ये मांस-भक्षण करते हैं। इनकी झोपडियां नीलगिरि के पहाडों पर बनी हैं। इन झोपडियो तथा इनकी बस्तियो मे सबसे आकर्षित करने वाली वस्तु है इनकी पवित्र गोशाला, गोशाला के पुजारी तथा भैसो के प्रति इनके पवित्र कार्य और भावना।

टोडा के मकान विशेष प्रकार के होते हैं। स्थानीय भाषा मे उन्हे आरस कहते हैं जो लम्बे ड्रम की शक्ल के गोलाकार होते हैं। साधारणतया ये लगभग 6 मीटर लम्बे, 3 मीटर ऊँचे और 3 मीटर चौडे होते हैं।

टोडा देखने मे हृष्ट-पुष्ट और लम्बे होते हैं। इनके चमडे का रग सफेद, शरीर की लम्बाई पूरी और नाक सुन्दर होती है। टोडा में भूमध्यसागरीय प्रजाति के तत्त्व वर्तमान हैं।

टोडा बहुपतित्व-विवाह प्रणाली के लिए उल्लेखनीय हैं। परिवार के सभी भाइयो के लिए साधारणतया एक ही पत्नी रहती है।
